वेद-विज्ञान-वीथिका

डॉ दयानन्द भार्गव
आचार्य एवम् अध्यक्ष संस्कृत विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय जोधपुर।

राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर

राजस्थानी ग्रन्थागार
प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता,
सोजती गेट, जोधपुर

प्रथम सस्करण 1996

मूल्य 250 00 रुपये मात्र

लेजर टाईपसेटिंग सूर्या कम्प्यूटर, जोधपुर
मुद्रक लाढा ऑफसेट लि., जोधपुर

VED VIGYAN - VEETHIKA – Dr Dayanand Bhargava
Published by **Rajasthani Granthagar Jodhpur** Rs 250 00

समर्पणम्

आनन्दोत्तरलीकृत-श्रुतिपद-श्रद्धालु वृन्दाब्धिका
विज्ञानाद्भुत सूर्य तीव्र किरण प्रद्योतितान्तस्तनु
स्रष्टुर्मानसजा सुधा रसमय प्राणा स्वतस्सौम्य वाक्
वेदाध्व-श्रम वारि हारि सुभगा कर्पूरचन्द्र प्रभा ॥

कर्पूरचन्द्र की प्रभा श्रुति पद के प्रति श्रद्धालु जन रूपी समुद्र को आनन्द से तरङ्गित करने वाली विज्ञान रूपी अद्भुत सूर्य की प्रखर रश्मियों से आलोकित अन्तःशरीर वाली स्रष्टा के मन से उद्भूत अमृत रसमय प्राणयुक्त सहज सोममयी वाक् वाली तथा वेदमार्ग के श्रमबिन्दुओं को दूर करने वाली होने के कारण रमणीय है।

पर गुण परमाणून् पर्वतीकृत्य योऽय
प्रकटयति तथा यद्दुःखमेति प्रणाशम्।
अभिनव कृतिमेना वेद विज्ञान वीथिं
वितरति नति पूर्वं तस्य पाणौ जनोऽयम् ॥

जो श्री कर्पूरचन्द्र कुलिश दूसरों के परमाणु के समान छोटे से भी गुण को पर्वत के समान इतना बड़ा करके प्रदर्शित करते हैं कि व्यक्ति अपना समस्त दुःख भूल जाता है उन्हीं के कर कमला में यह जन अपनी नूतन कृति वेद *विज्ञान वीथिका* प्रणामपूर्वक अर्पित करता है।

दयानन्द भार्गव

प्राक्कथन

जयनारायणव्यास विश्वविद्यालय जोधपुर के संस्कृत विभाग के आचार्य एवम् अध्यक्ष तथा वैदिक अध्ययन केन्द्र जोधपुर के उपाध्यक्ष डॉ दयानन्द भार्गव की प्रस्तुति कृति को विद्वज्जगत् के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार हर्ष है। डॉ भार्गव वेद विज्ञान पर एक प्रारम्भिक पुस्तिका *वेद विद्या प्रवेशिका* पहले प्रकाशित कर चुके हैं। जो अध्येता इस वेद विज्ञान वीथिका के अध्ययन में कठिनाई अनुभव करें उन्हें पहले वह वेद *विद्या प्रवेशिका* पढनी चाहिये किन्तु विद्वज्जन वेद विद्या प्रवेशिका पढे बिना भी इस ग्रन्थ को सीधा पढें तो उन्हें कोई बाधा नहीं आयगी क्योंकि इस ग्रन्थ में वेद विज्ञान सम्बन्धी मन्तव्यों को क्रमिक रूप में वर्णित किया गया है तथा एतत्सम्बन्धी मूल मान्यताओं को भूमिका के अन्तर्गत स्पष्ट कर दिया गया है।

इस ग्रन्थ का मूल रूप डॉ भार्गव ने तीन वर्ष पूर्व अपने विश्वविद्यालय से एक वर्ष का शैक्षणिक अवकाश प्राप्त करके तैयार किया था। तदनन्तर वे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की वीज़िटिंग प्रोफेसर योजना के अन्तर्गत डॉ हरिसिंह गौड विश्वविद्यालय सागर में एक मास तक व्याख्यान देने के लिये आमन्त्रित किये गये। वहाँ भी उन्हें इस विषय को ही विभिन्न विषयों के विद्वानों के सम्मुख निरन्तर एक मास तक प्रस्तुत करने का अवसर मिला। उन विद्वानों के बीच विचार विमर्श से *ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का स्वरूप और निखरा जिसकी अन्तिम परिणति प्रस्तुत* ग्रन्थ के रूप में हमारे सामने है। इस ग्रन्थ के कुछ अंश राजस्थान के प्रमुख दैनिक पत्र राजस्थान पत्रिका में विज्ञान वार्ता शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हो चुके हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ व्याख्यान तथा लेखों के माध्यम से प्रकाशन से पूर्व ही विद्वानों के बीच चर्चा का विषय बन चुका है। अब ग्रन्थाकार में प्रकाशित हो जाने से यह सामग्री एक स्थान पर सबको सुलभ हो जायगी।

यह ग्रन्थ *वैदिक अध्ययन केन्द्र* द्वारा प्रकाशित हो रहा है। *वैदिक अध्ययन केन्द्र* विभिन्न गोष्ठियों में वेद सम्बन्धी व्याख्यान तथा अखिल भारतीय स्तर पर सम्मेलनों का आयोजन करता

है। ऐसा ही एक अखिल भारतीय सम्मेलन पहले हुआ था जिस अवसर पर डॉ दयानन्द भार्गव ने वेद विद्या प्रवेशिका नामक कृति प्रस्तुत की थी। अब एक दूसर अखिल भारतीय सम्मेलन में उनकी यह दूसरी कृति हमारे सामने आ रही है। यह डा भार्गव की वेद के प्रति गहरी निष्ठा का सूचक है। *वैदिक अध्ययन केन्द्र* को उनकी कृति के प्रकाशन का सौभाग्य मिल रहा है—केन्द्र के अध्यक्ष के नाते मेरे लिये यह गर्व का विषय है। मेरी कामना है कि डॉ भार्गव इसी प्रकार आजीवन वेद की सेवा करते रहें।

वैदिक अध्ययन केन्द्र के सस्थापक अध्यक्ष *राजस्थान पत्रिका* के यशस्वी सस्थापक सम्पादक श्री कर्पूरचन्द्र जी कुलिश हं। डॉ भार्गव ने प्रस्तुत ग्रन्थ उन्हें ही समर्पित किया है। वे केन्द्र के हम सब सदस्यों का जिस प्रकार कार्य करने के लिये प्रेरणा देत रहते हैं एतदर्थ हम उनके आभारी हैं। ग्रन्थ के लेखन तथा विशेषकर प्रूफ सशोधन में सर्वश्री श्रीराम दवे डा नरेन्द्र अवस्थी *डॉ सत्यप्रकाश दुबे डा मगलाराम डॉ सरोज कौशल तथा श्री रामनारायण शास्त्री प्रभृति* केन्द्र परिवार के सदस्यों ने सहयोग दिया है अत इन सबके प्रति हम कृतज्ञ हैं। श्री सूर्य प्रकाश भार्गव ने इस ग्रन्थ का अत्यन्त शीघ्रता एव सुरुचिपूर्ण ढग से कम्प्यूटराइज्ड टाईपसैटिंग किया एतदर्थ हम उनके भी आभारी हैं। श्रुति माता इन सबको निरन्तर अपनी सेवा का अवसर प्रदान करती रहे—यही प्रार्थना है।

जहाँ तक इस ग्रन्थ की विषयवस्तु का सम्बन्ध है उसके विषय में मुझे कुछ कहने की आवश्यकता इसलिये नहीं रह गयी कि स्वय लेखक ने हो ३१ पृष्ठों की विस्तृत भूमिका में ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में बहुत कुछ कह दिया है। मैं तो केवल इतना कहना चाहता हूँ कि इस ग्रन्थ में अनेक विषय इदम्प्रथमतया पाठकों के सम्मुख आ रहे हैं। अत वे इस ग्रन्थ को सहानुभूतिपूर्वक पढ़ेंगे तो अवश्य ही उन्हें अनेक उपयोगी तथ्य प्राप्त होंगे। *वैदिक अध्ययन केन्द्र* निकट भविष्य में अन्य भी बहुत से प्रकाशन करने वाला है। प्रस्तुत ग्रन्थ उन भावी प्रकाशनों के लिये एक पृष्ठभूमि तैयार करने में सहायक होगा—ऐसी आशा है।

प्रोफेसर अचलदास बोहरा
अध्यक्ष
वैदिक अध्ययन केन्द्र जोधपुर

विषयानुक्रमणी

थम अध्याय जीवाधिकरण

द्वितीय अध्याय ब्रह्माधिकरण

卐

भूमिका

विषय-प्रवेश

इस सम्बन्ध में पूर्व अथवा पश्चिम के विद्वानों में कोई मतभेद नहीं है कि ऋग्वेद संसार का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है यद्यपि इस सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है कि ऋग्वेद कितना पुराना है। वेदों के काल तथा अन्य बहिरङ्ग विषयों के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य के विभिन्न इतिहासों में पर्याप्त ऊहापोह हो चुका है। एतत्सम्बन्धी विवेचन जिज्ञासु वहाँ देख सकते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में हम वेदों के अन्तरङ्ग विवेचन पर ही अधिक बल देंगे।

ब्राह्मणग्रन्थ और वेदमन्त्रार्थ

जिस प्रकार वेदों के काल के सम्बन्ध में मतभेद है उसी प्रकार वेदों की व्याख्या के सम्बन्ध में भी मतभेद है। व्याख्या सम्बन्धी इस मतभेद की चर्चा भी वैदिक साहित्य के विभिन्न इतिहासों में विस्तार से हो चुकी है। प्रस्तुत ग्रन्थ में हम वैदिक साहित्य की वह व्याख्या लेकर चलेंगे जो ब्राह्मणग्रन्थों में दी गई है। ब्राह्मण का अर्थ है ब्रह्म अर्थात् वेद की व्याख्या। ब्राह्मण साहित्य विपुलकाय है और उसमें वेदमन्त्रों की क्रमशः टीका तो नहीं है परन्तु उन वेदमन्त्रों का विनियोग किस कर्म में होता है—इसकी चर्चा अवश्य है। सहज ही इस चर्चा के अन्तर्गत वेदमन्त्र के अर्थ पर भी विचार करना पड़ता है। यह सत्य है कि इन ब्राह्मणग्रन्थों में मुख्यतः वैदिक यज्ञों का प्रतिपादन है किन्तु उस प्रतिपादन की पृष्ठभूमि में अनिवार्यतः सृष्टिविद्या का वर्णन है। इस सृष्टिविद्या के अन्तर्गत विश्व के उद्भव की चर्चा ही नहीं है अपितु विश्व के स्वरूप का विश्लेषण भी है। यह विश्लेषण पर्याप्त विस्तृत और सूक्ष्म है। इसी विश्लेषण के आधार पर वेदमन्त्रों में स्तुत देवों का भी स्वरूप ठीक से समझा जा सकता है। अधिकतर विद्वानों ने ब्राह्मण ग्रन्थों को कर्मकाण्ड की पुस्तक ही समझा और उनमें दी गई सृष्टिविद्या यज्ञविद्या तथा देवविद्या पर ध्यान नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि वेद की सबसे प्राचीन व्याख्या द्वारा प्रतिपादित वैदिक जीवन दृष्टि से हम अपरिचित ही रह गए। प्रस्तुत ग्रन्थ में हम मुख्यतः ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित दृष्टि से ही वैदिक साहित्य में उपलब्ध होने वाली उस सामग्री का विवेचन करेंगे जो पूरे भारतीय चिन्तन का मूल स्रोत है और जिसकी प्रासङ्गिकता विज्ञान के विकास के साथ दिनों दिन बढ़ती जा रही है।

वेदार्थ की सूक्ष्मता—

वेद की व्याख्या सरल कार्य नहीं है। स्वयं ऋग्वेद (१०.७१.४) कहता है कि अधिकतर लोग वाणी को देखते हुए भी नहीं देख पाते और सुनते हुए भी नहीं सुन पाते। केवल कुछ गिने चुने लोगों के सम्मुख ही वाणी अपना रहस्य उद्घाटित करती है—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाच
मुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे

> इस क्षेत्र में भाषा की समस्या वस्तुत गम्भीर है। हम परमाणु की रचना के सम्बन्ध में किसी प्रकार कुछ कहना चाहते हैं—किन्तु परमाणु के सम्बन्ध में दैनन्दिन व्यवहार की भाषा में कुछ नहीं कहा जा सकता है।[१]

डॉ फ्रिटजाफ कॉपरा ने इस स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

> इस स्तर पर पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान सीधा ऐन्द्रिक अनुभव से नहीं आता अत सामान्य भाषा जो कि इन्द्रियगोचर जगत् से ही बिम्ब ग्रहण करती है प्रतीति में आने वाली स्थिति का वर्णन करने के लिये पर्याप्त नहीं रहती।[२]

भाषा सम्बन्धी इस कठिनाई को दूर करने के लिये विज्ञान गणितीय भाषा का प्रयोग करता है। भाषा सम्बन्धी यह कठिनाई वेद के सम्मुख भी है क्योंकि उसे भी अतीन्द्रिय अनुभवों को अभिव्यक्त करना है। वेद इस कठिनाई का समाधान प्रतीकात्मक भाषा का सहारा लेकर करता है। अत वेदव्याख्या का मुख्य लक्ष्य प्रतीक अथवा पारिभाषिक शब्दों का अर्थ खोलना है। वेद की इस प्रतीकात्मक शैली को ही लेकर ब्राह्मण ग्रन्थों में इस रूप में कहा है कि देवता परोक्षप्रिय होते हैं प्रत्यक्षप्रिय नहीं—*परोक्षप्रिया वै देवा प्रत्यक्षद्विष* (गोपथ ब्राह्मण १ २ २१) । गणित की भाषा कृत्रिम है किन्तु प्रतीक की भाषा में हम उन्हीं शब्दों को काम में लेते हैं जिनका प्रयोग हम दैनन्दिन व्यवहार में करते हैं तथापि उन दैनन्दिन शब्दों का भी प्रतीक रूप में प्रयोग होने पर वह अर्थ नहीं रह जाता जो अर्थ सामान्य व्यवहार के समय रहता है। अत लौकिक संस्कृत का ज्ञान वैदिक मन्त्रों के अन्वय तथा शब्दार्थ जानने में भले ही सहायक हो जाय किन्तु वैदिक मन्त्रों का वास्तविक तात्पर्य जानने के लिये हमें वैदिक शब्दों के पारिभाषिक अथवा प्रतीकार्थ जानने ही होंगे। वैदिक शब्दों के ये पारिभाषिक या प्रतीकार्थ जितनी विशदता से ब्राह्मण ग्रन्थों में दिये गए हैं अन्यत्र कहीं नहीं दिये गये। इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थों का गहरा और विस्तृत अध्ययन किये बिना वेद के मर्म को जानना असम्भव ही है।

वैदिक शब्द के अर्थों की व्यापकता

वैदिक शब्दों का अर्थपटल व्यापक है। उदाहरण के लिये हम अग्नि शब्द को लें। ऋग्वेद के प्रारम्भ में प्रथम शब्द अग्नि ही आया है। अग्नि शब्द का सामान्य अर्थ आग है किन्तु ऋग्वेद

---

१ The problems of language here are really serious We wish to speak in some way about the structure of atoms—But we cannot speak about atoms in ordinary language *Tao of Physics* द्वारा *Fritjof Capra* पृ ५३ पर उद्धृत

२ The knowledge about matter of this level is no longer derived from direct sensory experience and therefore our ordinary language which takes its image from the world of the senses is no longer adequate to describe

(१ १६४४६) कहता है कि इन्द्र मित्र वरुण यम मातरिश्वा—ये सब अग्नि के ही नाम हैं—

इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य सुपर्णो गरुत्मान् ।
एक सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहु ॥

स्पष्ट है कि ऐसा वक्तव्य सामान्य अग्नि क लिए नही दिया जा सकता। अग्नि का एक रूप वह है जो भटठी आदि में दिखाई देता ह। दूसरी आर शतपथ ब्राह्मण (१४ ८ १० १) मे अग्नि के उस स्वरूप की चर्चा है जिसे वैश्वानर कहा जाता है और जा हमारे शरीर के अन्दर रहकर अन्न पचाता है—*अयमग्निर्वैश्वानर । योऽयमन्त पुरुषे येनेदमन्न पच्यत*। यह वैश्वानराग्नि भटठा की भूताग्नि स कहीं अधिक सूक्ष्म है। जो काम यह अन्न को रक्त मासादि में परिणत करने का करती है वह कार्य भटठा की भूताग्नि कदापि नही कर सकती। यही अग्नि ऊष्मा के रूप में जीवनी शक्ति है। जब तक यह ऊष्मा है तब तक जीवन है। जीवन शक्ति के रूप में इस अग्नि का नाम महाभारत (आरण्यपर्व २११४) में मनु ने दिया है—

ऊष्मा चैवाप्मणो जज्ञ सोऽग्निर्भूतपु लक्ष्यते ।
अग्निश्चापि मनुर्नाम प्राजापत्यमकारयत् ॥

अग्नि का एक अन्य रूप ब्रह्माग्नि है। यह ब्रह्माग्नि ही हमारे समस्त चिन्तन का प्रेरणा स्रोत है। इस ब्रह्माग्नि रूप के सम्बन्ध में ही मैत्रायणी सहिता (१ ६ १) कहती है *अग्निर्ऋषि* अर्थात् अग्नि ऋषि है। इस प्रकार के वक्तव्य आधुनिक वैज्ञानिक का स्वीकार्य नही है। ब्रह्माग्नि की बात तो दूर वह ता जठराग्नि को भी मानने के लिय तैयार नही है। इसका कारण यह है कि यह अग्नि शब्द स केवल भूताग्नि को ही समझता है और अन्न की पाचन क्रिया में उसे कहा भा भूताग्नि उपलब्ध नहीं हाता। इसलिए वह वैदिक ऋषि का इस दृष्टि का नही समझ पाता कि एक ही अग्नि अनक रूप धारण कर लेती है। दूसरी ओर ऋग्वेद (८ ५८ २) स्पष्ट कहता है कि एक ही अग्नि अनक रूप धारण कर लेता है—*एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध* । ऋग्वेद (५ ३ १) कहता है कि ह अग्नि । तुम ही वरुण हो तुम ही मित्र बन जाते हो सब देवता तुममें हैं तुम यजमान मनुष्य के लिए इन्द्र बन जात हा—

त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्व मित्रो भवसि यत्समिद्ध ।
त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय ॥

देवप्राण

वेद के इस प्रकार के वक्तव्य सामान्यत पाठक का पहेली जैस प्रतीत होते हैं। इसलिए इस विषय पर थोडे स्पष्टीकरण की आवश्यकता है।

शतपथ ब्राह्मण (७५ १ २१) स्पष्ट कहता है कि देव का अर्थ है प्राण—*तस्माद्देवा प्राणा* । स्वय तैत्तिरीय सहिता (६ १ ४५) भी यही कहती है—*प्राणा वै देवा* । स्पष्ट है कि सभी देव प्राण हैं इसलिए अग्नि भी प्राण ह। शतपथ ब्राह्मण बारम्बार (६ ३ १ २१ २ २ २ ५ ५ ९ ५ १ ६८) इस बात का दाहराता है कि अग्नि प्राण है—*प्राणा अग्नि* । जिस प्रकार अग्नि प्राण है उसी प्रकार

अन्य दवता भी प्राण हैं। गोपथ ब्राह्मण (२ ४ ११) कहता है कि वरुण प्राण है—*य प्राण स वरुण*। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण (३ १ ३ ६) कहता है कि मित्र प्राण है—*प्राणो मित्रम्*। शतपथ ब्राह्मण (६ १ २ २८) कहता है कि इन्द्र प्राण है—*प्राण इन्द्र*। एक अन्य स्थल पर शतपथ ब्राह्मण (१२ ९ १ १४) बलपूर्वक कहता है कि इन्द्र और कुछ नही है प्राण ही है—*प्राण एव इन्द्र*। ब्राह्मणग्रन्थों क इन वचनों पर ध्यान दने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद का अग्नि को मित्र वरुण या इन्द्र बताना प्रमत्त प्रलाप नही है प्रत्युत सर्वथा युक्तिसङ्गत है। इसका समीकरण इस प्रकार होगा—

(i) अग्नि = प्राण
प्राण = वरुण
अग्नि = वरुण

(ii) अग्नि = प्राण
प्राण = मित्र
अग्नि = मित्र

(iii) अग्नि = प्राण
प्राण = इन्द्र
अग्नि = इन्द्र

(iv) अग्नि = प्राण
प्राण = देव
अग्नि = देव

बहुदेववाद तथा एकदेववाद

उपर्युक्त चतुर्थ समीकरण के अनुसार अग्नि का किसी भी देवता क साथ तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है। इसलिए एतरेय ब्राह्मण (२ ३) ने कह दिया कि अग्नि ही सब देवता है—*अग्नि सर्वा देवता*। वस्तुत सब देवताओं को प्राण रूप समझ लेने पर वद के बहुदेवतावाद में अन्तर्निहित एकदेवतावाद का रहस्य समझ में आता है। ऐसा कहा जाता है कि एकदववाद का प्रादुर्भाव परवर्ती वैदिक काल में हुआ इसलिए उसके सङ्केत तथाकथित अर्वाचीन प्रथममण्डल अथवा दशममण्डल में ही प्राप्त हाते हैं किन्तु हम दखत हैं कि पश्चिमी विद्वानों द्वारा ऋग्वद (८ ५८ २) के प्राचीन माने जाने वाले अश में भी बहुदेववाद में एकदेववाद का दर्शन ऋषि द्वारा उस समय अभिव्यक्त हुआ है जब वह कहता है कि एक ही अग्नि अनेक रूपों में समिद्ध है एक ही सूर्य विश्व में व्याप्त है एक ही उषा सब ओर प्रकाशित है। वस्तुत यह एक ही सब कुछ बन गया है—

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एक सूर्यो विश्वमनुप्रभूत।
एकैवोषा सर्वमिद विभाति एक वाऽइद विबभूव सर्वम्॥

प्रश्न होता है कि यदि एक ही प्राण अनेक दवताओं से अभिहित है तो उस देव का एक ही नाम क्यों नही दे दिया गया अनेक नामों की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान करत हुए यास्काचार्य (निरुक्त ७ २) कहत हैं कि दवता एक ही है किन्तु उसक नाम अनक हैं क्योंकि उनक कर्म पृथक् पृथक् हैं—*तासा महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्मपृथक्त्वात्।* इसकी व्याख्या करत हुए दुर्गाचार्य कहत हैं कि देवताओं का ऐश्वर्य इतना अधिक है कि उनक अनक रूप हैं और इसलिए उनके नाम भी अनक हैं—*महाभाग्यादैश्वर्य योगादेकात्मनामनेकधा विकुर्वन्तीनामेकैकस्या प्रतिविकार जातवेदा वैश्वानरो वरुणो रुद्रोऽश्विना उषा इत्येवमादीनि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।* यदि वैदिक दवों का वास्तविक स्वरूप जानना हो तो उनके कर्म को समझना चाहिए। मूलत व सभी प्राण हैं किन्तु उनके कर्म भिन्न भिन्न हैं।

इसलिए यास्क (निरुक्त ७.१) ने उन्हें कर्मजन्मा कहा है। इस पर दुर्गाचार्य का कहना है कि यदि यह देवता भिन्न भिन्न कर्मानुकूल रूप धारण न करे तो संसार में कर्म के फल की सिद्धि ही न हो—*न ह्येतेभ्य ऋते लोकस्य कर्मफलसिद्धिः स्यात्।* अपना अपना कर्म करने में सभी देव महान् हैं इसलिए किसी देव को दूसरे देव से छोटा नहीं माना जा सकता अपितु जिस कर्म का वर्णन होता है उस कर्म के अधिष्ठाता देव को उस कर्म का वर्णन करते समय सर्वोच्च बना दिया जाता है। ऋग्वेद (८.३०.१) कहता है कि देवताओं में कोई छोटा नहीं सभी महान् हैं—*न हि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः। विश्वे सतो महान्त इत्।*

ज्ञान तथा विज्ञान

एकदेववाद तथा बहुदेववाद के इस प्रसंग में ही ज्ञान तथा विज्ञान की भी संक्षिप्त चर्चा उपयोगी होगी। अनेक से एक की ओर जाना ब्रह्मविद्या अथवा ज्ञान का विषय है। इसके विपरीत एक से अनेक की ओर जाना विज्ञान अथवा यज्ञविद्या का विषय है। पण्डित मधुसूदन ओझा के ग्रन्थ महर्षिकुलवैभवम् का उपोद्घात (पृष्ठ ३) लिखते समय उनके शिष्य महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने कहा है—*एकस्माद् अनेकस्मिन्नवतरणं विज्ञानं यज्ञविद्या तथा अनेकस्मादेकस्मिन्नारोहणंज्ञानं ब्रह्मविद्या।* विज्ञान का यज्ञ तथा कर्म से सम्बन्ध तैत्तिरीय आरण्यक (८.५.१) तथा तैत्तिरीयोपनिषद् (२.५.१) में यह कहकर स्थापित किया गया है कि विज्ञान से यज्ञ का तथा कर्मों का विस्तार होता है—*विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च।* इसी श्रुतिप्रमाण के आधार पर गीता (१८.४२) पर भाष्य लिखते हुए श्री मधुसूदन सरस्वती ने कहा कि विज्ञान कर्मकाण्ड में यज्ञादि कर्म करने की कुशलता का नाम है—*विज्ञानं कर्मकाण्डे यज्ञादिकर्मकौशलम्।*

यद्यपि ज्ञान और विज्ञान दोनों का क्षेत्र क्रमशः एकता और अनेकता होने के कारण पृथक् है तथापि दोनों एक दूसरे के परिपूरक हैं। अनेक की अवधारणा के बिना एक की अवधारणा निरर्थक है और एक की अवधारणा के बिना अनेक की अवधारणा निराधार है। इसलिए यजुर्वेद (४०.१२) में विद्या और अविद्या के समन्वय पर बल दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि जो विद्या अर्थात् ज्ञान और अविद्या अर्थात् कर्म दोनों को साथ साथ जानता है वह अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार करके विद्या के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करता है—

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

ज्ञान और विज्ञान के इस समन्वय को और भी स्पष्ट करते हुए गीता (७.२) में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को विज्ञान सहित ज्ञान देने की बात कही है—*ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः* गीता (८.१) में इसी बात को दोहराते हुए कृष्ण ने फिर *ज्ञानं विज्ञानसहितम्* कहा है। इसके बावजूद भारत में जब ज्ञान का तो यशोगान हुआ किन्तु कर्म की निन्दा हुई तो स्वाभाविक था कि विज्ञान का भी ह्रास हो गया क्योंकि जैसा हम ऊपर तैत्तिरीय आरण्यक तथा तैत्तिरीय उपनिषद् के साक्ष्य द्वारा कह चुके हैं कि कर्म का विज्ञान से गहरा सम्बन्ध है। ज्ञान का महत्त्व असन्दिग्ध है किन्तु उपर्युक्त श्रुति तथा स्मृति के प्रमाणानुसार ज्ञान के समान ही विज्ञान भी आदरणीय है तथा उपास्य

वह हमारी प्रतीति में न आने हम उसे जड कह देत हैं किन्तु जैस जैस व साधन हमें उपलब्ध होत हैं जिसस हम छिपी हुई चतना का भी पहचान सकें वैसे वैस हम जिसे कल तक जड समझत थे उसे ही हम चेतन के रूप में जानन लगते ह । उदाहरणत सर जगदीश चन्द्र बास से पहल वनस्पति को जड समझा जा रहा था यद्यपि मनु की यह स्पष्ट घोषणा कि वनस्पति में भी चतना छिपी हुई है और व सुख तथा दुख का अनुभव करते हैं—*अन्तसज्ञा भवन्त्येते सुख दुखसमन्विता* । सर जगदीश चन्द्र बास को जैसे ही समुचित उपकरण उपलब्ध हो गये वैस ही मनु का उपर्युक्त कथन विज्ञान क प्रयोग से सिद्ध हो गया । विज्ञान अभी तक चट्टान का जड मान हुए है किन्तु वद पत्थरों का भी सम्बोधित करता है। तैत्तिरीय संहिता (१ ३ १३ १) में कहा गया है कि हे पत्थरों । सुनो—*शृणात ग्रावाण* । प्रश्न होता है कि क्या पाषाण सुन सकते हैं ? शतपथ ब्राह्मण (१४ ४ २ १८) का कहना है कि आत्मा सबमें है—*अत्र ह्येते सर्व एक भवन्ति तदेतत् पदनीय सर्वस्य यदयमात्मा* । पत्थर में भी आत्मा है । आत्मा क्या है इसका उत्तर देते हुए शतपथ ब्राह्मण (१४ ४ ३ १०) कहता है कि आत्मा क तीन घटक हैं—वाक् मन और प्राण—*अयमात्मा वाङमयो मनोमय प्राणमय* । निष्कर्ष यह हुआ कि पत्थर में केवल वाक् अर्थात् मैटर और प्राण अर्थात् एनर्जी ही नहीं है मन अर्थात् माइण्ड भी है । इसलिए पत्थर को सम्बोधित करना सर्वथा युक्तियुक्त है । जिस प्रकार आधुनिक विज्ञान वनस्पति में चेतना को मानता है उसी प्रकार पाषाण में अभी तक चतना को नहीं मानता किन्तु इस बार में पर्याप्त सकेत है कि आधुनिक विज्ञान भी पाषाण में चेतना को मानने लगेगा—

> अब मन और पदार्थ को मौलिक रूप से भिन्न दो कोटियाँ नहीं माना जाता जैसा कि डेकार्ट का विश्वास था अपितु यह माना जा रहा है कि ये दोनों एक ही सार्वभौम प्रक्रिया क केवल दो भिन्न पक्ष हैं ।[1]

यहा नहा आज का वैज्ञानिक यह स्पष्ट अनुभव कर रहा है कि

> पर्यावरण केवल सजीव ही नहीं अपितु हमारी भाँति समनस्क भी है ।[2]

वस्तुत आज ईश्वर का स्रष्टा क रूप में न समझ कर विश्व के मन के रूप में समझा जा रहा है ।[3] आज शतपथ ब्राह्मण का यह वक्तव्य कि प्रजापति सृष्टि को बनाकर स्वय उसमें प्रविष्ट हो गया *तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत* (तैत्तिरीयोपनिषद् २ ६) इस रूप में अभिव्यक्त हो रहा है कि—

---

1 Mind and matter no longer appear to belong to two fundamentally seperate categories as Decarte believed but can be seen to represent merely different aspects of the same universal process *Frijof Capra The Turning Point* पृ २९० ।

2 We realise that the environment is not only alive but also mindful like ourselves उपरिवत् पृ २९१ ।

3 God is not the creator, but the mind of universe उपरिवत्, पृ १२ ।

सभी सजीव पिण्ड स्वय द्वारा स्वय व्यवस्थित हो रहे हैं अर्थात व्यवस्था उन पर बाहर से थोपी नहीं जा रही अपितु उनमें अन्तर्निहित है।[1]

जड और चेतन के बीच मौलिक एकता को हृदयङ्गम कर लेने के बाद इस बात में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती कि अग्नि शब्द के द्वारा आधिभौतिक आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तीनों प्रकार की अग्नियों का बोध हो। यह आरोप है कि वेदों में जडप्रकृति की उपासना है—तभी तक ठीक प्रतीत होता था जब तक हम प्रकृति को जड तथा मनुष्य को चेतन मानकर दोनों के बीच भेदक रेखा खींच रहे थे आज यह स्पष्ट हो चुका है कि प्रकृति भी सजीव है। अत प्रकृति और मनुष्य को अलग अलग करके नहीं देखा जा सकता। इस प्रकार वेद अनेकता में अनुस्यूत एकता को अपनी अन्तर्दृष्टि से देख पाता है और यह घोषणा करता है कि पूरा विश्व एक नीड है—*यत्र विश्व भवत्येकनीडम्।* यही वेद की समग्र दृष्टि है। इस समग्र दृष्टि के कारण एक ही वेद मन्त्र के अधिभौतिक अधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार के अर्थ निकलते हैं क्योंकि वेद की दृष्टि सर्वतोमुखी है—*वेदाना सर्वतोमुखम्।*

एक से अनेक

इस समग्र दृष्टि से एक ही अग्नि घनता तरलता और विरलता के कारण तीन देवों में बदल जाती है। जिसे हम घनता तरलता और विरलता कह रहे हैं यजुर्वेद (१ १७ १८) में उसे ध्रुव धरुण और धर्त्र कहा गया है। पृथिवी ध्रुव है अन्तरिक्ष धरुण है द्यौ धर्त्र है—*ध्रुवमसि पृथिवी धरुणमस्यन्तरिक्ष धर्त्रमसि दिवम्।* यजुर्वेद के इस वक्तव्य को हम यास्काचार्य (निरुक्त ७ २) के उस वक्तव्य से जोडें जिसमें अग्नि को पृथिवी स्थानीय वायु को अन्तरिक्ष स्थानीय और सूर्य को द्युस्थानीय देवता माना गया है—*तिस्र एव देवता इति नैरुक्ता। अग्नि पृथिवीस्थान। वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थान। सूर्यो द्युस्थान।* यास्क का यह वक्तव्य शतपथब्राह्मण (९ १ १ २३) के उस वचन पर आधृत है जिसके अनुसार अग्नि वायु तथा आदित्य देवों के हृदय हैं—*अग्निवायुरादित्य एतानि ह तानि देवाना हृदयानि।* यास्काचार्य (निरुक्त ७ ४) ने स्पष्ट किया है कि पार्थिवाग्नि ही अग्नि नहीं है उत्तरवर्ती दो ज्योतियाँ वायु और सूर्य भी अग्नि ही हैं—*स न मन्येतायमेवाग्निरिति। अप्येते उतरे ज्योतिषी अग्नी उच्यते।* ब्राह्मण ग्रन्थ इस विषय को अत्यन्त स्पष्ट कर देते हैं। एतरेय ब्राह्मण (२ ३४) स्पष्ट कहता है वायु अग्नि है—*वायुरग्नि।* शतपथ ब्राह्मण (६ ३ १ २९) कहता है आदित्य भी अग्नि है—*असावादित्य एषोऽग्नि।* यही नहीं ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार अग्नि भी प्राण है—*प्राणो अग्नि* (शतपथ ब्राह्मण, ६ ३ १ २१)। वायु भी प्राण है—*वात प्राण* (एतरेय ब्राह्मण २ ३४) तथा आदित्य भी प्राण है—*असावादित्य प्राण* (तैत्तिरीय सहिता, ५.२ ५.४)। इस प्रकार प्राणत्वेन अग्नि वायु आदित्य तीनों एक हैं। तीनों में जो क्रमश भेद है वह पूर्वोक्त यजुर्वेद के प्रमाणानुसार पृथिवी अन्तरिक्ष तथा द्यौ लोक से जुड़े होने के कारण

---

1 A living organism is a self—organising system which means that its order is not imposed by the environment but is established by the system itself *Fritjof Capra Uncommon Wisdom* पृ ८७।

शरीर में जीवन की *ऊष्मा* बनाय रखता है। यह सोम का अग्नि में परिणत होने का प्रत्यक्ष उदाहरण है। यदि अग्नि को भोक्ता और सोम को भोग्य मानें तो भी यह स्पष्ट है कि हिरण तृण खाते समय भोक्ता है किन्तु वही हिरण सिंह द्वारा खाय जाने पर भोग्य हो जाता है। अभिप्राय यह है कि भोक्तृभोग्यभाव सापेक्ष है और यह सापेक्षता ही पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन का मूलमन्त्र है। बाल्यावस्था में जो पुत्र पिता पर आश्रित होता है युवावस्था में वही पुत्र पिता का आश्रय बन जाता है।

त्रिदेव इन्द्र विष्णु-ब्रह्मा

ऊपर हमने दो गतियों की चर्चा की—अन्तर्गति तथा बहिर्गति। अन्तर्गति विष्णु के कारण है—इसलिए विष्णु को यज्ञ कहा जाता है—*विष्णुर्वै यज्ञ* (मैत्रायणी संहिता ४४७)। बहिर्गति का कारण इन्द्र है। इसलिए यज्ञ को इन्द्र का शरीर बताया गया है—*इन्द्रस्य वा एषा यज्ञीया तनूर्यद्यज्ञ* (तैत्तिरीय संहिता ३ ३ ७ ३)। विष्णु का आदान और इन्द्र का प्रदान पदार्थ में परिवर्तन करता रहता है किन्तु इस परिवर्तन के बीच भी पदार्थ की स्थिरता बनी रहती है। यही ब्रह्मा है। ये विष्णु इन्द्र और ब्रह्मा मिलकर पदार्थ का स्वरूप बनाते हैं इसलिए इन्हें शतपथ ब्राह्मण (१४८४१) प्रजापति या हृदय कहता हैं। यही ब्रह्म है। हृदय शब्द की व्युत्पत्ति देते समय ब्राह्मण ग्रन्थ कहता है कि हृदय में हृ आहरण का सूचक है द दान का सूचक है यम् नियमन करने वाला है—*एष प्रजापतिर्यद्धृदयम्। एतद् ब्रह्मैतत्सर्वं तदेतत्त्र्यक्षरं हृदयमिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद।*

इन्द्रप्राण से अग्नि और विष्णुप्राण से सोम का निर्माण होता है। अग्नि और सोम मिलकर पदार्थ का पृष्ठ भाग बनाते हैं। इन्द्र विष्णु ब्रह्मा अग्नि साम पाँचों ही प्राण हैं। ऐतरेय आरण्यक (२ २ २) में कहा है कि क्योंकि प्राण सब भूतों में से क्षरित होता है किन्तु स्वय प्राण का क्षरण नहीं होता है इसलिए प्राण अक्षर है—*स यदेभ्यः सर्वेभ्यो भूतेभ्यः क्षरति न चैनमतिक्षरन्ति तस्मादक्षरम्।* इसी श्रुति प्रमाण को आधार बनाकर गीता (१५ १६ १७) में क्षर अक्षर की चर्चा है। इन्द्र विष्णु ब्रह्मा अग्नि और साम पाँचों ही प्राण हैं। इसलिए इन्हें प्राण प्रधान अक्षरपुरुष की पाँच कलाए कहा जाता है।

इन पाँच प्राणों में भी अग्नि और सोम की ससृष्टि ही सृष्टि का मूल है। ऋग्वेद (१० ९०) के पुरुष सूक्त में यज्ञ से समस्त सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। वहाँ अभिप्राय यही है कि अग्नि में *साम की आहुति पडने से ही सृष्टि उत्पन्न होती है। जिस यज्ञ के द्वारा प्रजापति ने सृष्टि उत्पन्न* की उस यज्ञ का वर्णन शतपथ ब्राह्मण (११ १ ६ १३ १९) में बहुत विस्तार से है।

ऋग्वेद का "पुरुष सूक्त" (ऋग्वेद १० ९०) भी यज्ञ से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति मानता है। यज्ञ से सृष्टि की प्रक्रिया को कई प्रकार से समझा जा सकता है। समस्त सृष्टि दो के मूल से पैदा होने वाली है—ससृष्टि है। दूसरी ओर ससार में मूल तत्त्व एक ही है। यह एक तत्त्व जब तक दो भागों में विभक्त न हो सृष्टि नहीं कर सकता। इसलिये सृष्टि का मूल है एक से अनेक हो

जाना—*एकोऽहं बहु स्याम*।

ऋषि प्राण

एक दो में कैसे परिणत हो इसका उत्तर गति है। गति का अर्थ है प्राण। जो प्रथम गति है उसे ऋषि कहते हैं। ऋषि का यह अर्थ सामान्यत हमें अटपटा लगेगा किन्तु शास्त्र इस सम्बन्ध में स्पष्ट कह रहा है—

> वे ऋषि कौन थे? निश्चय प्राण ही ऋषि थे। सर्वप्रथम इच्छा श्रम और तप से उन्होंने गति की, इसलिये वे ऋषि कहलाये।
>
> *के त ऋषय इति प्राणा वा ऋषयस्ते यत्पुरास्मात्सर्वस्मादिदमिच्छन्त श्रमेण तपसारिपस्तस्मादृषय* (शतपथ ब्राह्मण ६ १ १ १)

वैदिक साहित्य के सन्दर्भ में इस प्रकार के शब्दों के उन पारिभाषिक अर्थों को देखकर जो प्रचलित नहीं हैं यह नहीं समझना चाहिये कि उन शब्दों का प्रचलित अर्थ अशुद्ध है। वेद मन्त्रों के द्रष्टा भी ऋषि हैं। इतना और समझ लेना चाहिये कि जिस ऋषि ने जिस प्राण तत्त्व का साक्षात्कार किया उस प्राण के नाम पर उस ऋषि का यशोनाम पड गया। उदाहरणत विश्वामित्र प्राण के द्रष्टा ऋषि भी विश्वामित्र नाम से प्रसिद्ध हो गये।

पितर प्राण

ऋषि प्राण ही जब भृगु और अङ्गिरा दो भागों में विभक्त होते हैं तो पितर प्राण बनते हैं। भृगु और अङ्गिरा का सम्मिलित रूप ही आप है। भृगु शीतल धारा है अङ्गिरा उष्ण धारा है। इन दोनों के मिश्रण से आप बनता है जो सामान्यत जल का पर्यायवाची माना जाता है वस्तुत वह सोम का पर्यायवाची है। वस्तुत जिस प्रकार अग्नि के तीन रूप हैं उसी प्रकार सोम के भी तीन रूप हैं। विरल रूप सोम है तरल रूप आप है घन रूप वायु है। अग्नि का एक नाम रुद्र है। जो व्याकुलतावश रोता है वह रुद्र है—*अग्निर्वै रुद्रो यदरोदीत्तस्माद् रुद्र* (शतपथ ब्राह्मण ६।१।३।१०) अग्नि का यह रुदन उसकी बुभुक्षा या अशनाया के कारण होता है। प्रत्येक पिण्ड के आदि मध्य और अन्त तीन भाग हैं। ये ही उसके भू भुव स्व अथवा भूमि अंतरिक्ष और द्यौ हैं। उस पिण्ड के चारों ओर आप तत्व है। जिसे चतुर्थलोक कहा जाता है।—*आपो वै चतुर्थ लोक*। इस आप लोक में आप तत्त्व व्याप्त है पिण्ड में रखी हुई अग्नि का जो रुदन है उसे आपोलोक में स्थित यह आप ही शान्ति करता है। यह अग्नि इस आप लोक से सोम तत्त्व को ग्रहण करके अग्नि रूप में परिणत कर देती है और इस प्रकार पिण्ड का निर्माण होता रहता है। क्योंकि यह आप लोक सोम को आहुति देकर पिण्ड का निर्माण करता है इसलिए इसे पितृलोक भी कह सकते हैं। कहने को आप सोम है पर उसमें अग्नि और सोम दोनों ही हैं। भृगु सोम है अङ्गिरा अग्नि है। दोनों का समन्वय आप है—

> *आपोमय भूत सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्।*
> *अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरस श्रिता ॥* (गोपथब्राह्मण पूर्व भाग १।३९)

पितृ तत्त्व में माता और पिता दोनों ही आते हैं। आप की आहुति से अग्नि पुष्ट होता है। इधर अग्नि आप में बीज का आधान करता है—*सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विधा प्रजा। अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्॥* (मनुस्मृति १ ७) इस प्रकार अग्नि और सोम के सहयोग से सृष्टि चलती है। दाम्पत्य भाव में इस अग्नि और सोम के सहयोग को देखा जा सकता है। पुरुष अग्नि है स्त्री सोम है। पहले कहा जा चुका है कि अग्नि और सोम का भेद आत्यन्तिक नहीं है। विकासशील अग्नि विकास की चरम सीमा पर पहुच कर सोम बन जाता है सकोचशील सोम सकोच की चरम सीमा पर पहुच कर अग्नि रूप में बदल जाता है। हम में से प्रत्येक में अग्नि और सोम दोनों भाव हैं। प्रत्येक अर्धनारीश्वर है। दक्षिण भाग अग्निप्रधान होने से अधिक सक्रिय है वाम भाग सोम प्रधान होने से अपेक्षाकृत शान्त है। पुरुष में अग्नि मुख्य है इसलिए वह अधिक सक्रिय है बहिर्मुख है। स्त्री शान्त है अन्तर्मुख है। ये दोनों एक दूसरे के बिना अधूरे हैं। इन दोनों के दाम्पत्य से ही अध्यात्म यज्ञ का स्वरूप पूरा होता है और सृष्टि होती है।

सवत्सर प्रजापति

जो स्थिति अध्यात्म में है वही अधिदैव तथा अधिभूत में है। छ ऋतुओं का समूह सवत्सर है। यह सवत्सर सूर्य के चारों ओर भू पिण्ड द्वारा अण्डाकार में घूमने के कारण बनता है। इस अण्डाकार घूमने को ही सर्वत्सर कहा जाता है। यह सर्वत्सर ही सवत्सर होता है—*"स प्रजापति सर्वत्सरोऽभवत्। सर्वत्सरो ह वै नामैतत्—यत् सम्वत्सर।"* (शतपथ ब्राह्मण ११।१।६।१२) अण्डाकार घूमने का परिणाम यह है कि पृथ्वी कभी सूर्य के निकट आ जाती है कभी सूर्य से दूर हो जाती है। इसलिए पृथ्वी पर कभी गर्मी की मात्रा अधिक होती है कभी ठण्ड की मात्रा अधिक होती है। यदि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर वर्तुलाकार घूमे तो सदा एक सा ही तापमान रहे और वनस्पतियाँ कभी फले फूले ही नहीं। एक तापमान विशेष में बीज में अङ्कुर आता है दूसरे तापमान पर वह अङ्कुर बढता है तीसरे पर उसमें फूल आता है चौथे पर फल बनता है और पाँचवे पर फल पकता है। यह प्रक्रिया तापमान या ऋतु के परिवर्तन या चक्र के कारण होती है। ये ऋतु चक्र सम्वत्सर यज्ञ हैं जिससे प्रजा उत्पन्न होती है। इसलिए सम्वत्सर को प्रजापति भी कह दिया जाता है।—*सवत्सरो वै यज्ञ प्रजापति*।(शतपथ ब्राह्मण ११ १ १) इसी दृष्टि से ऋतुओं को पितर भी कह दिया जाता है—*पितरो वा ऋतव* (मैत्रायणीसहिता२ १० १७) ऋतुओं में अग्नि और सोम का यही क्रम है कि ये चक्रवत् एक दूसरे में परिवर्तित भी होते रहते हैं। सोम अपने चरम तत्त्व पर पहुचकर अग्नि में परिणत होने लगता है अग्नि चरम तत्त्व पर पहुच कर सोम में परिणत होने लगता है। इस प्रकार ऋतुए बनती हैं। उष्णता और शैत्य सूर्य और चन्द्र के प्रवर्ग्य हैं। सूर्य अग्नि पिण्ड है चन्द्रमा सोम पिण्ड है।

ऋत सत्य

पिण्ड ठोस है उसे सत्य कहते हैं। उसका केन्द्र होता है उससे पैदा होने वाले शैत्य और उष्णता का कोई केन्द्र नहीं होता उन्हें ऋत कहते हैं। सत्य और ऋत का जोडा है। ऋत पिण्डीभूत होकर सत्य बन जाता है सत्य विरल बनकर ऋत बन जाता है। पृथ्वी को ऋत तथा द्यौ को सत्य

करा है—*इय (पृथिवी) वा ऋतम् असौ (द्यौ) सत्यम्* (तैत्तिरीयसहिता ५ १ ५ ८) साराश यह है कि एक पिण्ड जिसका केन्द्र हो सत्य है और एक तरल पदार्थ जिसका केन्द्र न हो ऋत है। सूर्य सत्य अग्नि है चन्द्रमा सत्य सोम है। सूर्य की उष्णता ऋताग्नि है चन्द्रमा का शैत्य ऋतसोम है। ऋत सोम और ऋत अग्नि के ससर्ग से ही ऋतुए बनती हैं। वस्तुत मूल ऋतु दो ही हैं—रात और दिन। अग्नि का प्रतीक दिन है सोम का प्रतीक रात्रि है—*द्वौ वा ऋतू अहश्च रात्रिश्च* (मैत्रायणी सहिता ३ ७ १०) सवत्सर ही यज्ञ है। अध्यात्म में सृष्टि स्त्री पुरुष से हो रही है। स्त्री सोम है और पुरुष अग्नि है। वनस्पति जगत् में ऋतुचक्र उत्पत्ति कर रही है। शैत्य सोम है उष्णता अग्नि है। साराश यह है कि अग्नि और सोम का सम्बन्ध ही यज्ञ है और यह यज्ञ ही सृष्टि का उत्पन्न करता है।

विश्व के पाँच पर्वों मे अग्नि-सोम

अग्नि और सोम का यह क्रम पूरे विश्व में देखने में आता है। हम अपनी ओर स चलें तो पृथ्वी सर्वप्रथम है। पृथ्वी अग्निप्रधान है। पृथ्वी के अनन्तर चन्द्रमा है। चन्द्रमा सोम प्रधान है। फिर सूर्य है। सूर्य पुन अग्निप्रधान है। इस सूर्य के बाद भी एक लोक है जिसे हमनें ऊपर आपोलाक कहा उसे ही शास्त्र में परमेष्ठो कहा ह। स्पष्ट है कि यह आपालोक हाने के कारण साम प्रधान है। इस परमेष्ठा स भी ऊपर एक स्वयभू लाक है। जैसा नाम से हा स्पष्ट है कि वह स्वयभू स्वय ही उत्पन्न हुआ शेष सृष्टि उसी से उत्पन्न हुई। यह स्वयभू अग्निप्रधान है। इस प्रकार प्रकृति में अग्नि और सोम का सन्तुलन बना हुआ है। ऊपर जिन पाँच—पृथ्वी चन्द्रमा सूर्य परमेष्ठी और स्वयभू लोकों की हमने चर्चा की है उसका सकेत शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट दिया है—*स ऐक्षत प्रजापति इम वा आत्मन प्रतिमामसृक्षि ता वा एता प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त अग्नि (पृथिवी) इन्द्र सोम (चन्द्रमा) परमेष्ठी प्राजापत्य।* (शतपथ ब्राह्मण ११।१।६।१३ १४) इन पाँच पर्वा का सात व्याहृतियों में हम प्रतिदिन सध्या के समय समावेश करते हैं—भू भुव स्व मह जन तप सत्यम्। भूपिण्ड भू है सूर्यपिण्ड स्व है। दानों का मध्यस्थान जहाँ चन्द्रमा प्रतिष्ठित है भुव है। परमष्ठी जन है। सूर्य और परमेष्ठी का मध्यस्थान मह है। स्वयम्भू सत्य है। स्वयम्भू और परमेष्ठी का मध्य स्थान तप है। इस प्रकार तीन त्रिलोकी बन जाती है।

भू—पृथिवी	रोदसी	स्व—पृथिवी	क्रन्दसी	जन—पृथिवी	सयती
भुव—अन्तरिक्ष		मह—अन्तरिक्ष		तप—अन्तरिक्ष	
स्व—द्यौ		जन—द्यौ		सत्यम्—द्यौ	

इसीलिये शाडख्यायन ब्राह्मण कहता है कि तीनों लोक त्रिवृत हैं—*त्र्यो वा इमे त्रिवृतो लोका* (शाड्ख्यायन ब्राह्मण ६ १०)

षड् रजस्, सात व्याहृति, पाँचमण्डल, त्रिधाम

इस प्रकार सात व्याहृतियों से तीन द्यौ और तीन पृथ्वी बन जाती हैं। षडाहुर्द्यावापृथिवी

(अथर्ववेद ८ ।९ ।१६) ऋग्वेद कहता है इन सात में से प्रथम छ तो रज हैं क्योंकि उनमें गति है सातवाँ सत्य लोक अज है क्योंकि वह परोरजा है सत्वप्रधान है अथवा अज है—*वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजास्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्।* (ऋग्वद १६४ ।६) प्रश्न हो सकता है कि यदि सातवाँ लाक अज है उसमें गति है ही नही तो वह शेष लोकों को जन्म कैस देता है ? वस्तुस्थिति यह है कि स्वयभू प्राणों का लोक है। जिन्हें हमने ऊपर गति कहा है वे ये ही ऋषि प्राण हैं। जहाँ शुद्ध गति हो वह स्थिति में परिणत हो जाती है। गति में तीव्रता या मन्दता स्थिति की मात्रा कम या ज्यादा होने से होती है। जहाँ गति में स्थिति बिलकुल भी नहीं होगी वहाँ गति इतनी तीव्र होगी कि पदार्थ दो स्थानों पर युगपद ही उपस्थित होगा। इसे ही यजुर्वेद में ठहरे हुए द्वारा सब अन्य भागने वाले पदार्थों का अतिक्रमण करना कहा है—*तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत*। (यजुर्वेद ४० ९) इसलिए सत्य लोक को अज कह दिया गया है। यह अमृत लोक है। मनु का कहना है कि यह कहीं से नही उत्पन्न होता इसलिए स्वयभू है। इस पर ही शेष गतिशील लोक टिके हैं। इन छ लोकों में प्रत्येक भू अपने स्व के चारों ओर चक्कर लगा रहा है—पृथ्वी सूर्य के सूर्य परमेष्ठी के और परमेष्ठी स्वयभू के। इस क्रम म यह समझ लेना चाहिए कि भले ही पृथ्वी की दृष्टि से हम यह कह दें कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चक्कर लगा रही है किन्तु सूर्य भी स्थिर नही है। सूर्य के परिभ्रमण का जो केन्द्र है वह परमेष्ठी है और परमेष्ठी के परिभ्रमण का केन्द्र स्वयभू है। स्वय स्वयभू किसी की परिक्रमा नही करता। तीन भूमि और तीन द्यौ की बात ऋग्वेद में बारम्बार कही गई है—*तिस्रो भूमीर्धारयन्त्रीँरुत द्यून्त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्। ऋतेनादित्या महि वो महित्व तदर्यमन्वरुण मित्र चारु* (ऋग्वद २ २७ ८) वस्तुत यह बात ऋग्वेद में बारम्बार दोहराई गई है कि तीन द्यौ और तीन पृथिवी हैं। (ऋग्वद १ ३४ ८ ।१ ३५ ६) पृथिवी को माता और द्यौ को पिता कह कर यहाँ भी ऋग्वद का ऋषि अग्नि और सोम के सम्बन्ध को ही ध्यान में रखे है। (ऋग्वेद १ ६४ १०)

इस प्रकार पूरे विश्व को हम तीन प्रकार से विभाजित कर सकते हैं—१ सात व्याहृतियाँ २ पाँच मण्डल और ३ तीन धाम। पाँच मण्डलों को जब तीन धाम में बाँटते हैं तो स्वयभू और परमेष्ठी परम धाम है सूर्य मध्यम धाम है और पृथिवी तथा चन्द्रमा अवमधाम है। इन तीनों धामों का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है—*या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मनुतेमा। शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधाव स्वय यजस्व तन्व वृधान* (ऋग्वेद १० ८१ ५) यही तीन द्यावापृथ्वी है।

तीन द्यावापृथिवी

प्रारम्भ में शक्ति का एक सम रूप था जिसे आप कहा जाता है उसमें तरङ्गों का स्पन्दन प्रारम्भ हुआ। इससे उसमें बिन्दु उत्पन्न हुए जो प्रकाश और तेज के पुञ्ज बन गये। समभाव से विपरीत शक्ति की अवस्था हिरण्यगर्भ है जिसमें व्यक्त हिरण्य समाहित है। शक्ति में क्षोभ उत्पन्न होता है। क्षोभ के पहले की अवस्था सयती अर्थात् शान्त अवस्था है। क्षुब्ध अवस्था क्रन्दसी है और उस क्षोभ से उत्पन्न होने वाली अवस्था रोदसी है। इस प्रकार भू भुव स्व क्षोभ

के अनन्तर की स्थिति है स्व मह जन क्षोभ की स्थिति है और जन तप सत्यम् क्षोभ के पहले की स्थिति है। भू भुव स्व हमारी द्यावापृथ्वी है जिसे रोदसी कहते हैं। स्व मह जन की त्रिलोकी में परमेष्ठी है जहाँ क्षोभ प्रारम्भ होता है और जन तप सत्यम् क्षोभ के पहले की स्थिति है जिसमें स्वयभू मण्डल है। क्षोभ से सूर्य का जन्म होता है। वह समुद्र के बीच मानो एक जल बिन्दु के समान है।

इनमें चन्द्रमा भू पिण्ड के भू पिण्ड सूर्य के सूर्य परमेष्ठी के और परमेष्ठी स्वयभू के चारों ओर परिभ्रमणमाण है। इनमें चन्द्रमा पर ज्योति है भू पिण्ड रूप ज्योति है सूर्य पिण्ड स्वज्योति है। परमेष्ठी ऋतपिण्ड है। स्वयभू सत्य पिण्ड है। इन पाँच पर्वों का वद में अनेकत्र वर्णन है।

सूर्य से परे परमेष्ठी

उपर्युक्त पाँचों पिण्डों में चन्द्रमा तो स्पष्ट ही सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित है साथ ही साथ स्वय सूर्य भी परमेष्ठी के सोम से अपनी अग्नि को प्रज्वलित रखता है—*परमेष्ठी त्वा सादयतु दिव पृष्ठे व्यचस्वती प्रथस्वती भास्वती रश्मिवतीमा या दिव भास्यापृथिवीमोर्वन्तरिक्ष दिव यच्छ —सूर्यस्त्वाभिपातु*। (मैत्रायणीसहिता २ ।८ ।१४) क्योंकि अग्निमात्र का स्वभाव है कि वह सोम की आहुति के बिना प्रज्वलित नही रह सकती। सोम ऋत रूप है इसलिये परमेष्ठी को ऋत कहा गया है—*ऋतमेव परमेष्ठी* (तैत्तिरियब्राह्मण १ ।५ ।५) इसलिये परमेष्ठी का "आप" कहा जाता है—*आपो वै प्रजापति परमेष्ठी* (शतपथब्राह्मण ८ ।२ ।३ ।१३) इस परमेष्ठी से जिस आप की वर्षा होती है उसका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट है—*परमाद्वा एतत्स्थानाद्वर्षति यद्दिवस्तस्मात्परमेष्ठी नाम*। (शतपथ ब्राह्मण ११ ।१ ।६ ।१३ १०) एक कामप्र यज्ञ का वर्णन शतपथ ब्राह्मण में एक कथा के रूप में दिया है। शतपथ ब्राह्मण की कथाए किस प्रकार सृष्टि विद्या का मर्म खोलती है उसका एक निदर्शन यह सन्दर्भ है अत इसे सानुवाद उद्धृत किया जा रहा है।

> *स ऐक्षत प्रजापति। इम वा आत्मन प्रतिमामसृक्षि यत्सवत्सरमिति तस्मादाहु प्रजापति सवत्सर इत्यात्मनो ह्येत प्रतिमामसृजत यद्वेव चतुरक्षर सवत्सरश्चतुरक्षर प्रजापतिस्तेनो हैवास्यैष प्रतिमा। ता वा एता। प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्ताग्निरिन्द्र सोम परमेष्ठी प्राजापत्य। ता सहस्रायुषो जज्ञिरे। ता यथा नद्यै पार परापश्यदेव स्वस्यायुष पार पराचख्यु। ता अर्चन्त्य श्राम्यन्त्यश्चेरु। तत एत परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यद्यद्दर्शपूर्णमासौ ताभ्यामयजत ताभ्यामिष्ट्वा कामयताहमेवेद सर्वं स्यामिति स आपोऽभवदापो वा इद सर्वं ता यत्परमे स्थाने तिष्ठन्ति यो हीहाभिखनेदप एवाभिनिन्देत्परमाद्वा एतत् स्थानाद्वर्षति यद्दिवस्तस्मात्परमेष्ठी नाम। स परमेष्ठी प्रजापतिं पितरमब्रवीत्। कामप्र वा अहं यज्ञमदर्श तेन त्वा याजयानीति तथेति याजयत्स इष्ट्वा कामताहमेवेद सर्व स्यामिति स प्राणोऽभवत् प्राणो वा इद सर्वमय वै प्राणो योऽय पवते स प्रजापतिस्तस्य दृष्टिर्यदेव वेदेत्याह्वालीति यद्वैकिंच प्राणि स प्रजापति स यो हैवमेता प्रजापतेर्दृष्टिं वेदाविरिव हैव भवति। स प्रजापतिरिन्द्र*

पुत्रमब्रवात्। अनेन त्वा कामप्रेणयज्ञेन याजयानि येन मामिद परमेष्ठ्ययीयजदिति तथेति तमयाजयत्स इष्ट्वाकामयताहैमेवेद सर्व स्यामिति स वागभवद्वाग्वा इद सर्व तस्मादाहुरिन्द्रो वागिति॥ स इन्द्रोऽग्नीषोमौ भ्रातरावब्रवीत्। अनेन वा कामप्रेण यज्ञेन याजयानि येन मामिद पिता प्रजापतिरयीयजदिति तथेति तावयाजयताविष्ट्वाकामयेतामावमेवेद सर्व स्यावेति तयोरन्नाद एवान्यतरोऽभवदन्नमन्यतरोऽन्नाद एवाग्निरभवदन्न सोमोऽन्नादश्च वा इद सवमन्न च।

अर्थात् प्रजापति ने सोचा और अपनी प्रतिमा बनायी। उसकी यही प्रतिमा सम्वत्सर है इसलिए सम्वत्सर को प्रजापति कहते हैं क्योंकि सम्वत्सर में भी चार अक्षर हैं। अत यह चार अक्षर वाले प्रजापति का प्रतिमा है। प्रजापति से देवता उत्पन्न हुए—अग्नि इन्द्र सोम परमेष्ठी और स्वयम्भू। ये देवता सहस्र वर्ष की आयु वाले हुए। जैसे कोई व्यक्ति नदी का दूसरा किनारा देख ले ऐसे इन्होंने अपनी आयु का छोर देख लिया। वे प्रज्वलित होकर श्रम करते हुए विचरण करते रहे। परमेष्ठी प्राजापत्य ने दर्शपूर्णमास यज्ञ देखा। उससे यज्ञ किया और यह कामना की कि यह सब कुछ मैं बन जाऊं। वह आप हो गया। यह सब कुछ आप ही है। यही कारण है कि परम स्थान में स्थित है जो खोदे वह भी नीचे जल ही पाता और परम द्यौ से जल ही बरसता है इसलिए उसका नाम परमेष्ठी है। उस परमेष्ठी ने अपने पिता प्रजापति से कहा—मैंने कामप्र यज्ञ को जाना है। उसी से मैं तुम्हें यज्ञ करवाऊगा। प्रजापति ने कहा—ठीक है। परमेष्ठी ने प्रजापति को यज्ञ करवाया। वह प्राण हो गया। यह सब कुछ प्राण ही है जो यह बह रहा है वह प्रजापति है उसकी दृष्टि जो जानती है—वह बहता है। जो भी प्राणी है प्रजापति है जो प्रजापति की दृष्टि जानता है वह मानों प्रकट हो जाता है। उस प्रजापति ने अपने पुत्र इन्द्र से कहा—मैं तुम्हें कामप्र यज्ञ कराऊगा जो यज्ञ मुझे परमेष्ठी ने करवाया है। इन्द्र ने कहा—ठीक है। प्रजापति ने इन्द्र को यज्ञ करवाया। इन्द्र ने चाहा कि मैं यह सब कुछ हो जाऊं। इन्द्र वाक् हो गया। वह सब कुछ वाक् ही है इसलिए कहते हैं कि इन्द्र वाक् है। उस इन्द्र ने अपने दो भाई अग्नि और सोम से कहा—मैं तुम्हें वही कामप्र यज्ञ करवाऊगा जो मुझे मेरे पिता प्रजापति ने करवाया। अग्नि और सोम ने कहा—ठीक है। उन दोनों ने यज्ञ किया और चाहा कि हम दोनों सब कुछ हो जायें। उन में से एक अन्नाद हो गया और एक अन्न हो गया। अन्नाद ही अग्नि हो गया और अन्न सोम। यह सब कुछ अन्न और अन्नाद ही है।

इस सन्दर्भ में पाँच देवता पाँच लोक और क्षर की पाँच कलाओं का स्पष्ट उल्लेख है। क्षर को इन पाँच कलाओं से बने पाँच लोकों की समष्टि ही विश्व है।

कामप्र यज्ञ में स्वय स्वयम्भू ने अपनी आहुति दी तो सृष्टि का सर्जन हुआ। हमारे अध्यात्म में भी निरन्तर यज्ञ हो रहा है जिसके द्वारा अन्न ऊर्क् में तथा ऊर्क् प्राण में परिवर्तित होता रहता

है। यह भी यज्ञ का एक स्वरूप है—*अन्नोर्क् प्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञ* । इसी जठराग्नि को वैश्वानर भी कहते हैं—*अयमग्निर्वैश्वानर योऽयमन्त पुरुषे। येनेदमन्न पच्यते यदिदमद्यते* (शतपथब्राह्मण १४ ८ १० १) अग्नि वायु और आदित्य तीनों का समन्वय है किन्तु अग्नि तत्त्व इसमें मुख्य है इसलिए इसे अग्नि कहा जाता है—*स य स वैश्वानर । इमे स लोका । इयमेव पृथिवी विश्वमग्निर्नर । अन्तरिक्षमेव विश्व वायुर्नर । द्यौरेव विश्वमादित्यो नर* (शतपथब्राह्मण ९ ३ १ ३) प्रश्न होता है कि वैश्वानर की इस क्रिया से हमारा शरीर कैसे बनता है ?

अध्यात्म यज्ञ

हम कह चुके हैं कि कामप्र यज्ञ में स्वय स्वयम्भू ने अपनी आहुति दी तो सृष्टि का सर्जन हुआ। हमारे अध्यात्म में भी निरन्तर यज्ञ हो रहा है जिसके द्वारा अन्न ऊर्क् म तथा ऊर्क् प्राण में परिवर्तित होता रहता है। यह भी यज्ञ का एक स्वरूप है—*अन्नोर्क प्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञ*। जठराग्नि अन्न को पचाती है यह भी पहले कहा जा चुका है। इसी जठराग्नि को वैश्वानर भी कहते हैं—*अयमग्निर्वैश्वानर योऽयमन्त पुरुषे। येनेदमन्न पच्यते यदिदमद्यते* (शतपथ ब्राह्मण १४८.१० १) यह वैश्वानर अग्नि वायु और आदित्य तीनों का समन्वय है किन्तु अग्नि तत्त्व इसमें मुख्य है इसलिए इसे अग्नि कहा जाता है—*स य स वैश्वानर । इमे स लोका । इयमेव पृथ्वी विश्वमग्निर्नर । अन्तरिक्षमेव विश्व वायुर्नर । द्यौरेव विश्वमादित्यो नर* (शतपथ ब्राह्मण ९ ३ १ ३) प्रश्न होता है कि वैश्वानर की इस क्रिया से हमारा शरीर कैसे बनता है ?

दधि, मधु, घृत से अन्न का निर्माण

अग्नि का काम है—विशकलन। जो अन्न जठराग्नि म गया वह विशकलन से दो भागों में बँटा। कुछ भाग रस बन गया कुछ बच गया। जो बचा उस में फिर विशकलन हुआ। उसका कुछ भाग रुधिर बना कुछ फिर बच गया। इस प्रकार बचते हुए भाग के माध्यम से क्रमश मास मेद अस्थि मज्जा और शुक्र का निर्माण हुआ। इन सात धातुओं का निर्माण अन्न के पार्थिव भाग से हुआ जिसे दधि कहा जाता है।

अन्तिम धातु शुक्र का जब अग्नि से फिर विशकलन हुआ तो अन्न का आन्तरिक्ष्य भाग प्रकट हुआ। अन्न का यह आन्तरिक्ष्य भाग ओज कहलाता है। यही घृत है।

इस ओज की जठराग्नि में फिर आहुति पडी तो अन्न का दिव्य भाग जो मधु कहलाता है मन में परिणत हो गया। इस प्रकार अन्न ही मन में बदला—*अन्नमय हि सौम्य मन* ।

अन्न से जो ऊर्क् अर्थात् ऊर्जस्विता होती है वही प्राण में बदल जाती है—*प्राणो वान्नम्* (तैत्तिरीय आरण्यक ९७) अन्न से ऊर्क् ऊर्क् से प्राण—यही अध्यात्म यज्ञ है।

ऊपर हमने अन्न के जिन तीन भागों का उल्लेख किया उनमें दधि पार्थिव भाग है जो अन्न का घन भाग है। अन्न में स्निग्धता या जो चिक्कणता रहती है वही घृत भाग है। अन्न का तीसरा भाग मधु है जो सौर अश से आता है। इसी से अन्न में मिठास पैदा होता है। दधि से घन अश बनता है। मधु से रस रक्त शुक्र आदि तरल द्रव्य बनते हैं। इन तीनों अशों का उल्लेख

शतपथ ब्राह्मण में है—*एतदु परममन्न यद्दधि मधु घृतम्* (शतपथ ब्राह्मण ९।२।१।१२)

इसक अतिरिक्त अन्न में एक चौथा अश अमृत है यही सोमरस कहलाता है। यही हमें तृप्ति दता है—*रस इव खलु वा अन्नम्* (तैत्तिरीय सहिता २।१।७।५) इसका सम्बन्ध परमेष्ठी लोक से है। यातयाम (बासी) भोजन में सोम की मात्रा नहीं रहती इसलिये वह रसीला नहीं होता।

गोदुग्ध आदर्श अन्न

वैदिक सस्कृति में गौ का बहुत महत्त्व है। इसका कारण यह है कि गौ में पृथ्वी अन्तरिक्ष द्यौ और परमेष्ठी इन चारों लोकों के देवताओं का निवास है इसलिये उसके दूध में दधि घृत मधु और अमृत चारों तत्त्व उपलब्ध होते हैं। इसलिये उसे उत्पीडित करना निषिद्ध है।

यहाँ पर यह चर्चा प्रासङ्गिक होगी कि वसु पृथ्वी के देवता हैं—*वसव पृथिवीक्षित* (तैत्तिरीयारण्यक १।१२।४।१) रुद्र अन्तरिक्ष के देवता हैं—*रुद्रेभ्यो ये अन्तरिक्षे येषा वात इषव* व अन्तरिक्ष क अधिपति हैं—*रुद्रा पितामहा अन्तरिक्षाधिपतय* (काठकसकलन १४।१४) आदित्य द्युलोक के देवता हैं—*दिव लोकाना जयत्यादित्य देव देवानाम्* (जैमिनीयब्राह्मण ११२७) तीनों लाकों के इन तीनों देवताओं का और परमेष्ठी के अमृत का निवास गौ में है—

माता रुद्राणा दुहिता वसूना स्वसादित्यानाममृतस्य नाभि ।
प्र नु वोच चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥ (ऋग्वद ८।१०१।१५)

स्पष्ट है कि गौ में क्योंकि चारों लाकों के देवों का निवास है इसलिये उसके दूध में अमृत से स्वादुता घृत से स्निग्धता और ओजस्विता तथा मधु से धातु वर्धकता तो आती ही है अमृत तत्त्व से रसायनता भी आती है। अन्य भैंस बकरी इत्यादि के दूधों में शेष तत्त्व तो हैं किन्तु अमृत तत्त्व गो दुग्ध में विशेष है—

स्वादु पाकरस स्निग्धमोजस्य धातुवर्धनम् ।
प्राय पय तत्र गव्य तु जीवनीय रसायनम् ॥

स्पष्ट है कि गौ के प्रति विशेष श्रद्धा का आधार वेद में प्रतिपादित अन्न विज्ञान है न कि अन्ध श्रद्धा।

मनुष्य यज्ञ के नियमो का अतिक्रान्ता

अग्नि में सोम की आहुति का नियम सार्वभौम है। सभी अन्न अन्नादभाव से बँधे हुए हैं। अन्न अन्नादभाव एक यज्ञ है। उसके नियम हैं। उन नियमों का उल्लघन होने पर यज्ञ दूषित होता है प्रकृति का ऋजु मार्ग अवरुद्ध होता है। इस प्राकृतिक यज्ञ की व्यवस्था दूषित करने में मनुष्य अग्रणी है। इस बात को एक कथा द्वारा ब्राह्मणग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है। प्रजापति से असुर देवता पितर मनुष्य और पशु अपनी आजीविका के सम्बन्ध में जिज्ञासा लेकर गये। प्रजापति ने देवताओं से कहा कि स्वाहापूर्वक दिया हुआ यज्ञ का अन्न तथा सूर्य का प्रकाश तुम्हारा अन्न होगा जिसे वर्ष में एक बार उत्तरायण में तुम लोगे। पितरों से कहा कि स्वधापूर्वक दिया गया

भोजन तुम्हारा अन्न हागा। जिसे तुम महीने में एक बार लोगे। चन्द्रमा तुम्हारा प्रकाश होगा मनुष्यों से कहा कि तुम्हारा अन्न नम होगा जिसे तुम साय प्रात दो समय करोगे अग्नि तुम्हारा प्रकाश होगा। पशुओं से कहा कि तुम्हारा प्रकाश मनुष्य होंग तुम्हें जब जो मिल जाये वही तुम्हारा भोजन है। असुरा स कहा कि छल माया आदि तुम्हार अन्न हैं। अज्ञान ही तुम्हार लिय प्रकाश है।

प्रजापति ने जो आज्ञा जिसको दी वे सभी उसका पालन करते हैं। कवल एक मनुष्य ही उसका अतिक्रमण करता है। इसी कारण मनुष्य को अनुशासित करन के लिये शास्त्र की आवश्यकता है किसी और के लिये नही।

प्रकृति में चलने वाले यज्ञ में देव पितर पशु असुर सभी अपना अपना यागदान यथावत् देते हैं किन्तु एक मनुष्य ही ऐसा है जा यज्ञ के नियमों का अतिक्रमण करता है। इस पर भा महाभारत का कथन है कि इन सब में श्रेष्ठ मनुष्य ही है—*गुह्य तदिद ब्रवीमि नहि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित्।* मनुष्य में समस्त दवताओं का निवास है—*नरो वै देवाना ग्राम* (ताण्ड्यब्राह्मण ६ ९ २) मनुष्य समस्त सृष्टि में प्रजापति के सबसे निकट है—*पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्* (शतपथ ब्राह्मण ४।३।४।३) मनुष्य मनु रूप है—*अह मनुरभवम्।* प्रजापति ने मनुष्य का मन से बनाया है इसलिए मनुष्य में सदा मनु रहता है। उसी मनु के कारण मनुष्य को मनुष्य कहते हैं—*स (प्रजापति) देवान् सृष्ट्वा मनस्यतेव तेन मनुष्यानसृजत। तन्मनुष्याणा मनुष्यत्वम्। स यस्तन् मनुष्याणा मनुष्यत्व वेद। मनस्वान् ह भवति* (मैत्रायणी सहिता ४।२।१) जिस मनु तत्त्व के कारण मनुष्य को मनुष्य कहा जाता है वह मनु केन्द्र प्रजापति है। इस मनु को ही अग्नि प्रजापति आदि अनेक नामों से जाना जाता है। प्रजापति के दो रूप हैं—एक नभ्य प्रजापति दूसरा सर्वप्रजापति। नभ्य प्रजापति कन्द्र है। यह अज है। यही समस्त विश्व का जन्म देता है। यह प्राण रूप है। इस अन्त कहा गया है। जितने भी मूर्त पदार्थ हैं उनके अन्तरतम में यही है। इसे ही हृदय कहा जाता है। यह नभ्य प्रजापति अथवा केन्द्र ही पूरे पदार्थ को व्याप्त कर लेता है। कोई भी भूत पिण्ड कितना ही छोटा हो या कितना ही बडा हो अपने केन्द्र प्रजापति में ही प्रतिष्ठित होता है। कन्द्र प्रजापति का स्वरूप है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा। (यजुर्वेद ३१।१९)

यह केन्द्र प्रजापति ही पिण्ड में सब ओर व्याप्त हो जाता है। पिण्ड केन्द्र की ही समष्टि है। केन्द्र के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वेद (ऋग्वेद १०।१२१।१०) में सर्व प्रजापति का यही रूप है—*प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।* मनुष्य केन्द्र प्रजापति से जुडा है यह ही उसका मनुष्यत्व है यह ही उसकी महिमा का रहस्य है। सहस्र पूर्णता का नाम है—*परम सहस्र* (ताण्ड्यब्राह्मण १६।९।२) पुरुष इसी की मूर्ति है—*पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा* (शतपथ ब्राह्मण ७।५।२।१७) मनुष्य का केन्द्रस्थ प्रजापति के साथ यह सम्बन्ध अनुपम है जो अन्य किसी में प्राप्त नही है। यह केन्द्र प्राण है तो विश्व प्रजापति पिण्ड है भूत है। केन्द्र भी ब्रह्म है भूत भी ब्रह्म है। केन्द्र एक है पिण्ड अनेक है। केन्द्र ज्ञान का विषय है पिण्ड विज्ञान का विषय है। केन्द्र का

रूप है सत्य ज्ञान अनन्त—*सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म*। पिण्ड का रूप है—*नित्य विज्ञानमानन्द ब्रह्म*। केन्द्र भूत से आवृत्त है। भूत का अर्थ है नाम और रूप, जो सत्य है केन्द्र का अर्थ है प्राण जो अमृत है। तीनों का समन्वय ही आत्मा है—*तदेतत् त्रयं सदेकमयमात्मा। आत्मा उ एक सन्नेतत्त्रयम्। तदमृतं सत्येन छन्नम्। प्राणो वा अमृतम्। नामरूपे सत्यम्। ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः*। (शतपथब्राह्मण १४ [illegible] ।४ ।३) केन्द्र की ऐसी महिमा है कि जो उसे जान लेता है वह सब कुछ जान लेता है—*एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति*। क्योंकि जो केन्द्र में है वही सर्वत्र है—*यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह*। (कठोपनिषद् २ १ १०) पिण्ड सत्य है। उसका केन्द्र भी सत्य है। इसलिए श्रीमद्भागवत में इस सत्य का भी सत्य कहा है—*सत्यस्य सत्यं ऋतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः*। इस केन्द्र में स्थित होने के कारण ही मनुष्य श्रेष्ठ है। यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि यदि वह श्रेष्ठ है तो फिर वह अतिक्रमण क्यों करता है ? उत्तर यह है कि वह केन्द्र में स्थित होकर प्रजापति की प्रतिमा बना हुआ है किन्तु उसमें कुछ ऐसे तत्त्व भी हैं जो प्रजापति में नहीं है। उसमें अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश रूपी क्लेश हैं कर्म बन्धन हैं और संस्कार हैं। योगसूत्र कहता है कि ये सब ईश्वर में नहीं है—*क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः*। इसी विशेषता के कारण मनुष्य अतिक्रमण कर देता है किन्तु इसके बावजूद वह मनु के या केन्द्र के निकटतम बना रहता है। क्योंकि यद्यपि क्लेश कर्मफल तथा संस्कार देव असुर देवता पितर तथा पशु में भी हैं किन्तु इन्हें केवल मनुष्य ही जीत सकता है अन्य सब इनसे बँधे हुए बँधे बँधाये मार्ग पर ही चलते हैं। यही मनुष्य की इच्छाशक्ति का स्वातन्त्र्य है जो उसे अन्य प्राणियों से पृथक् करता है।

अन्य प्राणियों की तुलना में मनुष्य श्रेष्ठ

शरीर से परे मन है मन से परे बुद्धि बुद्धि से परे अव्यक्त और अव्यक्त से परे पुरुष है। यह पुरुष ही वह केन्द्र है जिसे आत्मा कहा जाता है। शरीर तो सभी प्राणियों का है भले उनमें इन्द्रियाँ हो या न हो। जिनमें इन्द्रियाँ नहीं हैं उन्हें हम भूत कहते हैं जिसका अर्थ है जड। जिन्हें हम प्राणी कहते हैं उनमें इन्द्रियों का विकास हो जाता है। बिना इन्द्रियों वाले भी दो भागों में विभक्त है—असंज्ञ और अन्तः संज्ञ। असंज्ञ पाषाण आदि हैं अन्तः संज्ञ वृक्ष आदि। बहिःसंज्ञ वे हैं जिनमें इन्द्रियों का विकास हो गया है। वे चार हैं—कृमि कीट पक्षी और पशु। इनमें भी कृमि कीट की अपेक्षा पशु पक्षियों में कुछ विशेषता रहती है उसे ही बुद्धि कहते हैं। मन का विकास चन्द्र से होता है यह तैजस है। बुद्धि का विकास सूर्य से होता है, यह प्राज्ञ है। मनु के अनुसार भूतों में प्राणी श्रेष्ठ है प्राणियों में बुद्धिजीवी श्रेष्ठ है, किन्तु मनुष्य इन सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि उसमें बुद्धि के बाद उस आत्मा के विकास की भी सम्भावना है जिसे हमने केन्द्र कहा है—

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः ॥

मनुष्य का पुरुषभाव

आत्मा सर्वव्यापक है और विभूति सम्बन्ध से सब में हैं किन्तु उसकी अभिव्यक्ति मनुष्य में ही मिलती है। जीव सबमें है। जीव का सम्बन्ध अक्षर प्रकृति से है। आत्मा का सम्बन्ध अव्यय से है। अक्षर का सम्बन्ध क्रिया से है अव्यय का सम्बन्ध ज्ञान से है। अव्यय में कभी कोई विकार नही आता। अव्यय पुरुष व्याकरण के अव्यय की भाँति सभी स्थितियों में एक सा है—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्। (गोपथब्राह्मण १।१।२६)

अक्षर में निरन्तर क्रिया होती रहती है। इस क्रिया को क्षरण कहते हैं। क्षरण होने पर भी इस अक्षर का क्षय नही होता इसलिय इसे अक्षर कहा जाता है—*स यद् एभ्य सर्वेभ्यो भूतेभ्य क्षरति न चैनमतिक्षरन्ति तस्मादक्षरम्।* (ऐतरेयब्राह्मण १२।२।२) यह निरन्तर गतिशील है इसलिये इसे इन्द्र भी कहा गया है—*कतमत्तदक्षरमिति। यत् अक्षरन्नाक्षीयतेति। इन्द्र इति* (जैमिनीय ब्राह्मण १।१४।२।८) सब जीवों में अक्षर तत्त्व मुख्य है इसलिये वे जीव हैं पुरुष नहीं। मनुष्य में अव्यय तत्त्व केन्द्र में है इसलिये केवल मनुष्य को ही पुरुष कहा जाता है। पुरुष असङ्ग है—*असङ्गो ह्य पुरुष* (शतपथब्राह्मण १४।७।१।१७) व्युत्पत्ति की दृष्टि से पुरुष केन्द्र सहित है क्योंकि वह पुर् में अर्थात् एक सीमा में शयन करता है— पुरि शेते" सीमा ही पुर है। र् और ल् में अभेद है। शतपथ ब्राह्मण कहता है—*लेखा हि पुर* (शतपथ ब्राह्मण ६।३।३।२५) लेखा अर्थात् रेखा अर्थात् सीमा। जो परात्पर तत्त्व है वह माया के द्वारा परिसीमित होते ही पुरुष बन गया। इस पुरुष से ही सृष्टि हुई। इस स्रष्टा पुरुष से सीधा सम्बन्ध होने के कारण मनुष्य भी पुरुष कहलाता है। हमने कहा कि पुरुष असङ्ग है। यह असङ्गता ही मनुष्य को शेष जीवों से श्रेष्ठ बनाती है।

बुद्धिमान् ठीक और गलत में विवेक करके ठीक को अपना सकता है गलत को छोड सकता है किन्तु यहाँ तक प्रकृति के गुणों का साम्राज्य है गुणातीत होकर ठीक और गलत से ऊपर उठना मनुष्य के ही सामर्थ्य में है। इसलिये उसका पुरुषार्थ तम प्रधान अर्थ रज प्रधान काम और सत्व प्रधान धर्म तक ही सीमित नही अपितु वह त्रिगुणातीत मोक्ष की भी साधना करता है। धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों पुरुषार्थ हैं किन्तु परम पुरुषार्थ मोक्ष है क्योंकि इसकी साधना केवल पुरुष ही कर सकता है देवता भी नही। यह बुद्धि से परे है। कठोपनिषद् (१ २ १४) के अनुसार यह धर्म और अधर्म से भी परे है—*अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।*

पुरुषार्थ चतुष्टय

आत्मा केन्द्र में है। यह परम सत्य है। उपनिषद् इसे सत्य का भी सत्य कहते हैं—*सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते तत्र देवा सर्वे एकीभवन्ति।* किन्तु जिस बुद्धि मन और शरीर से यह आवृत है वे भी सत्य हैं। नाम और रूप भी सत्य हैं—*नामरूपे सत्यम्* (शतपथब्राह्मण १४।४।४।३) एसी स्थिति में मनुष्य परम सत्य आत्मा के पुरुषार्थ मोक्ष को केन्द्र में रखकर भी शरीर मन और बुद्धि की उपेक्षा नहीं करता अत अर्थ काम और धर्म का भी यथायोग्य सेवन करता है—*धर्मार्थकामा*

सममेव सेव्या यो ह्येकसक्त स जन जघन्य । इन चार पुरुषार्थों के बीच सामञ्जस्य की स्थापना ही सन्तुलित वैदिक जीवन दृष्टि है जिसकी नीव पर वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था खडी है ।

ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचर्य के पालन द्वारा शरीर को पुष्ट किया जाता है । गृहस्थाश्रम में युक्त आहार विहार रखते हुए मन को सन्तुष्ट किया जाता है । वानप्रस्थ में ज्ञान की साधना द्वारा बुद्धि को तृप्त किया जाता है और सन्यासाश्रम में आत्मा से जुडकर आप्तकाम हुआ जाता है । यह एक मनुष्य की जीवनयात्रा की समय सारिणी है जिसे आश्रम व्यवस्था कहा जाता है । इसमें अर्थ काम के अभ्युदय तथा मोक्ष के निश्रेयस के बीच आपातत दिखाई देने वाले विरोध का परिहार करता है बुद्ध्यनुबन्धी धर्म । इसलिये कणाद ने कहा—*यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धि स धर्म* (वैशेषिक सूत्र १।१।२)

धर्म से मोक्ष होता है यह बात तो हमारी समझ में आती है—लेकिन यह बात भी परमार्थत ठीक नही है क्योंकि जैसा हमने ऊपर कहा है कि मोक्ष तो धर्म अधर्म दोनों से परे है—तथापि यह बात तो बिल्कुल ही समझ में नही आती कि धर्म से अर्थ और काम की सिद्धि होती है इसलिये इस बात को महाभारत में व्यास को दोनों हाथ उठाकर बलपूर्वक कहना पडा—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्म किन्न सेव्यते ॥

व्यास की बात किसी ने नही सुनी इसलिये उन्हें बुद्धियोग की प्रतिपादक कृष्णोक्त गीता का समावेश महाभारत में ही करना पडा जिसमें धर्म प्रधान बुद्धियोग का प्रतिपादन हुआ ।

योगसूत्र में पाँच क्लेश गिनाये—अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश *अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा पञ्चक्लेशा* । इनमें राग और द्वेष को एक शब्द में आसक्ति कह सकते हैं । सांख्य दर्शन में बुद्धि के भी चार ही गुण गिनवाये गये हैं—ज्ञान ऐश्वर्य वैराग्य और धर्म । इन चार गुणों से क्रमश चार दोष निवृत्त होते हैं । ज्ञान से अविद्या दूर होती है यह स्पष्ट है । अस्मिता का अर्थ है अपने को छोटा मानना । बुद्धि का ऐश्वर्यभाव इसे दूर करता है । ऐश्वर्य का अर्थ है—अपनी परिपूर्णता का आभास । आसक्ति वैराग्य से दूर होती है । अभिनिवेश अर्थात् मृत्यु का भय धर्म से दूर होता है । इस प्रकार बुद्धियोग ही धर्म की उपासना है । यही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है ।

प्रश्न शेष रहा अर्थ और काम का । अर्थ का सम्बन्ध शरीर से है काम का मन से । कामना की साहित्य में बहुत निन्दा है किन्तु इस सृष्टि के प्रारम्भ में काम ही उत्पन्न हुआ था—*कामस्तदग्रे समवर्तताधि* (ऋग्वेद १०।१२९) अत कामनाओं को सर्वथा निर्मूल नही किया जा सकता । काम के आधार पर ही सब आदान प्रदान टिका है—*कामो हि दाता काम प्रतिगृहीता* (तैत्तिरीयब्राह्मण २।२।५।६) इसलिये सारा यज्ञ काम से ही प्रेरित होता है—*सर्वेभ्यो हि कामेभ्यो यज्ञ प्रयुज्यते* (तैत्तिरीयसंहिता २।४।११।२) जो यज्ञ स्वयम्भू से लेकर परमेष्ठी सूर्य आदि ने किया था वह भी कामप्र अर्थात् काम से सम्बद्ध कहलाया ।

वेदाधिगम की काम्यता

मनु का इस सम्बन्ध में स्पष्ट उद्घोष है कि कामनायें प्रशस्त नही है किन्तु वेद के स्वाध्याय और वेदोक्त कर्म के सम्पादन की कामना करनी चाहिये क्योंकि अकामता सम्भव ही नहीं है—

काम्यो हि वेदाधिगम: कर्मयोगश्च वैदिक:

वेदाधिगम और वैदिक कर्मयोग का क्या अर्थ है जिसकी कामना करने का आदेश हमें मनु दे रहे हैं। वेद देवविद्या है। देवविद्या प्राणविद्या है। भूत तो हमें स्थूल रूप में प्रत्यक्ष में दिखाई देते ही हैं, सूक्ष्म भूत का भी अनुमान किया जा सकता है, किन्तु प्राणविद्या अथवा देवविद्या का रहस्य साक्षात्कृतधर्मा ऋषि ही बता सकता है। इसलिये जैसा कि हमने पहले कहा वेद से हमें यह ज्ञान प्राप्त होता है जो ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान से ज्ञात नही हो सकता—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एतद्विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

अर्थ स्पष्ट है। हमारे इस पञ्चपर्वा विश्व में सूर्य तक की त्रिलोकी प्रत्यक्ष अथवा अनुमानगम्य है। व्यक्ताव्यक्त परमेष्ठी अथवा अव्यक्त स्वयम्भू का ज्ञान वेदाधिगम से ही होगा। अव्यक्त के ज्ञान के बिना व्यक्त का ज्ञान भी अधूरा ही है क्योंकि व्यक्त अव्यक्त में ही टिका है। व्यक्त का ज्ञान तो सहज ही इन्द्रियों से हो जाता है किन्तु अव्यक्त के ज्ञान के लिये वेदाध्ययन करना पड़ता है। इसलिये वेदाध्ययन की कामना करनी चाहिये। जो वेदाध्ययन नही करता वह प्रत्यक्ष को ही जानता है परोक्ष को नही। उसकी स्थिति पशु की सी है वह केवल इन्द्रियों से देखता भर है इन्द्रियागोचर के पीछे छिपे हुए रहस्य को नही जानता।

वेद यदि देवविद्या है तो वैदिक कर्मयोग यज्ञविद्या है। यज्ञविद्या देवविद्या पर आधृत है क्योंकि यज्ञ में शतपथब्राह्मणानुसार वही किया जाता है जो देवता करते हैं—*यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणि*। हमने ऊपर देखा कि मनुष्य के अतिरिक्त कोई भी प्रजापति की बनाई मर्यादा का उल्लंघन नही करता। देव नियमित रूप से कल्याण के मार्ग का अनुसरण करते हैं। वेद (ऋग्वेद ५५११५) कहता है कि हम भी उन्ही का अनुकरण करें—*स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव*।

यज्ञ की प्रतीकात्मकता

यह तो वैदिक कर्मयोग की बात हुई। वैदिक कर्मयोग में जहाँ आधिदैविक यज्ञों का विस्तार से वर्णन है वहा आध्यात्मिक यज्ञ का भी कम विस्तार नही है। तैत्तिरीय आरण्यक का एक सन्दर्भ महत्त्वपूर्ण है। लम्बा होने पर भी यह सन्दर्भ इसलिये दिया जा रहा है कि इससे वैदिक यज्ञ की अवधारणा की व्यापकता स्पष्ट होती है—

यज्ञस्यात्मा यजमान: श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेद: शिखा हृदयं यूप: काम आज्यं मन्यु: पशुस्तपोऽग्निर्दम: शमयिता दक्षिणा वाग्घोता प्राण उद्गाता चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा श्रोत्रमग्नीद् यावद् ध्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविर्यत् पिबति

तदस्य सोमपान यद्मत तदुपसदा यत्सचरत्युपविशत्युतिष्ठते च स प्रवर्ग्यो यन्मुख तदाहवनीयो या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञान तज्जुहोति यत्सायप्रातरत्ति तत्समिध यत्प्रातर्मध्यन्दिन साय च तानि सवनानि ये अहोरात्रे ते दर्शपूर्णमासौ येऽर्धमासाश्च मासाश्च ते चातुर्मास्यानि य ऋतवस्ते पशुबन्धा ये सवत्सराश्च परिवत्सराश्च तऽहर्गणा सर्ववेदस वा एतत्सत्र यन्मरण तदवभृथ एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्र सत्रम्।
(तैत्तिरीय आरण्यक १० ।६४ ।१)

अर्थात् आत्मा यज्ञ का यजमान है। श्रद्धा पत्नी है। शरीर समिधा है। वक्षस्थल वेदी है। लोम कुशा है। ज्ञान शिखा है। हृदय यूप है। काम घृत है। मन्यु पशु है। तप अग्नि है। दम शान्तिप्रद है। वाक् दक्षिणा है। प्राण होता है। चक्षु उद्गाता है। मन अध्वर्यु है। श्रोत्र ब्रह्मा है। जब तक व्यक्ति जीवित है तब तक उसकी दीक्षा है। जो खाता है वही हवि है। जो पीता है वह इसका सोमपान है। जो रमण करता है वह उपसद है। जो चलता है बैठता है खड़ा होता है वह प्रवर्ग्य है। जो मुख है है वह आहवनीय है। जो साय प्रात खाता है वही समिधा है। जो प्रात मध्याह्न और साय है वे सवन हैं। रात और दिन दर्शपूर्णमास हैं। अर्धमास और मास चातुर्मास्य हैं। सवत्सर और परिवत्सर अहर्गण हैं। यह सर्ववेदसत्र है। मरण ही इसका यज्ञान्त स्नान है। यह अग्निहोत्र सत्र आजीवन चलता है।

जो वैदिक कर्मकाण्ड को नीरस यान्त्रिक निरर्थक उबा देने वाला 'रिच्युअल' समझते हैं वे उपर्युक्त सन्दर्भ को पढ़कर यह समझ सकते हैं कि वैदिक महर्षि की यज्ञ के प्रति कितनी व्यापक दृष्टि थी।

काम और कर्म

यज्ञ की यह व्यापक दृष्टि ही गीता के कर्मयोग का आधार बनी। गीता ने स्पष्ट घोषणा की कि यज्ञ के अतिरिक्त और किसी भी प्रयोजन के लिये कर्म किया जाये तो वह बन्धन का कारण है किन्तु यज्ञ के लिये किया जाने वाला कर्म बन्धन का कारण नहीं है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽय कर्मबन्धन ।

वस्तुस्थिति यह है कि पुरुष प्रजापति की प्रतिमा है। स्वय प्रजापति का आधा भाग मर्त्य है आधा अमृत। ऐसी स्थिति में मनुष्य का भी कल्याण इसी में है कि वह ज्ञान और कर्म दोनों की उपासना करे—

विद्या चाविद्या च यस्तद्वेदोभय सह। अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।

इसीलिये यजुर्वेद का आदेश यह भी है कि मनुष्य शतवर्ष की पूर्ण आयु कर्म करते हुए ही व्यतीत करे—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समा ।
एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।

यह भी स्पष्ट है कि कामना के बिना कर्म सम्भव नहीं और कर्म के बिना जीवनयात्रा सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में विवेक से काम लेना होगा। एक कामनायें वे हैं जो हमारी सहज इच्छाओं की पूर्ति का साधन हैं। दूसरी कामनायें वे हैं जिन्हें हमारी लोलुपता ने जन्म दिया है। जो कामनायें सहज हैं उनकी पूर्ति के लिये कर्म करना आत्मोपलब्धि में साधक है। अतः ऐसी कामनायें उपादेय हैं। जो कामनायें हमारे मन की लोलुपता से उत्पन्न हुई हैं वे आत्मोपलब्धि में बाधक हैं। सहज और कृत्रिम कामनाओं के बीच विभेद कर पाना ही कर्म है। सहज ईश्वरेच्छा है। कृत्रिम इच्छा जीवेच्छा है। सहज इच्छा में बुद्धि का नियन्त्रण है। कृत्रिम इच्छा में स्वच्छन्दाचार है। सहज इच्छा से संचालित आहार और विहार ही गीता में 'युक्ताहारविहार' कहा गया है।

कामनाओं का यह प्रवाह गृहस्थाश्रम में सबसे अधिक बलवान् होता है। वहीं यदि हम कामनाओं को नियन्त्रित कर पाते हैं तो हमारा समस्त जीवन प्रशस्त हो जाता है अन्यथा 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्' की अनादि कथा चलती रहती है इसलिये गृहस्थाश्रम को मनु ने ज्येष्ठाश्रम कहा है—

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ (मनु, ३.७८)

गृहस्थ की धुरी पति और पत्नी दोनों के पहियों पर टिकी है। पति और पत्नी के बीच आदान प्रदान का भाव यज्ञ है। पत्नी तभी पत्नी कहलाती है जब वह इस यज्ञ में भागीदार बने। पाणिनि का सूत्र है—*पत्युर्नो यज्ञसंयोगे*।

प्रकृति ने पुरुष को अधूरा बनाया इसलिये उस रिक्त स्थान की पूर्ति के लिये पत्नी की आवश्यकता है—*सोऽयमाकाशः पत्न्या पूर्यते*। कैसे पत्नी और पति एक दूसरे के पूरक बनते हैं इसका उत्तर मन की प्रकृति है। मन का निर्माण सौम्य चन्द्रमा से हुआ। इसलिये सहज ही उसमें रस भाव है। यह रसभाव ही बराबर वालों के प्रति स्नेह कहलाता है। जड़ के प्रति यही भाव काम कहलाता है। छोटों के प्रति यही भाव वात्सल्य तथा बड़ों के प्रति यही भाव श्रद्धा कहलाता है। जब ये चारों भाव एक साथ किसी के प्रति हों तो वह रति है। यह रति पूर्णता की सूचक है। पूर्णता आत्मा में है इसलिये एक रति आत्मरति है जिसका उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में है—*आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स विराट् भवति*। दूसरी ओर स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर परिपूर्ण हो जाते हैं क्योंकि आधा भाग स्त्री है आधा भाग पुरुष। दोनों का मिलन ही परिपूर्णता है—

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥ (मनुस्मृति १।३२)

यही परिपूर्णता दाम्पत्य रति है। स्त्री और पुरुष का यह यज्ञ उस विराट् यज्ञ का भाग है जिससे सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

अव्यय पुरुष की पाँच कलाये

अव्यय की पाच कलाओ का उल्लेख उपनिषदो मे है। मन जब रसचिति करता है तो पहली रसचिति आनन्द कहलाता है। बल वहा है किन्तु श्लथ भाव मे। दूसरी कला विज्ञान कला है जहा बल उद्भूत तो हो जाता है किन्तु उसका रस के साथ कोई अन्तर्यामी सबध नही होता है। यह विज्ञान नाम की दूसरी कला है। यहा नानात्व रहता है इसलिए उसे विज्ञान कहा जाता है।

विज्ञान कला के अनन्तर बल उत्तेजित होने लगता है इसके कारण अन्तश्चिति की जगह बहिश्चिति होने लगती है। यह बहिश्चिति दो कलाओ को जन्म देती है—बल की न्यूनता होने पर प्राणचिति बनती है और बल की अधिकता होने पर वाक् चिति। इस प्रकार यह अव्यय पुरुष भी पाँच कलाओं वाला बन जाता है। अव्यय पुरुष मे कलाओं का आधार रस और बल है इसलिए यह ज्ञानप्रधान है। अक्षर पुरुष की कलाओं का आधार गति आगति है इसलिए अक्षर पुरुष क्रियाप्रधान है। इसकी पाच कलायें ब्रह्मा इन्द्र विष्णु अग्नि तथा सोम हैं। अन्त में अर्थप्रधान क्षर आता है। जिसकी पाच कलाए है—प्राण आप वाक् अन्नाद अन्नम्। इन तीन पुरुषो का १५ कलाओ के साथ वह परात्पर मिलकर षोडशकल पुरुष बनता है जिसका वर्णन उपनिषदों में इन शब्दो मे है कि वह प्रजापति तीन ज्योतियों के साथ षोडशकल बनता है—

प्रजापति प्रजया संरराण
त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥

इस पुरुष का वर्णन गीता (१५ १६ १७) में बहुत स्पष्ट शब्दों में हुआ है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षर सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

उत्तम पुरुषस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृत ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर ॥

इस क्षर भाग से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। वेद (ऋग्वेद १० ९० ४) ने इसे ही ब्रह्म का एक पाद कहा है। तीन पाद परात्पर अव्यय और अक्षर सृष्टि के उपादान कारण नही बनते—

त्रिपादूर्ध्व उदत्पुरुष पादोऽस्येहाभवत्पुन ।
ततो विष्वङ व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥

अश्वत्थ वृक्ष

अव्यय को अमृत अभर को ब्रह्म और क्षर को शुक्र कहा जाता है। ये तीनों एक ही है क्योकि तीनों मे एक ही तत्त्व तीन रूप धारण कर लेता है। वैदिक भाषा जिन प्रतीको का प्रयोग करती है वे बहुत सार्थक हैं। परात्पर सहित अव्यय अक्षर और क्षर को अश्वत्थ कहा गया है जिसका एक अर्थ जो अश्व के समान रहता है—अश्व इव तिष्ठति। घोडा तीन पाँव से पृथ्वी पर टिकता है और एक पाव अस्थिर रहता है। यह अस्थिर पाँव ही क्षर पुरुष है। तीन पाँव परात्पर

अव्यय है और अभर स्थिर है। दूसरी ओर अश्वत्थ का सम्बन्ध काल में है। जो शनै शनै प्रति क्षण बदलते हुए भी टिका रहता है वह अश्वत्थ वृक्ष है। और सब वृक्षों की शाखाएं ऊपर की ओर ही जाती हैं किन्तु अश्वत्थ वृक्ष की शाखाएं नीचे की ओर भी आती हैं। सृष्टि का मूल अव्यय ब्रह्म के मन में उत्पन्न होने वाला काम है। वह मानो सर्वोपरि है। वही सृष्टि का मूल है। अभर भर उसकी शाखाएं हैं जो नीचे की ओर फली हुई हैं। ऐसा अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन कठोपनिषद (२ ६ १) में इस रूप में है—*ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातन*।

तदेव शुक्र तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिल्लोका श्रिता सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ (कठोपनिषद् २ ५ ८)

इसी अश्वत्थ वृक्ष का उल्लेख गीता (१५ १) में भी किया है—

ऊर्ध्वमूलमध शाखमश्वत्थ प्राहुरव्ययम्।
छन्दासि यस्य पर्णानि यस्त वेद स वेदवित्।

गीता के इस श्लोक में छन्दों को उस वृक्ष का पर्ण बताया गया है उसका मूल भी वैदिक साहित्य में है—*अश्वत्थो जायते तस्य वेदा मूल पर्णानि छन्दासि*। (काठकमकलन १८ १ ३) इस ससार अश्वत्थ का वर्णन कठोपनिषद् के उपर्युक्त मन्त्र पर भाष्य करते समय शकराचार्य ने बहुत विस्तार से दिया है।

इस अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन स्वय ऋग्वेद में भी आया है—

अश्वत्थे वो निषदन पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाज इत् किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥ (ऋग्वेद १० ९७ ५)

इस अश्वत्थ के मूल में ब्रह्मा हैं मध्य में विष्णु और अग्रभाग में शिव हैं क्योंकि यह वृक्ष ऊर्ध्वमूल अध शाख है इसलिए स्वयम्भू जो सर्वोपरि हैं उसके मूल में हैं विष्णु जो स्वयम्भू के बाद आने वाले परमेष्ठी के अधिष्ठाता हैं इसके मध्य में हैं और समस्त कल्याण के स्रोत शिवरूप सूर्य इसके अन्त में हैं—

मूलतो ब्रह्मरूपाय मध्यतो विष्णुरूपिणे।
अग्रत शिवरूपाय अश्वत्थाय नमो नम ॥

चतुष्पाद ब्रह्म

ऊपर हमने पुरुष के चार पादों की चर्चा की—परात्पर अव्यय अक्षर और क्षर। सृष्टि के मूल में इस चतुर्थविधता के कारण पूरा विश्व ही चतुर्विध है—*चतुष्टय वा इद सर्वम्*। इसलिए ब्रह्म के चार पाद एक अन्य प्रकार से भी बनाये जा सकते हैं—पुर पुरुष परात्पर और निर्विशेष। पुर का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं कि पुर का सबध सीमा से है। सृष्टि ही पुर है। जिस प्रकार जीव का शरीर है उसी प्रकार यह विश्व ईश्वर का शरीर है। विश्व तीन भागों में बँटा है आधिदैविक आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक। शरीर भी तीन भागों में बँटा है—कारण शरीर सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर। जो इस पुर में रहता है वही पुरुष है। उसके तीन भेद क्षर अक्षर और अव्यय हैं व

क्रमशः अक्षर परावर तथा पर भी कहलाते हैं। क्षर उपादान है अक्षर निमित्त है। अव्यय अविकृत है। जैसे सूर्य का प्रकाश रूप के दर्शन में अपने अस्तित्व मात्र से कारण बनता है—उसी प्रकार अव्यय पुरुष की भी कारणता विभूति सम्बन्ध से समझनी चाहिये।

अव्यय अक्षर और क्षर मिलकर सृष्ट्यात्मक प्रजापति कहलाते हैं। अव्यय पुरुष से परे जो परात्पर है वह अनन्त बल का समुद्र अपरिच्छिन्न है। इसे ही श्रुति में अनिरुक्त प्रजापति कहा गया है। अनिरुक्त प्रजापति अपरिमित है निरुक्त परिमित है—*उभय वेतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चा निरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च तथा यजुष्कृताय कराति यदेवास्य निरुक्त परिमित रूप तदस्य तेन सस्करोत्यथ यो अयजुष्कृताय यदेवास्यानिरुक्तमपरिमित रूप तदस्य तेन सस्करोति।* (शतपथब्राह्मण ६।५।३।७) जहाँ कहीं भी शास्त्र में ऐसा उल्लेख है कि ब्रह्म का वर्णन नहीं किया जा सकता उसे जाना नहीं जा सकता वह परात्पर ब्रह्म का ही उल्लेख है। अव्यय पुरुष को केन्द्र में रखने वाला वेदान्त परात्पर की चर्चा करते समय ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है। अक्षर पुरुष को केन्द्र में रखने वाला साङ्ख्यदर्शन ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करता। क्षर पुरुष को केन्द्र में रखने वाला न्यायवैशेषिक तो स्पष्ट घोषणा करता है कि सभी पदार्थों का अस्तित्व है प्रमेयत्व और अभिधेयत्व है—*षण्णामपि भावानामस्तित्व प्रमेयत्वमभिधेयत्वम्*। स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन को रहस्यवादी बताते समय हम विवेक से काम नहीं लेते। जो परात्पर बल के अनुद्भूत होने से पुरुष भाव में ही नहीं आया वह वाणी से परे है यह एक तथ्य है कोई वाद नहीं। जो पुरुष भाव में आ गया वह सब विचार का विषय है। इसलिए वेद की दृष्टि नितान्त वैज्ञानिक है रहस्यवादी नहीं।

परात्पर ही सत्तासिद्ध है किन्तु परात्पर से ऊपर एक भातिसिद्ध सत्य है उसे निर्विशेष कहते हैं। हम अपनी कल्पना में बल से रहित विशुद्ध रस को भातिसिद्ध के रूप में ही जान सकते हैं क्योंकि वस्तुतः विशुद्ध रस कहीं उपलब्ध नहीं होता। इसे ही निर्विशेष कहा जाता है।

इस प्रकार ब्रह्म के चार पाद जानने के बाद तीन पुरुषों में प्रथम क्षर पुरुष को जानना चाहिए जो कारण सूक्ष्म और स्थूल शरीर के अतिरिक्त संतति और सम्पदा के रूप में रहता है। कारण शरीर अविद्या से बना है। इन्द्रियों की शक्ति सूक्ष्म शरीर है। ये शक्तियाँ पाँच हैं—अग्नि वायु सूर्य तथा दो भेद सोम के—भास्वर सोम और दिक् सोम। पञ्च भूतों से स्थूल शरीर बना है। परिवार के जिन व्यक्तियों को हम अपना समझते हैं वे प्रजा कहलाते हैं। जिन जड पदार्थों को अपना समझते हैं वे वित्त कहलाते हैं। जिन चेतन पशुओं को भी अपना समझते है वे हमारे वित्त हैं। इस प्रकार क्षर पुरुष स्थूल है।

चतुर्वेद

ऋक् की अग्नि और साम का सोम मिलकर पदार्थ का स्वरूप बनाते हैं। जहाँ तक ये है वहीं तक अग्नि और सोम हैं वहीं तक अन्न अन्नाद हैं वहीं तक पदार्थ है। ऋक् का स्पर्श किया जाता है। इसलिए वह मूर्त है। साम का स्पर्श नहीं हो सकता अपितु उसे केवल देखा ही जा सकता है।

रस ऋक् और साम के मध्य यजु है। यजु का देवता वायु है किन्तु वायु आकाश में टिकी है। वायु का यत् और आकाश को जू कहते हैं। इन दो का समन्वय ही यजु है। ऋक् यजु और साम अग्निवेद हैं। अथर्ववेद सामवेद है। यह साम मण्डल को चारों ओर से घेरे है। इसी की शक्ति से अग्निवेद जीवित है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में चारों वेद ब्रह्मा के चार मुख की तरह प्रतिष्ठित हैं और इन्हीं के कारण सब प्रतिष्ठित हैं—

ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा

तथा

त्रय्या वाव विद्याया सर्वाणि भूतानि हन्त त्रयीमेव विद्यामात्मानमभिसंस्करवा इति।

(शतपथ ब्राह्मण १० ।४ ।२ ।२२)

यह पहले कहा जा चुका है कि अग्नि वायु आदित्य के क्षेत्र प्रत्येक पिण्ड में हैं तथा उसके चारों ओर के मण्डल अथर्ववेद में भी हैं।

ये चारों वेद मिलकर यज्ञ का स्वरूप बनाते हैं। उक्थ हृदय है। उसमें जो ऊर्क् उत्थित होता है वह अन्नाद है और वह ऊर्क् निम्न अन्न को ग्रहण करता है वह अशीति है। यह अशीति ऊर्क् अर्थात् रस बनकर प्राण में प्रविष्ट हो जाता है और प्राण उक्थ में विलीन हो जाता है। उक्थ फिर ऊर्क् के द्वारा अशीति को ग्रहण करता है। यही अन्न ऊर्क् और प्राण का अन्यान्यपरिग्रह है जिसे यज्ञ कहते हैं—*अन्नार्कप्राणानामन्यान्यपरिग्रहो यज्ञ*। वेद में ब्रह्मा जिसकी प्रतिष्ठा करते हैं यज्ञ में विष्णु उसकी ही स्थिति बनाते हैं।

ब्रह्मा के द्वारा प्रतिष्ठित और विष्णु के द्वारा आधृत यजुर्वेद के विकार में पञ्चक्लेशरूप बीज पञ्चदेवतारूप देव तथा पंचभूतरूप भूत इन्द्र उत्पन्न करता है। पंचक्लेश वाला बीज कारण शरीर है पंचदेवों वाला सूक्ष्मशरीर है तथा पञ्चभूतों वाला स्थूल [illegible] है। ये पन्द्रह इन्द्र से मिलकर षोडशी पुरुष बनाते हैं। ये इन्द्र की प्रजा हैं जिसके द्वारा बनाये गए शरीर में व्याप्त इन्द्र इन्द्रियों से समस्त भोगों का उपभोग करता है।

इन प्रजाओं के नामरूप कर्म से अग्नि लोक का निर्माण करता है। भू भुव स्व मह जन तप तथा सत्यम् ये सात भुवन हैं।

प्रजा तथा लोक में जो कुछ दिखाई देता है वह वीर्य से सम्पन्न है। यह वीर्य ही धर्म है। इसका निर्माण साम करता है। ये धर्म चार हैं—दिव्यभाव जो शान्तस्वरूप वाला है यही ब्रह्मवीर्य है। वीरभाव उत्साहस्वरूप वाला है वह क्षत्रवीर्य है। पशुभाव ऐसा शान्तभाव है जिसमें आत्मगौरव नहीं है यही विट्वीर्य है। मृत भाव इन सब वीर्यों को स्तम्भित कर देता है उन्हें प्रकट नहीं होने देता।

ब्रह्म में प्राण तत्त्व ही त्रयी को उत्पन्न करता है। वही त्रयी पूर्वोक्त रूप से सारे विश्व में व्याप्त है। आपोमय परमेष्ठी अथर्ववेदमय है। इसी का सामवेद पूरे विश्व में व्याप्त होता है। सूर्य वाङमय है। इसी से प्रत्येक पदार्थ का भौतिक रूप बनता है। अन्नभाव चन्द्रमा से और अन्नादभाव पृथ्वी से आता है।

अध्यात्म में पञ्चपर्वा विश्व का प्रतिनिधित्व

जिस प्रकार विश्व में स्वयम्भू एवं प्राणमय ब्रह्मा का है उसी प्रकार अध्यात्म में गर्भ की प्रतिष्ठा शान्तात्मा ब्रह्मा द्वारा होती है। अभी माता के गर्भ में कोई हलचल नहीं है इसलिये इसे शान्तात्मा कहा जाता है। छठे मास में जब हाथ गर्भ में हलचल प्रारम्भ होता है इन्द्र और विष्णु प्रतिष्ठित हो जाते हैं। विष्णु महानात्मा है। यह यज्ञ स्वभाव वाला है। गर्भ में जिन शक्त्यंशों को वह ग्रहण करता है वही अन्न उक्थ उनके प्राण में बदल जाते हैं यही महानात्मा है।

अग्नि के क्षेत्र में वायु के क्षेत्र में और वायु के क्षेत्र में आदित्य के क्षेत्र में विष्णु गति करता है यही उसके त्रिविक्रम है। यह महान् आत्मा त्रिगुणात्मक अव्यक्त प्रकृति तथा आकृति का निर्माण करता है। इसका सम्बन्ध परमेष्ठी से है। यह शुक्र में व्याप्त रहता है। सोमरस इसका रूप है।

आपोमय इसी महान् आत्मा में अव्यय पुरुष बीज अर्थात् कारणशरीर को आहित करता है जिसके आधार पर यह स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीर का निर्माण करता है—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ (गीता, १४.३.४)

इसके अनन्तर इन्द्र विज्ञानात्मा को जन्म देता है। यही क्षेत्रज्ञ आत्मा कहा जाता है क्योंकि यह क्षेत्र अर्थात् शरीर को ज्ञान से व्याप्त कर लेता है। यही आयु का प्रवर्तक है। यह हृदय में स्थित है। रक्त के आकाश में यह व्याप्त है। यही ज्ञानवाहिनी तथा कर्मवाहिनी नाड़ियों के माध्यम से ज्ञान और कर्म उत्पन्न करता है। इसके अनन्तर मन का निर्माण होता है। यही प्रज्ञानात्मा है। इसने ऊपर अन्न के दिव्य अंश से मन की उत्पत्ति बताई है। मन अन्न का स्वच्छतम रूप है। अतः उसमें क्षेत्रज्ञ विज्ञानात्मा प्रतिबिम्बित हो जाता है जैसे चन्द्रमा में सूर्य प्रतिबिम्बित होता है। यही प्रज्ञानात्मा समस्त इन्द्रियों से व्यापार करता है। इसलिये ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है—

यत्किञ्चेदं प्राणिजङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म। (ऐतरेयोपनिषद्, ५.३)

आत्मा के अनेक रूप

ऊपर जिस श्वोवसीयस् मन की चर्चा की वह चिदात्मक मन है। जो सब इन्द्रियों को प्रेरित करने वाला सर्वेन्द्रिय मन है वह प्राणात्मक है और तीसरा सुख दुःख का ग्रहण करने वाला इन्द्रियात्मक मन है। यहाँ सर्वेन्द्रिय मन को प्रज्ञानात्मा कहा है। इसलिए उसके लिए कहा गया है कि उसी से हम देखते हैं उसी से सुनते हैं उसी से बोलते हैं उसी से स्वाद चखते हैं—

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः स आत्मा। येन वा पश्यति। येन वा शृणोति। येन वा गन्धानाजिघ्रति। येन वा वाचं व्याकरोति। येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति।

जिस प्रकार चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा करता है। उसी प्रकार यह प्रज्ञानात्मा शरीर रूप भूतात्मा की परिक्रमा करता है। भूतात्मा शरीर है। वह अग्निमय पृथ्वी का सार है। शरीरात्मा के अतिरिक्त भूतात्मा के दो भेद और हैं—हसात्मा और दिव्यात्मा। हसात्मा वायुरूप है शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यह बना रहता है। परकाया में भी यह प्रवेश कर जाता है। इसे ही जनसामान्य भूत कहते है।

तीसरा भूतात्मा दिव्यात्मा है जो अग्नि के सम्बन्ध से प्राज्ञ बनता है। इसके दो भाग हैं—ज्ञानात्मा और कर्मात्मा। धातुओं में केवल वैश्वानर ही शरीर का धारण करता है। वनस्पतियाँ में वैश्वानर और तैजस दोनो शरीर का धारण करते हैं तथा चलने फिरने वाले कृमि से लेकर मनुष्य पर्यन्त चेतन जीवों में वैश्वानर तैजस और प्राज्ञ तीनों शरीर को धारण करते है। धातुओं की शैशव यौवन आदि अवस्थाएं नही होती हैं क्योकि उनमें तैजस प्राण नही है जो कि अवस्थाओं को उत्पन्न करता है। वैश्वानर शोणित मांसादि उत्पन्न करता है। तैजस प्राण आरोह अवरोह द्वारा अवस्थाएं उत्पन्न करता है। वैश्वानर और इन्द्रियाँ जुडी हुई हैं। शरीरात्मा और हसात्मा बाह्यात्मा हैं। वैश्वानर तैजस और प्राज्ञ अन्तरात्मा हैं।

पञ्च भूतों का पञ्च भूतो में मिलना पञ्चत्व गति है। वाक् अग्नि में प्राण वायु में चक्षु आदित्य में श्रोत्र दिशा और चन्द्रमा में मन ब्रह्मणस्पति और चन्द्रमा में विलीन होकर आध्यात्मिक स्वरूप से अलग हो जाता है। हसात्मा एमूष वायु में लीन हो जाता है। भूतात्मा कर्मात्मा कर्मानुसार अच्छी या बुरी गति में जाता है। इसी का पुनर्जन्म होता है।

प्रथम अध्याय में जीवाधिकरण के अन्तर्गत हम इसी विषय को थोडा स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। वस्तुत आगे के सभी अधिकरणों में उन्ही विषयों का विस्तार किया गया है जिनकी संक्षिप्त रूपरेखा इस विषयप्रवेश में दी गयी है। यदि इस विषयप्रवेश के समझने में पाठक कठिनाई का अनुभव करें तो यह कोई अस्वाभाविक बात न होगी किन्तु ज्यों ज्यों वे ग्रन्थ के अग्रिम अधिकरणों का अवलोकन करेंगे वे विषय जो अस्पष्ट हैं। स्पष्ट होते जायेंगे।

ग्रन्थ के विषय प्रवेश को इतना लम्बा करने का हमारा प्रयोजन इस बात को रेखाङ्कित करना है कि वेद की दृष्टि अनेकता में अन्तर्निहित एकता तथा एकता से उद्भूत होने वाली अनेकता पर समान बल देने के कारण ज्ञान तथा विज्ञान पर समान बल देती है। यही समग्रदृष्टि वेद की व्यावर्तक विशेषता है। एकता तथा अनेकता दोनों ही सत्य हैं किन्तु मूल एकता है अनेकता तूल है। एक से अनेक बने हैं अनेक को जोडकर एक नही बना है। चेतन व्यक्ति में एक मूलकारण का विकास अनेकानेक अवयवों के रुप में होता है। यन्त्र में अनेकानेक अवयवों को जोडकर एक अवयवी को बनाया जाता है। प्रथम स्थिति की परिणति ब्रह्मवाद है। द्वितीय स्थिति की परिणति भूतवाद है। वेद ब्रह्मवादी है किन्तु जगन्मिथ्यावादी नही क्योंकि शतपथ ब्राह्मण (१४४३) की स्पष्ट घोषणा है कि नाम तथा रूप सत्य हैं—*नामरुपे सत्यम्*। इस बात को न समझ कर ज्ञान को सत्य तथा विज्ञान को मिथ्या मानना वैदिक मान्यता के विरुद्ध जाना है। इस बात पर बल देने के लिये ही इस ग्रन्थ के नाम में भी विज्ञान शब्द का प्रयोग किया गया है।

प्रथम अध्याय

जीवाधिकरण

ऋग्वद (१०/१२५/१) के वाक् सूक्त की प्रथम पङ्क्ति है—*अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यह मादित्यैरुत विश्वदेवैः* इस पङ्क्ति म तीन देवों का उल्लेख है—वसु (अग्नि) रुद्र (वायु) और आदित्य। शतपथ ब्राह्मण में इन तीन देवों को समस्त देवों का हृदय बताया गया है—*अग्निर्वायुरादित्य एतानि ह तानि देवाना हृदयानि (शतपथ ब्राह्मण ९ १ १ २३)* ।

त्रिदेव

अग्नि वायु और आदित्य को सब देवों का हृदय अथवा सार बताने का रहस्य यह है कि जैसा हम विषयप्रवेश में बता चुके हैं लोक तीन हैं—पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ। इनमें अग्नि पृथिवीस्थानीय है। वायु अन्तरिक्षस्थानीय है और आदित्य द्युस्थानीय है। इस कारण अग्नि में समस्त पृथिवीस्थानीय देवों का वायु में समस्त अन्तरिक्षस्थानीय देवों का तथा आदित्य में समस्त द्युस्थानीयदेवों का समावेश हो जाता है और इस प्रकार अग्नि वायु और आदित्य में समस्त देवों का समावेश हो जाने के कारण इन तीन देवताओं को समस्त देवताओं का हृदय बताना उचित ही है। मनु ने इन तीन देवों से ही त्रयी का जन्म माना है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुस्सामलक्षणम्॥
(मनुस्मृति, १ २३)

मनुष्य में देवों का निवास

ताण्ड्य ब्राह्मण का कहना है कि नर देवों का समूह है—*नरो वै देवाना ग्राम* (ताण्ड्यब्राह्मण ६ ९ २)। मैत्रायणी संहिता कहती है कि मनुष्य में समस्त देव निवास करते हैं—*विश्वे हीद देवा स्मा यन्मनुष्य* (मैत्रायणीसंहिता ३ २ २) ।

प्रस्तुत अध्याय में हम इस तथ्य का प्रतिपादन करेंगे कि किस प्रकार पृथिवीस्थानीय अग्नि अन्तरिक्षस्थानीय वायु और द्युस्थानीय आदित्य के सहयोग से हमारे पूरे व्यक्तित्व का निर्माण

होता है। इस तथ्य को समझ लेने पर ही हम इस बात का रहस्य भी समझ में आयेगा कि वेदों में निरन्तर देवों के स्तुतिपरक सूक्त क्यों भरे पड़े हैं। देवतत्त्व की व्याख्या हम पृथक् से देवताधिकरण में करेंगे। प्रस्तुत जीवाधिकरण में तो हम अपने आपको केवल इतने तक ही सीमित रखेंगे कि किस प्रकार अग्नि वायु और आदित्य नामक तीन देव हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं?

देवों का यज्ञ

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (१०.९०) में देवों के यज्ञ करने का चार बार उल्लेख हुआ है—

(१) देवा यज्ञमतन्वत (मन्त्र ६)

(२) तेन देवा अयजन्त (मन्त्र ७)

(३) देवा यद्यज्ञं तन्वाना (मन्त्र १५)

(४) यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा (मन्त्र १६)

अग्नि वायु और आदित्य जब यज्ञ करते हैं तो इस यज्ञ में इन तीन देवताओं में से किसी एक देव में शेष दो देवों की आहुति गिरती है। हम ऊपर कह चुके हैं कि इन तीन देवताओं का सम्बन्ध तीन लोकों से है किन्तु इनमें से जब कोई एक देव अपने लोक को छोड़कर किसी दूसरे लोक में जाता है तो इसका नाम बदल जाता है। अग्नि का नाम पृथिवी पर अग्नि ही रहता है किन्तु जब वह अन्तरिक्ष में स्थित वायु में आहुति के रूप में प्रयुक्त होता है तो उसका नाम पावक हो जाता है और वही अग्नि जब द्यौ में स्थित आदित्य में आहुति बनता है तो शुचि कहलाता है। दूसरी ओर अपने लोक अन्तरिक्ष में वायु वायु ही है किन्तु पृथिवी पर अग्नि में आहुति बनते समय वही मातरिश्वा कहलाता है तथा द्यौ में स्थित आदित्य में आहुति बनते समय वही पवित्र कहलाता है। तीसरी ओर अपने स्थान द्युलोक में आदित्य आदित्य ही है किन्तु पृथिवी पर अग्नि में आहुति बनते समय वही वासव कहलाता है और अन्तरिक्ष में वायु बनते समय वही मरुत्वान् कहलाता है। इन तीन देवताओं का एक दूसरे में आहुति बनना इस विराट यज्ञ का भाग है जो इस सृष्टि में निरन्तर चलता रहता है। यज्ञ की एक परिभाषा है—अग्नि में सोम की आहुति डलना। यज्ञ की प्रक्रिया में एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को आत्मसात् करता है। जो पदार्थ आत्मसात् करता है वह अग्नि कहलाता है और जिस पदार्थ को आत्मसात् किया जाता है वह सोम कहलाता है। इसी आधार पर बृहज्जाबालोपनिषद् ने घोषणा की थी कि समस्त जगत् दो ही पदार्थों का समुच्चय है—अग्नि और सोम—*अग्नीषोमात्मक जगत्*। हम यह बात भूमिका में कह चुके हैं।

इससे पहले कि हम अग्नि वायु और आदित्य के निरन्तर चलने वाले विराट यज्ञ से अपने व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया पर आयें यज्ञप्रक्रिया की एक विशेषता की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। यज्ञ में एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ की आहुति पड़ती है और वह पदार्थ दूसरे पदार्थ को आत्मसात् कर लेता है। दूसरे शब्दों में अग्नि में जब सोम की आहुति पड़ती है तो सोम भी अग्नि रूप हो हो जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि अग्नि मुख्य हो गया तथा सोम गौण हो गया। इसलिए ऋग्वेद में सोम अग्नि से कहता है कि हे अग्नि! मैं तुम्हारा छोटा भाई

ट—तवाहमस्मि मख्य न्योका (ऋग्वद ५ ४४ १५) ।

यहा तीन प्रश्न उपस्थित होत हैं—

(१) अग्नि और साम में बडा कौन और छोटा कौन ?

(२) क्या माम न अग्नि में अपनी आहुति दकर अपनी हानि की ?

(३) अग्नि म माम की आहुति का क्या फल हुआ ?

दृष्टि मे समता, व्यवहार म सापेक्षता

प्रथम प्रश्न क उत्तर म यह कहा जा सकता ह कि अग्नि और साम सज्ञाय किमी पदार्थ की स्थिर सज्ञाय नही हैं। ऊपर जिन तीन दवताओं के यज्ञ की हमन चर्चा की उसको ही दखें ता पृथिवी पर अग्नि अग्नि है शेष दो देव वायु और आदित्य उसमें आहुति बन रहे हैं इसलिए उनकी साम सज्ञा हा जायगी। किन्तु यदि अन्तरिक्ष में चलन वाल यज्ञ का दख ता वहाँ वायु मुख्य दवता ह उसकी अग्नि सज्ञा हागी और उसमें आहुति रूप म पडन वाला अग्नि (जिसकी यहा पावक मज्ञा ह) तथा आदित्य (जिसकी यहाँ मरुत्वान् सज्ञा ह) का हम सोम कहेंग। इस प्रकार अग्नि पृथिवी पर चलन वाल यज्ञ में अग्नि है और अन्तरिक्ष में चलने वाल यज्ञ में साम ह। इसक विपरीत वायु अन्तरिक्ष में चलन वाल यज्ञ में अग्नि ह और पृथिवी म चलन वाल यज्ञ में साम ह। एमी स्थिति म अग्नि या साम में किसी का भी बडा मानें अग्नि और वायु दानों में एक जगह अग्नि बडा हागा और दूसरी जगह वायु बडा होगा और इस प्रकार दानों समकक्ष हा जायेंग। स्थान भेद मे एक जगह एक बडा होगा दूसरी जगह दूसरा। हमारा इस चर्चा का करने का अभिप्राय यह ह कि यज्ञ हमें यह शिक्षा देता है कि सब समान है न कोई छोटा है न कोई बडा। किन्तु व्यवहार क लिय किसी स्थान पर एक को दूसर के काम आन के लिये छोटा बन जाना चाहिये अन्यथा सृष्टि का व्यवहार ही नही चल सकेगा। इस ही हम इस रूप में भी कहत ह कि व्यवहार में सब विषम ह दृष्टि में सब समान हैं। व्यवहार में समानता का दुराग्रह करना अराजकता का जन्म दना है तो दृष्टि म विषमता रखना अन्याय का जन्म देना है। फ्रास की क्रान्ति क बाद समानता का नारा पूरे विश्व में फल गया। भारतीय सविधान के प्रथम पृष्ठ पर जिन मूल्यो का उल्लख ह ममानता भी उनमें से एक है किन्तु समानता का यह अर्थ कदापि नही है कि गुरु शिष्य सम्बन्ध सव्य सेवक सम्बन्ध पितृ पुत्र सम्बन्ध के बीच जो बड छोट के विवेक पर आश्रित आचरण ह उसका लोप कर दिया जाये न ही इसका यह अर्थ ह कि आत्मदृष्टि से जो प्राणिमात्र म ब्रह्मबुद्धि के आधार पर समदृष्टि है इसका लाप कर दिया जाय। सडक्षप में दृष्टि की समानता और व्यवहार में प्रसङ्गानुकूल यथाचित व्यवहार वैदिक समाजदर्शन का मेरुदण्ड है। एक अध्यापक के नाते मेरा कर्त्तव्य है कि बिना किसी भदभाव क अपन सभी छात्रा के प्रति समान दृष्टि रखत हुए मबकी प्रगति का समान अवसर दूँ मबकी सब प्रकार की कठिनाइया का दूर करने में मब प्रकार मे सहयागी बनूँ। यह समदर्शिता का अथ है किन्तु समता का कट्टर स कट्टर पक्षपाती भी मुझस यह आशा नही करेगा कि मैं परीक्षा म सभी विद्यार्थियों को समानता के नाम पर समान अङ्क द दू। वहाँ तो मुझे याग्यता की तारतम्यता के आधार पर ही अङ्क देने होंगे। न्याय की माग

देवताओं का त्रिसत्य है जिसके कारण *त्रिसत्या वै देवा* कहा जाता है।

अग्नि वायु और आदित्य भौतिक पदार्थ नहीं हैं बल्कि प्राणतत्व हैं। इन तीनों से समस्त विश्व का निर्माण हुआ है। अग्नि वायु और आदित्य के एक दूसरे में आहुति पड़ने से इनका परस्पर सम्मिश्रण होता है। इसी सम्मिश्रण का सङ्गतिकरण अथवा यज्ञ कहते हैं। इस सम्मिश्रण से ही वैश्वानर तैजस और प्राज्ञ बनते हैं। अग्नि में वायु और आदित्य की आहुति पड़ती है तो वैश्वानर का निर्माण होता है। अग्नि वायु और आदित्य नर है। अग्नि इन तीनों से जुड़ने के कारण वैश्वानर कहलाता है। इसी प्रकार जब वायु में अग्नि और आदित्य की आहुति पड़ती है तो तैजस का जन्म होता है। जब आदित्य में अग्नि और वायु की आहुति पड़ती है तो प्राज्ञ का जन्म होता है।

वैश्वानर तैजस तथा प्राज्ञ—इन तीन के अतिरिक्त इस यज्ञ से समष्टि भी उत्पन्न होता है। अग्नि को मुख्य बनाकर समष्टि में विराट् बनता है वायु को मुख्य बनाकर समष्टि में हिरण्यगर्भ बनता है तथा आदित्य को मुख्य बनाने पर समष्टि में सर्वज्ञ का निर्माण होता है।

ब्रह्मादन से विश्व, प्रवर्ग्य से व्यक्ति

विराट् हिरण्यगर्भ और सर्वज्ञ का जो रूप क्रमश विश्व के अर्थसम्पादन क्रियासम्पादन और ज्ञानसम्पादन में लग जाता है वह ब्रह्मादन कहलाता है। जो अंश विश्व के निर्माण में बच जाता है वह प्रवर्ग्य कहलाता है। प्रवर्ग्य का अर्थ है—उच्छिष्ट। इस उच्छिष्ट से हम सबका निर्माण होता है। अथर्ववेद (११७११) कहता है—*उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे*। पुराण की भाषा में इसे प्रसाद कहते हैं। हम सब जो भी हैं समष्टि के प्रसाद में हैं। इसी प्रसाद की यह लोकप्रसिद्ध प्रक्रिया है कि हम भोग्य पदार्थ भगवान् के सामने रखते हैं और यह मानते हैं कि उसका जो ब्रह्मादन अंश है वह भगवान् ने ग्रहण कर लिया तथा जो प्रवर्ग्य अंश है वह हम प्रसाद के रूप में प्राप्त हुआ—इसी को यज्ञ का भाग कहा जाता है। हम किसी से कुछ छीन कर नहीं लेते। जो कोई भोग करने के बाद पदार्थ को छोड़ देता है हम उसे ही भोगते हैं। किसी के अंश को छीनने का निषेध तथा प्रवर्ग्य उच्छिष्ट अथवा प्रसाद को ही भोगने का विधान यजुर्वेद ने किया है—*तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्यस्विद्धनम्*। ब्रह्मादन तथा प्रवर्ग्य की अवधारणा यज्ञीय जीवनशैली का मुख्य आधार है। यह जीवनशैली आज के पर्यावरण के सन्दर्भ में विशेष रूप से प्रासङ्गिक है। विकास तथा पर्यावरण के संरक्षण में परस्पर इस प्रकार विरोध है कि हर विकास के कार्य में न्यूनाधिक रूप में प्रकृति का दोहन तो करना ही पड़ता है। प्रश्न यह है कि यह दोहन किस सीमा तक हो ? समाधान यह है कि किसी भी पदार्थ के ब्रह्मादन का उपयोग करना वर्जित है। ब्रह्मादन वह है जो पदार्थ के स्वरूप का निर्माण करता है तथा जिसका उपभोग करने पर पदार्थ का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। उदाहरणत पशु का मांस भोगने पर पशु का अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है क्योंकि मांस पशु का ब्रह्मादन है किन्तु पशु का दूध ले लेने पर पशु का स्वरूप नष्ट नहीं होता क्योंकि दूध उसका प्रवर्ग्य है। इसी प्रकार वृक्ष का तना काट देने पर उसका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है किन्तु उसके फल फूलों का उपभोग हम कर सकते हैं। ब्रह्मादन तथा प्रवर्ग्य के बीच का

यह भेद हमारी जीवनशैली का आधार बने तो पर्यावरण का संरक्षण तथा मनुष्य का विकास दोनों साथ साथ चल सकते हैं अन्यथा प्रकृति के सन्तुलन के बिगड़ने का भय बना रहेगा।

अर्थ, क्रिया तथा ज्ञान

वैश्वानर को पाद हिरण्यगर्भ को अंश और सर्वज्ञ को शिरःस्थानीय कहा जाता है। पुरुष सूक्त की प्रथम पङ्क्ति में यही सहस्रपात् सहस्राक्ष और सहस्रशीर्षा पुरुष कहा गया है। पुराणों में सर्वज्ञ का प्रतिनिधि ब्रह्मा है हिरण्यगर्भ का प्रतिनिधि विष्णु है वैश्वानर का प्रतिनिधि शिव है। इस प्रकार वेद जिसे अग्नि वायु तथा आदित्य कहता है वेदान्त उसे ही वैश्वानर सूत्रात्मा तथा सर्वज्ञ कहता है और पुराण उसे शिव विष्णु और ब्रह्मा कहता है। इस उदाहरण से भारतीय संस्कृति की निरन्तरता का आभास मिल सकता है। वैश्वानर अग्नि अर्थ (पदार्थ) का अधिष्ठाता है तैजस वायु क्रियाशक्ति का अधिष्ठाता है प्राज्ञ इन्द्र ज्ञानशक्ति का अधिष्ठाता है। ये तीनों देवशक्ति कहलाते हैं। वैश्वानर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है तैजस और प्राज्ञ वैश्वानर पर ही टिके हैं। ये तीनों देव सत्य हैं। यही भावना आत्मा है। इसे ही हम "अहम्" शब्द से कहते हैं।

वैश्वानर अग्नि की वाक्

वैश्वानर हमारे शरीर में अन्न को पकाता है। अपने दोनों कान बन्द करने पर हमारे अन्दर जो घोष सुनाई देता है वह इसी अग्नि का है इसलिए अग्नि को वाक् कहा जाता है। जब वैश्वानर शरीर को छोड़ना चाहता है तो यह शब्द सुनाई पड़ना बन्द हो जाता है। तब मनुष्य को समझ लेना चाहिए कि उसकी मृत्यु निकट है। इस वैश्वानर में अन्न सोम के रूप में आहुत होता है।

अन्न से शुक्र पर्यन्त सप्त धातुओं का निर्माण

अग्नि का कार्य विस्तार और सोम का कार्य सङ्कोच है। अग्नि तेज है सोम स्नेह है। इन दो तत्त्वों के सम्मिश्रण से समस्त सृष्टि बन रही है। अग्नि हमारे अन्दर भूख जगाती है तो उसमें अन्न रूपी सोम की आहुति देनी पड़ती है। यह अन्न रस के रूप में परिणत होता है। इस रस से ही रुधिर मांस मेद अस्थि मज्जा तथा शुक्र बनता है। ये सात धातुएँ हमारे शरीर को बनाती हैं। ये घन हैं इसलिए ये सब अग्नि का कार्य हैं।

शुक्र से ओज

इस शुक्र के मन्थन से ओज उत्पन्न होता है। यह ओज हमारे शरीर के बाहर भी अन्तरिक्ष में रहता है। अन्तरिक्ष का देवता वायु है इसलिए ओज के निर्माण में वायु का योगदान मुख्य है। महापुरुषों के चित्रों में यह ओज आभामण्डल के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। यह ओज शुक्र का सार है। शुक्र पर्यन्त हमारा घनस्वरूप है किन्तु ओज हमारा तरल रूप है।

ओज से मन

ओज का मन्थन होने पर मन का निर्माण होता है। यह सोम रस है। अन्न से उत्पन्न होने वाले तत्त्वों में यह अन्तिम तत्त्व है। अन्न की सृष्टि में मन सबसे अधिक सूक्ष्म [illegible]। यह हमारा

विरल रूप है। सबसे सूक्ष्म होने के कारण यह मन का अधिष्ठाता है। हम जो कुछ भी करते हैं इसी के कारण करते हैं—

यत् प्रज्ञानमुत चेतोधृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ (यजुर्वेद ३४.३)

इस प्रकार अन्न अपनी घनमूर्ति द्वारा हमारे शरीर में बल देता है अपनी तरलमूर्ति द्वारा ओज प्रदान करता है और अपनी विरलमूर्ति मन के द्वारा सङ्कल्प शक्ति देता है।

विश्व के उपादानों से अन्न का तथा अन्न से हमारा निर्माण

जैसा कि विषयप्रवेश में बताया जा चुका है हमारे शरीर का निर्माण जिस सोम से होता है उस सोम का निर्माण पूरे विश्व से होता है। हमारे अन्न में जो स्थूल भाग है उसे दधि कहते हैं। यह दधि भू लोक से आता है। जैसे दूध को जमाने पर दही बनता है उसी प्रकार अन्न का कच्चा दूध पक कर ही अन्न बन जाता है इसलिये उसे दधि कहते हैं। इस दधि से मांस हड्डी आदि हमारे शरीर के घन भाग बनते हैं। अन्न में जो चिकनापन है वही घृत है जिसके कारण आटे के उसनने पर उसमें लोच आता है। यह भाग अन्तरिक्ष का योगदान है। इससे हमारे अन्दर के तरल पदार्थ रस रक्त आदि बनते हैं। तीसरा भाग मधु है। इसके कारण भोजन में मिठास आता है। यह द्युलोक से आता है। इस से हमारा शुक्र बनता है। चौथा भाग अमृत है। यह परमेष्ठी लोक से आता है। इसी के कारण पदार्थ में स्वादुता उत्पन्न होती है। यह सोम तत्त्व है। हमारा मन इसी से जुड़ा है। इस प्रकार अन्न के माध्यम से हमारा व्यक्तित्व मानो पूरे विश्व का ही सार ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार त्रिलोकी (अथवा परमेष्ठी सहित लोकचतुष्टय) अपने अपने अंश की जो आहुति देते हैं उससे अन्न का एक कण बनता है। तथा उसी अन्न के कण की जो आहुति हमारी उदरस्थ वैश्वानर अग्नि में पड़ती है उससे हमारा शरीर ही नहीं प्रत्युत प्राण तथा मन भी बनते हैं। यह प्रक्रिया है हमारे निर्माण में विश्व के योगदान की।

स्पष्ट है कि अन्न यज्ञ रूप है—*यज्ञो वाऽन्नम्*। यज्ञ का अर्थ है आदानविसर्ग। आदानविसर्ग अन्न पर ही निर्भर है। इसलिए अन्न को यज्ञ कहा गया है। आदानविसर्ग का अर्थ है तीनों (अथवा परमेष्ठी सहित चारों) लोकों की प्राणमात्रा तथा भूतमात्राओं का परस्पर आदान प्रदान। जब ये लोक अपने अंश का त्याग करते हैं तो वह तप होता है। इस अर्थ में समस्त लोक तपस्वी हैं। इस आदान प्रदान के सम्बन्ध को अन्न अन्नाद सम्बन्ध कहा जाता है। अन्नाद का अर्थ है—भोक्ता। अन्न का अर्थ है—भोग्य पदार्थ। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ अन्न भी है और अन्नाद भी। इसी रहस्य को सामवेद यह कहकर प्रकट करता है—*मैं अन्न तथा अन्नाद को भी भक्षण करता हूँ—अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि।*

विश्व के पाँच पर्वों में अन्न अन्नादभाव

अग्नि अन्नाद है सोम अन्न है। इस दृष्टि से चन्द्रमा को भी अन्न कह दिया जाता है क्योंकि वह सोम रूप है। परमेष्ठी भी अन्न है क्योंकि वह भी सोम रूप है। सूर्य अग्नि रूप होने के कारण

को यदि हम इस वैदिक सिद्धान्त के आधार पर देखें कि जैसा पिण्ड में है वैसा ब्रह्माण्ड में है यथा पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड तो ब्रह्माण्ड के पाँच पर्वो के आधार पर हमारे व्यक्तित्व के भी पाँच स्तर हो जाते हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि जो बृहत्तर स्तर पर ब्रह्माण्ड में है लघुतर स्तर पर वही पिण्ड में है। जिन तत्वों से विश्व का निर्माण हुआ है उन्हीं तत्वों से पिण्ड का निर्माण हुआ है। जो प्रक्रिया विश्व के निर्माण में काम करती है वही प्रक्रिया पिण्ड के निर्माण में काम करती है। छोटा हो या बड़ा सबमें वही तत्त्व रहते हैं और निर्माण की एक ही प्रक्रिया सर्वत्र काम करती है।

हमारे व्यक्तित्व के पाँच स्तरों का वर्णन कठोपनिषद् में स्पष्ट शब्दों में है—अर्थ से मन मन से बुद्धि बुद्धि से महान् आत्मा तथा महान् आत्मा से अव्यक्त सूक्ष्म है।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥
(कठोपनिषद् १ ३ १० ११)

अर्थ को शरीर अथवा भूतात्मा मन को प्रज्ञान तथा बुद्धि को विज्ञान कहा जाता है। शरीर पृथ्वी से मन चन्द्रमा से तथा बुद्धि सूर्य से जुड़ी है। यहाँ तक अनुभवगम्य स्तर है। महान् आत्मा परमेष्ठी से जुड़ा है। यह महान् आत्मा बुद्धि से परे है। सुषुप्ति में जब हमारी बुद्धि भी कार्य नहीं कर रही होती तो पाचनक्रिया श्वासप्रश्वास रक्तसञ्चार आदि क्रियायें इस महान् आत्मा की ही प्रेरणा से होती रहती है। इस महान् से भी परे जो अव्यक्त है वह प्रकृति की वह अवस्था है जिसे सांख्य दर्शन में लिङ्गहीन बताया गया है। प्रकृति की इस सूक्ष्मतम अवस्था के बाद पुरुष आता है जो गुणातीत है। पुरुष से परे कुछ भी नहीं है।

पृथ्वी शरीर है—*यच्छरीरं सा पृथ्वी* **(ऐतरेय आरण्यक २ ३ ३)**। हमारे शरीर में पृथ्वी विराजमान है—*पृथ्वी मे शरीरे श्रिता* **(तैत्तिरीय आरण्यक ३ १० ८ ७)**। मन चन्द्रमा है—*यदेतन्मन एष स चन्द्रमाः* **(शतपथ ब्राह्मण १० ३ ३ ७)**। सूर्य का तो बुद्धि से सम्बन्ध प्रसिद्ध ही है। सविता देव को स्वयं ज्ञान ही माना गया है—*ब्रह्म वै देवः सविता* **(तैत्तिरीय संहिता ५ ३ ४ ४)**। मन प्रज्ञान है—*यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च* **(यजुर्वेद ३४ ३)**। बुद्धि विज्ञान है—*विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्* **(तैत्तिरीय आरण्यक ९ ५ १)**।

मन और बुद्धि में अन्तर है। बुद्धि सौरी है वह स्वयं प्रकाशित है। मन चान्द्र है परज्योति है। जैसे चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है वैसे मन बुद्धि के प्रकाश से प्रकाशित होता है। विषय मन पर आ जाते हैं बुद्धि विषयों पर जाती है। मन पर जो विषय आ जाता है मन तन्मय हो जाता है फिर वह विवेक नहीं कर सकता। बुद्धि विषयों के बीच विवेक करती है। वह जिसे ठीक समझती है उसका ग्रहण करती है शेष का त्याग कर देती है। जब मन पर विषय आते हैं तो संस्कार बनते हैं जब बुद्धि विषयों पर जाती है तो विद्या का प्रादुर्भाव होता है। हमारी

दृष्टि म सूर्य पर्यन्त ही सृष्टि आना ह । इसक आग के लोक हमारी दृष्टि में नही आत । अध्यात्म म भी हमारे अनुभव म बुद्धि ही आती ह किन्तु यदि थोडा विचार कर तो यह पता चलेगा कि हमार शरीर म अनेक एसी महत्त्वपूर्ण क्रियाय हैं—पाचनक्रिया रक्तसचार श्वास प्रश्वास नाडी का चलना—जो हमार मन या बुद्धि क प्रयत्न के बिना ही अत्यन्त व्यवस्थित रूप म न केवल जागत हुए अपितु स्वप्न और सुषुप्ति म भी कार्य करती रहती ह । निश्चय ही य कार्य इतन व्यवस्थित है कि चेतना क सहयोग क बिना इनकी स्थिति नही मानी जा सकती । जो कार्य हम बुद्धिपूर्वक करत ह उनम तो बहुत अधिक त्रुटिया होती हैं किन्तु य क्रियाए जिन्हें अस्वैच्छिक कहा जाता ह बहुत कम गडबडी वाली हैं । स्पष्ट ह कि इन क्रियाओं का सञ्चालन चेतना का वह अश करता है जो बुद्धि से भी अधिक सूक्ष्म ह । इसी अश को महत् तत्त्व कहते हैं । विज्ञान की भाषा म इसे अर्धचेतन मन कहा जाता है ।

इस अर्धचेतन मन के आग भी एक अचेतन मन ह जहाँ हमार समस्त सुप्त संस्कार सगृहीत हैं । क्योंकि यह व्यक्त नही ह अत इसे अव्यक्त कहते ह । महत् को ही सूक्ष्मशरीर और अव्यक्त को ही कारणशरीर कहत हैं । आज मनोविज्ञान अर्धचेतन और अचेतन मन को चेतन मन की अपेक्षा कही अधिक महत्त्वपूर्ण मानता ह । इन्ही दो क प्रतीक विश्व में परमेष्ठी और स्वयम्भू ह । हमार दैनन्दिन जीवन म सूर्य तक का लोक ही उपयोगी हैं किन्तु इस सूर्यलोक का भी मूल परमेष्ठी म और परमेष्ठी का मूल स्वयम्भू म ह अत इन परोक्ष तत्वो का ज्ञान बिना प्रत्यक्ष तत्त्व की भी पूर्ण व्याख्या नहीं हो सकती ।

हमारे व्यक्तित्व क स्थूल रूप से दो पक्ष ह—आत्मा और शरीर किन्तु सूक्ष्म दृष्टि स देखें तो उसमें छ भाव हैं—अन्न प्राण मन विज्ञान आनन्द और सत्य । यदि हम अन्न को शरीर कह तो शेष पाँचो भाग परोक्ष होन क कारण अन्त सस्था कहलायग । दूसरी दृष्टि स इनम केवल सत्य आत्मा ह अन्न बहि शरीर ह शेष सब अन्त शरीर है । इस सारी प्रक्रिया को समझान क लिए इन छह भावों का परिचय आवश्यक है ।

पञ्चकोश एव तीन शरीर

उपनिषद् क अनुसार जिस समय शिष्य अपन स्वरूप की खोज म निकलता ह तो सवप्रथम उस अन्न स बनन वाला स्थूलशरीर दृष्टिगोचर होता ह । थोडा और सूक्ष्म दृष्टि से विचार करन पर प्राण प्रतीति में आता है । इसी क्रम में क्रमश सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तक जान में उसे मन बुद्धि अथवा विज्ञान तथा आनन्द का अस्तित्व प्राप्त होता है । इनम सबसे सूक्ष्म आनन्द कारणशरीर है । विज्ञान मन और प्राण तीनों मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं तथा अन्न स निर्मित शरीर स्थूलशरीर कहलाता ह । इस प्रकार य तीन शरीर पाँच भागों में विभक्त होकर हमार अस्तित्व के पाच स्तरों को बनाते हैं तथापि इन पाँच स्तरों क बाद भी हमार अस्तित्व का वह मूल स्तर छूट हो जाता है जिस वदान्त म आत्मा कहा गया है । वस्तुत य तीन शरीर जो उपर्युक्त पाँच भागो म विभक्त ह आत्मा क आवरण ह । तीन शरीर क इन पाँच स्तरों को कोष इसलिए कहा जाता ह क्योंकि आत्मा इनम आवृत रहती ह । यह आत्मा ही षष्ठ भाव सत्य ह ।

आनन्दमयकोष

आत्मा पाप पुण्य से परे है। वहां न जरा है न मृत्यु न शोक न भूख और न प्यास। उसी से समस्त भूत उत्पन्न होते हैं उसी पर अवलम्बित होकर जीवित हैं और उसी में लीन हो जाते हैं—

सोऽपहतपाप्मा अजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः...यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति(तैत्तिरीयोपनिषद् ३.३)।

इस निर्विकार आत्मा का प्रथम कोष आनन्दमयकोष है। इस स्थिति का अनुभव हम गहरी सुषुप्ति के समय होता है। उस समय न तो जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर में होने वाले कर्म तथा ज्ञान रहते हैं न ही सूक्ष्मशरीर में स्वप्न अवस्था में होने वाले ज्ञान तथा कर्म। उस समय हमारे समस्त संस्कार सुषुप्ति अवस्था में जिस रूप में रहते हैं उसे ही कारणशरीर कहा जाता है। यह कारणशरीर भी आत्मा की एक उपाधि है। इसे ही आनन्दमयकोष कहा जाता है। ये संस्कार अविद्यारूप हैं। अविद्या के तीन गुण हैं—सत्त्व रजस और तमस्। जीव की सुषुप्ति अवस्था में सत्त्वगुण प्रधान होने के कारण आनन्द तो रहता है किन्तु उसका ज्ञान रजोगुण और तमोगुण से अभिभूत रहता है इसलिए वह अल्पज्ञ और अनीश्वर है। इस अवस्था को ही हमने प्रारम्भ में प्राज्ञ कहा है। समष्टि की स्थिति में इस कारणशरीर से उपहित आत्मा ईश्वर कहलाता है। उस ईश्वर की माया में भी तीनों गुण हैं किन्तु उसकी सुषुप्ति अवस्था में सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण से अभिभूत नहीं है इसलिए वहां सर्वज्ञत्व और सर्वेश्वरत्व है। ईश्वर की सुषुप्ति अवस्था का नाम प्रलय है। इस प्रकार यद्यपि उपाधि के भेद से हमारे समष्टि और व्यष्टि में भेद है किन्तु निरुपाधिक रूप में आत्मा में व्यष्टि और समष्टि का भेद नहीं है। इसी तथ्य को वेदान्त के प्रसिद्ध महावाक्य *तत्त्वमसि* में कहा गया है।

आनन्द ही शेष कोषों का मूलाधार है। विषयों के सम्पर्क से होनेवाला आनन्द समृद्धानन्द है। शान्तानन्द शान्त और एकरस है। समृद्धानन्द क्षणिक और ऐन्द्रिक है। आनन्दमयकोष के पांच भाव हैं—प्रिय मोद प्रमोद आनन्द और ब्रह्म। इनमें प्रथम चार व्यक्त हैं पाँचवां अव्यक्त है। यह पांचवां ही शान्तानन्द है। वित्त दो प्रकार के हैं—अन्तर्वित्त और बहिर्वित्त। ये दोनों भी दो दो प्रकार के हैं—मुख्य और गौण। इन्द्रिय प्राण शरीर तथा अन्नमय कोष मुख्य अन्तर्वित्त हैं बन्धु बान्धव गौणअन्तर्वित्त हैं। सदा उपयोग में आने वाले मुख्य बहिर्वित्त हैं तथा कभी कभी उपयोग में आने वाले गौण बहिर्वित्त हैं। मुख्य अन्तर्वित्त का प्रिय भाव से सम्बन्ध है। इसे शिर कहा जाता है। गौण अन्तर्वित्त आनन्द से जुड़ा है। इसे आत्मा कहा जाता है। मुख्य बहिर्वित्त प्रमोद है। यह उत्तरपक्ष है। गौण बहिर्वित्त मोद है यह दक्षिण पक्ष है। मुख्य अन्तर्वित्त आत्मा की पूर्णता करते हैं इसीलिये उन्हें प्रिय कहते हैं। गौण अन्तर्वित्त लौकिक समृद्धि है। उसे आनन्द कहा जाता है। मुख्य बहिर्वित्त प्रमोद का कारण है और गौण बहिर्वित्त मोद का कारण है। मुख्य अन्तर्वित्त शिर है। गौण बहिर्वित्त आत्मा है—*स वा एष पुरुषविध एव तस्य प्रियमेव शिरः मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्षः आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा*(तैत्तिरीयोपनिषद् २.५)।

विज्ञानमयकोष

सूक्ष्मशरीर के अन्तर्गत तीन कोष आते हैं। इनमें विज्ञानमयकोष ज्ञानशक्ति से युक्त कर्ता है, मनोमयकोष इच्छाशक्ति से युक्त करण है और प्राणमयकोष क्रिया शक्ति से युक्त कार्य है।

विज्ञानमयकोष में पाँच ज्ञानेन्द्रिया तथा बुद्धि समाविष्ट है। इसकी शक्ति ज्ञान है। विज्ञानमय कोष के स्तर पर ही हम अपने को कर्ता भोक्ता सुखी दुखी आदि मानते हैं। विज्ञानमयकोष क्योंकि सूक्ष्मशरीर के तीन कोषों में प्रथम है इसलिये विज्ञानमय कोष के अन्तर्गत सूक्ष्मशरीर की रचना को भी थोड़ा विस्तार से जान लेना उचित होगा। सूक्ष्मशरीर के सत्रह अवयव हैं—(१) श्रोत्र त्वक् चक्षु जिह्वा तथा घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रिया (६) निश्चयात्मिका अन्तःकरण की वृत्ति बुद्धि (७) सङ्कल्पविकल्पात्मिका अन्तःकरण की वृत्ति मन (८ १२) वाक् पाणि पाद पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रिया तथा (१२ १७) प्राण अपान व्यान उदान और समान ये पाँच प्राण।

इनमें से बुद्धि सहित पाँच ज्ञानेन्द्रिययुक्त विज्ञानमयकोष सारी बुद्धि की प्रतिष्ठा है। प्रज्ञान सभी में समान है किन्तु विज्ञान में तारतम्य है। यह भी पुरुषविध है। इसके पाँच भाव हैं—श्रद्धा सत्य ऋत् योग और महः। श्रद्धा इसका प्रतिष्ठा है श्रद्धा को शिरस्थानीय माना गया है। मनोमय ऋत दक्षिण पक्ष है अङ्गिरात्मक अग्नि सत्य है जो उत्तर पक्ष है। बुद्धियोग विज्ञानमयकोश की आत्मा है। चन्द्र प्राणरूप है महः इसकी पुच्छ है—*स वा एष पुरुषविध एव। तस्य श्रद्धैव शिरः ऋतं दक्षिणः पक्षः सत्यमुत्तरः पक्षः योग आत्मा महः पुच्छं प्रतिष्ठा* (तैत्तिरीयोपनिषद् २ ४) ।

मनोमयकोष

सूक्ष्मशरीर के १७ अवयवों में से मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मिलकर मनोमयकोष कहलाता है। इसकी शक्ति इच्छा है। यजु इसका सिर है। ऋक् दक्षिण पक्ष है। साम उत्तर पक्ष है। आदेश आत्मा है और अथर्वाङ्गिरस प्रतिष्ठा है। ऋक् का देव अग्नि है। अग्नि की दिशा दक्षिण है। साम आदित्यप्रधान है। उसकी दिशा उत्तर है। यजु मुख्य होने के कारण सिर है। अथर्व सोमात्मक है। यह सोम अन्न लक्षण मन यह कर मैं यह करूँ ऐसा आदेश देता है यही मनोमयकोष की आत्मा है और अथर्वाङ्गिरस उसकी पुच्छ है—*स वा एष पुरुषविध एव तस्य यजुरेव शिरः ऋग्दक्षिणः पक्षः सामोत्तरः पक्षः आदेश आत्मा अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा* (तैत्तिरीयोपनिषद् २ ३) ।

मन के चार रूप हैं—श्वोवसीयस् मन सत्त्वमन सर्वेन्द्रियमन तथा इन्द्रियमन। इनमें श्वोवसीयस् मन ईश्वरीय मन है जो मनु रूप है और विश्व की क्रियाओं का सञ्चालन कर रहा है। सत्त्व मन वही है जिसे हमने पहले महत् कहा है। सर्वेन्द्रियमन वह है जो श्रोत्रादि सब इन्द्रियों के व्यापार का ग्रहण करता है। इन्द्रियमन एक स्वतन्त्र इन्द्रिय के रूप में है जो सङ्कल्प विकल्प करता है।

प्राणमयकोष

सूक्ष्मशरीर के पाच प्राण तथा पाँच कर्मेन्द्रिया मिलकर प्राणमयकोष बनाता है। क्रिया इस कोप का शक्ति है। पाच कर्मेन्द्रियो के नाम हम विज्ञानमय कोप के अन्तर्गत सूक्ष्मशरीर का वर्णन करते समय दे चुके है। पाच प्राणो मे प्राण ऊपर को ओर चलने वाला नासिका के अग्रभाग मे रहने वाला वायु है। अपान नीचे की ओर चलनेवाला वायु आदि स्थानो मे रहने वाला वायु है। व्यान चारो ओर चलने वाला समस्त शरीर मे व्याप्त वायु है। उदान कण्ठ स्थान मे रहने वाला शरीर को छोडते समय ऊपर की ओर चलने वाला वायु है तथा समान शरीर के मध्य में गये हुए खाये पिये गये अन्न को व्यवस्थित करने वाला वायु है।

यह प्राण भूतमय शरीर का देवमय आधार है। यह इन्द्रियातीत होने के कारण अन्तरात्मा कहलाता है। शरीर के जिस भाग से प्राण निकल जाता है वह भाग लकवे से ग्रस्त हो जाता है। इसी प्राण का वर्णन प्रश्नोपनिषद् (१८) में किया गया है—

विश्वरूप हरिण जातवेदस परायण ज्योतिरेक तपन्तम्।
सहस्ररश्मि शतधा वर्तमान प्राण प्रजानामुदयत्येष सूर्य ॥

यही प्राण भूतो मे भी व्याप्त है। एतरेयआरण्यक मे कहा गया है कि चींटी से लेकर आकाशपर्यन्त सब प्राण से विष्टब्ध है—*सोऽयमाकाश प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध। तद्यथाऽयमाकाश ? प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध एव सर्वाणि भूतान्यापिपीलिकाभ्य प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येव विद्यात्।*

बृहदारण्यक का कहना है कि अन्न बिना प्राण के सड जाता है तथा प्राण बिना अन्न के सूख जाता है। अत ये दोनो ही देवता है तथा दोनो मिलकर पूर्णता को प्राप्त होते है—*अन्न ब्रह्मेत्येक आहु। तन्न तथा। पूयति वा अन्नमृते प्राणात्। प्राणो ब्रह्मेत्येक आहु। तन्न तथा। शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नात्। एते ह त्वेव देवते एकधा भूत्वा परमता गच्छत* (बृहदारण्यक ५ १२ १)। प्राणमयकोष शरीर का विधर्ता है। इसे ही अन्तरात्मा कहा जाता है। प्राणमयकोप भी अन्य कोषों के समान ही पुरुषविध है। प्राण को असत् कहा जाता है। इसके सात भेद सप्तप्राण कहलाते हैं। प्राणमय कोप का जैसा संस्थान होता है वैसा ही संस्थान अन्नमय कोप का बन जाता है। यह संस्थान सबके भिन्न भिन्न है जिनका कारण शुक्र में रहने वाला महान् आत्मा है जिसे बीजपिण्ड कहा जाता है। इस महान् आत्मा के [illegible] भाव हैं सत्त्व रजस् तमस्, आकृति प्रकृति और अहङ्कृति। यह बीजपिण्ड मुख्यत आकृति के कारण ८४ प्रकार का होकर ८४ लाख प्रकार का हो जाता है जो विभिन्न योनियों का हेतु है।

पार्थिव प्राण वस्तिगुहा में है वायव्य प्राण उदरगुहा में है एवं दिव्यप्राण उरोगुहा में है। ये प्राण पाच भागों मे विभक्त हो जाते हैं—पार्थिव प्राण आते समय समान तथा जाते समय अपान कहलाता है दिव्य प्राण आते समय प्राण तथा जाते समय उदान कहलाता है। अन्तरिक्ष्य प्राण वायव्य है। यही व्यान कहलाता है। इसी पर शेष प्राण टिके हुए है—*मध्ये वामनमासीन सर्वे देवा*

उपामत। दिव्य प्राण मूर्धा है। प्राणमधुकाप का प्राणापान के मघर्ष के द्वारा जठराग्नि को रभा करने वाला व्यान दक्षिण पक्ष अथात् आग्नेय पक्ष है आर अपान उत्तर पक्ष अर्थात् साम्य पक्ष है। स्वय प्राण शिर है। आकाश आत्मा है। पृथिवी पुच्छ प्रतिष्ठा है—*तस्य प्राण एव शिर । व्यानो दक्षिण पक्ष । अपान उत्तर पक्ष । आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छ प्रतिष्ठा* (तैत्तिरीयोपनिषद् २२)।

अन्नमयकोष

आत्मा मे अर्थात् मनोगर्भित प्राण मे आकाश (वाक्) उत्पन्न हुआ। आकाश मे वायु वायु से अग्नि अग्नि से जल तथा जल से पृथिवी होती है। पृथ्वी से ओषधियाँ ओषधियो से अन्न बनता है। अन्न मे रतम् तथा रतम् से पुरुष बनता है। यही शरीर के निर्माण की प्रक्रिया है। मनुष्य मे आधिदैविक ब्रह्म का पूर्णत समावेश है इसलिये यद्यपि अन्य पशु भी इसी प्रक्रिया मे बनते हैं किन्तु उन्हें पुरुष नही कहा जाता।

यह अन्न रसमय शरीर सप्तचिति रूप है। मध्य का कबन्ध (धड) एक भाग है बाये दो हाथ पाँव तथा दाहिने दो हाथ पाँव ये चार भाग हैं। एक भाग सिर है और एक भाग रीढ की हड्डी का अन्तिम छोर। इसमे मध्य भाग सबसे मुख्य है। इसे ही तनु कहा जाता है। आत्मा का एक लक्षण तनु भी है—*आत्मा वै तनू* (शतपथब्राह्मण ६७२६)। हाथ पाव को पक्ष मानकर रीढ की हड्डी के अन्तिम छोर को पुच्छ मान कर पुरुष को एक पक्षी के समान मान लिया है और इसलिये इसे सुपर्ण भी कहा जाता है।

जो विश्व मे भू भुव और स्व है वही शरीर में बस्ति उदर और उर है। इन तीनों का सम्बन्ध अग्नि वायु और आदित्य मे है। यह अग्नि मनुष्य मे ही नही है पूरे विश्व मे है। इसका काम है पिण्ड का निर्माण करना—*सप्त प्राणा प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिष समिध सप्तहोमा सप्त इमे लोका येषु प्राणा गुहाशया निहिता सप्त सप्त*।

हमारे शरीर मे चार सस्थायें हैं और चारो सस्थाओ मे सात सात प्राण है—१ प्रथम शिरोगुहा में सात प्राण हैं—दो श्रोत्र दो चक्षु दो नासा और एक मुख। २ दूसरी उरोगुहा में भी सात प्राण हैं—दो प्राण दो स्तन प्राण दो फुफ्फुस प्राण और एक हृदय प्राण। ३ तीसरी गुहा उदर गुहा है। उसमे भी सात प्राण है—यकृत् प्लीहा दो वृक्क दो प्लाम और एक नाभि प्राण। ४ चौथी बस्तिगुहा में भी सात प्राण हैं—दो श्रोणी दो आण्ड एक मूत्रनलिका एक रेतोनलिका और एक मलद्वार। वायु मे प्राण आदित्य से चक्षु दिक्सोम से श्रोत्र तथा भास्वरसोम मे मन—इन पाँच इन्द्रियप्राणों का निर्माण होता है। वैश्वानर अग्नि का प्रवर्ग्य वैश्वानर प्राण है। हिरण्यगर्भ वायु का प्रवर्ग्य तैजसप्राण तथा दिव्य इन्द्र का प्रवर्ग्य प्राज्ञप्राण है।

आत्मा के सम्बन्ध मे अनेक विचार देहात्मवाद

आत्मा का अर्थ है—मेरा अपना स्वरूप। इस सम्बन्ध मे सदानन्द ने वेदान्तसार मे सामान्य मनुष्यों मे प्रचलित मतो का उल्लेख किया है। साथ ही उन मतो के सम्बन्ध में कुछ युक्ति तथा

श्रुतिप्रमाण भी दिये हैं। कुछ चार्वाक ऐसा मानते हैं कि स्थूलशरीर ही आत्मा है जैसा कि मैं मोटा हूँ मैं दुबला हूँ इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट होता है कि व्यक्ति अपने शरीर को ही मैं समझता है। इस सम्बन्ध में तैत्तिरीयोपनिषद् की श्रुति भी प्रमाण है—*स वा एष पुरुषो ऽन्नरसमय* (तैत्तिरीयोपनिषद् २ १ १)। कुछ चार्वाक इससे अधिक गहरे में जाकर इन्द्रियों को ही आत्मा मानते हैं जैसे कि मैं बहरा हूँ मैं काणा हूँ इत्यादि वाक्यों को बोलते समय हम इन्द्रियों को ही मैं मानकर बोलते हैं। इस सम्बन्ध में श्रुति प्रमाण है—*ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः* (छान्दोग्योपनिषद् ५ १ ७)।

प्राण ही आत्मा है

अन्य चार्वाक प्राणों को आत्मा मानते हैं जैसा कि हम मैं भूखा हूँ मैं प्यासा हूँ इत्यादि वाक्यों को बोलते समय मानते हैं। इस सम्बन्ध में श्रुति का प्रमाण है—*अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय*। (तैत्तिरीयोपनिषद् २ २ १) इससे भी अधिक सूक्ष्म में जाकर कुछ चार्वाक मन को आत्मा मानते हैं। जैसा कि हम मैं संकल्प करता हूँ मैं विकल्प करता हूँ इत्यादि वाक्यों को बोलते समय मानते हैं। श्रुति का प्रमाण है—*अन्योऽन्तर आत्मा मनोमय* (तैत्तिरीयोपनिषद् २ ३ १)।

बुद्धि ही आत्मा है

इसके विपरीत बौद्ध लोगों का कहना है कि विज्ञान अथवा बुद्धि ही आत्मा है क्योंकि हम लोग ऐसा प्रयोग करते हैं मैं कर्ता हूँ मैं भोक्ता हूँ। इस सम्बन्ध में श्रुति का प्रमाण है—*अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय* (तैत्तिरीयोपनिषद् २ ४ १)।

आनन्द ही आत्मा है

नैयायिक तथा प्रभाकर के अनुयायी मीमांसक आनन्द को ही आत्मा मानते हैं। आनन्द की स्थिति में बुद्धि का भी लय हो जाता है। इसलिये उस समय व्यक्ति अपने आपको अज्ञ अनुभव करता है। इसी स्थिति में वह कहता है—मैं अज्ञानी हूँ। इस मत के समर्थन में श्रुति है—*अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमय* (तैत्तिरीयोपनिषद् २ ५ १)।

अज्ञानोपहित चैतन्य ही आत्मा है

मीमांसकों में कुमारिल भट्ट का कहना है कि अज्ञानोपहित चैतन्य ही आत्मा है। जैसा कि *हम कहते हैं कि मैं अपने को नहीं जानता*। इस सम्बन्ध में श्रुति प्रमाण है—*प्रज्ञानघन एवानन्दमय* (माण्डूक्योपनिषद् आगम प्रकरण ५)।

शून्य ही आत्मा है

कुछ बौद्ध शून्य को ही आत्मा मानते हैं। विज्ञान को आत्मा मानने वाले बौद्ध विज्ञानवादी कहलाते हैं तथा शून्य को आत्मा मानने वाले माध्यमिक मत के अनुयायी शून्यवादी बौद्ध कहलाते हैं।

सिद्धान्तपक्ष

जहाँ तक वैदिक मत का सम्बन्ध है वह इन सभी स्थितियों को आत्मा का कोष मानता है। स्वयं आत्मा इन सबसे भिन्न है। वस्तुतः उस आत्मा का वर्णन शब्दों में हो ही नहीं सकता। श्रुति में जो इन विभिन्न स्तरों को आत्मा कहा गया है वह शिष्य की बुद्धि को स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाने की दृष्टि से है न कि तथ्य की दृष्टि से।

चार अवस्थायें

हमारे अनुभव में अपने अस्तित्व के तीन स्तर आते हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। इन तीन के आधार पर माण्डूक्योपनिषद् में व्यक्ति के व्यक्तित्व का विश्लेषण किया गया है। इसके अतिरिक्त एक चतुर्थ अवस्था ऐसी भी है जिसका अनुभव केवल योगियों को होता है सामान्य पुरुषों को नहीं। इसलिए इसका नाम तुरीय अवस्था है तुरीय अर्थात् चतुर्थ अवस्था।

वैश्वानर जागरितावस्था

वैश्वानर भोक्तात्मा के तीन विवर्तों में सबसे स्थूल है क्योंकि इसका सम्बन्ध स्थूलशरीर से है। जागरितावस्था में हमारी क्रिया प्रधान होती है तथा प्रज्ञा बहिर्मुखी होती है। इस अवस्था के सात अङ्ग और १९ मुख कहे जाते हैं। सात अङ्ग हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियों वाणी तथा प्राण। १९ मुख हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच प्राण मन बुद्धि चित्त और अहङ्कार। इनमें मन बुद्धि चित्त और अहङ्कार को अन्तःकरणचतुष्टय कहा जाता है।—*जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशति मुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः* (माण्डूक्योपनिषद् ३)।

तैजस स्वप्नावस्था

वैश्वानर जागरितावस्था है तो तैजस स्वप्नावस्था है। स्वप्नावस्था में हमारी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं। जागरितावस्था में महान्, विज्ञान और प्रज्ञान तीनों काम करते हैं। स्वप्नावस्था में प्रज्ञान सो जाता है केवल महान् और विज्ञान जागते हैं। स्वप्नावस्था में भी जागरितावस्था के समान ही सात अङ्ग तथा उन्नीस मुख रहते हैं किन्तु भोग स्थूल भोगों का न होकर सूक्ष्म का होता है। स्वप्नावस्था में हमारा स्थूलशरीर निश्चेष्ट हो जाता है। किन्तु मनोमयकोष में इन्द्रियाँ सूक्ष्म रूप से सक्रिय रहती हैं। इन्द्रियों के इस सूक्ष्म रूप को ही सूक्ष्मशरीर कहा जाता है। स्वप्नावस्था में हम बहिर्प्रज्ञ के स्थान पर अन्तःप्रज्ञ होते हैं—*स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः*। (माण्डूक्योपनिषद् ४)। स्वप्नावस्था में हम अपने मनोराज्य में विचरण करते हैं।

प्राज्ञ सुषुप्त्यवस्था

सुषुप्त्यवस्था का सम्बन्ध कारणशरीर से है। इस अवस्था में विज्ञान भी अपना कार्य बन्द कर देता है। प्रज्ञान ने तो अपना कार्य स्वप्नावस्था में ही बन्द कर दिया था सुषुप्त्यवस्था में केवल

महान् ही अपना कार्य करता है। इस कारण मन और बुद्धि की कोई क्रिया न होने पर भी पाचनक्रिया रक्तसंचार नाड़ी स्पन्दन इत्यादि होते रहते हैं। यदि महान् भी सो जाय तो मृत्यु हो जाती है। प्रज्ञान इन्द्रियों के द्वारा विषयों को देखना है। विज्ञान संस्कारों के बल पर अन्तर्मुख होकर विषयों को देखता है। सुषुप्त्यवस्था में विज्ञान संस्कारों सहित लीन हो जाता है। प्रगाढ़निद्रा में मनोराज्य के सुख दुःख नहीं रहते केवल आनन्द ही रहता है। जागरितावस्था में और स्वप्नावस्था में हमारी प्रज्ञा नाना रूप वाली होती है किन्तु सुषुप्त्यवस्था में वह एकीभूत हो जाती है। उस समय केवल चेतस अर्थात् स्वयं का बोध ही शेष रहता है।—*सुषुप्तस्थान एकीभूत प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुख प्राज्ञस्तृतीय पाद* (माण्डूक्योपनिषद् ५)।

तुरीयावस्था

इन तीन अवस्थाओं के अतिरिक्त एक चौथी अवस्था तुरीयावस्था है। यहाँ वैश्वानर तैजस और प्राज्ञ तीनों आत्मा में लीन हो जाते हैं। यह अवस्था न अन्तः प्रज्ञ है न बहिः प्रज्ञ न उभयतः प्रज्ञ न प्रज्ञानघन न प्रज्ञ और न अप्रज्ञ। इसका वर्णन केवल निषेध की भाषा में हो ही सकती है क्योंकि यहाँ समस्त प्रपञ्च शान्त हो जाते हैं। यह शिव अद्वैत की स्थिति है।—*नान्त प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयत प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यम व्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसार प्रपञ्चोपशम शान्त शिवमद्वैत चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय* (माण्डूक्योपनिषद् ७)।

शरीर तथा प्राण

वैश्वानर अग्नि सात धातुओं को बनाता है। उन धातुओं में जहाँ तक रक्त है वहाँ तक प्रज्ञान आत्मा है। यह प्रज्ञान आत्मा प्राज्ञ तैजस और वैश्वानर का अधिष्ठाता है। शरीर की सात धातुओं को ही वाक् कहा जाता है। शरीर पार्थिव है। इसकी माता पृथ्वी है। इस शरीर में प्राण विचरण करता है। इसलिये प्राणवायु को मातरिश्वा कहा जाता है। प्रज्ञान के बिना भोग सम्भव नहीं है।

प्राज्ञ इन्द्र की ज्येष्ठता

स्वप्नावस्था में जिस मनोजगत् का भोग होता है उसे दो भागों में बाँटा जा सकता है—भावना और वासना। भावना ज्ञानेन्द्रियों से बनती है वासना कर्मेन्द्रियों से बनती है। वैश्वानर और तैजस की अपेक्षा प्राज्ञ प्रज्ञान के अधिक निकट है। केनोपनिषद् की एक कथा से यह बात स्पष्ट होती है। एक यक्ष के सम्मुख अग्निदेव आये। यक्ष का अर्थ है अद्भुत। ब्रह्म अद्भुत है इसलिये ब्रह्म को ही यक्ष कहा जाता है। उस यक्ष ने अग्नि के सम्मुख एक तिनका रखा। अग्नि ने पूरा बल लगाया किन्तु उस तिनके को नहीं जला सके। फिर वायु देव आये और वायु ने भी पूरा बल लगाया। वह भी उस तिनके को नहीं उड़ा सके। सबसे अन्त में इन्द्र आये। इन्द्र तैजस प्राज्ञ का नाम है। अग्नि और वायु प्रज्ञान के विजातीय हैं किन्तु प्राज्ञ प्रज्ञान का सजातीय है। इन्द्र के सम्मुख वह यक्ष विलीन हो गया। सजातीय सजातीय में विलीन हो जाता है। यह शान्त मन है। यही इन्द्र

है क्योंकि इसने उस यक्ष ब्रह्म को सबसे पहले जाना, सबसे पहले उसका स्पर्श किया, इसलिये वह देवताओं का राजा बन गया। इस प्रकार मन ही इन्द्रियों का स्वामी बन गया।—*स हि नेदिष्ठं पस्पर्श स हि प्रथमं विदाञ्चकार ब्रह्मेति* (केनोपनिषद् २ २८ ३)।

त्रिविध पुरुषों में इन्द्र अक्षर है, विष्णु अव्यय है और ब्रह्मा क्षर है। यद्यपि पिण्ड का निर्माण अग्नि से होता है किन्तु उसका सञ्चालन अक्षर इन्द्र ही करता है। इन्द्र का ही अंश जीव में आकर प्राज्ञ कहलाता है। यह प्राज्ञ सर्वज्ञ है किन्तु अविद्या के कारण वह अपने को अल्पज्ञ मानता है।

जागरितावस्था में वैश्वानर का वैश्वानर से ही सम्बन्ध होता है। स्वप्नावस्था में तैजस निज विषयों को जानता है, वे स्थूल नहीं बल्कि प्राणभूत होते हैं। स्वयं तैजस भी वायु रूप होने के कारण प्राणरूप है इसलिये वह उन्हें जान लेता है। सुषुप्ति में प्राज्ञ और प्रज्ञान दोनों एक हो जाते हैं। उस समय केवल ज्ञान ही शेष रहता है, अन्य कोई विजातीय पदार्थ शेष नहीं रहता। वैश्वानर पृथ्वी से जुड़ा है। तैजस अन्तरिक्ष से जुड़ा है, प्राज्ञ द्युलोक से जुड़ा है तो महान् परमेष्ठी से जुड़ा है। इनमें अक्षर का प्रतिनिधि प्राज्ञ अथवा इन्द्र कुर्वद्रूप है। वही सबका मूल कारण है। उसके बिना अविकुर्वाण अव्यय और विकुर्वाण क्षर कुछ नहीं कर सकते।

अ उ म्, ओम्

शब्दब्रह्म का सर्वश्रेष्ठ रूप ओ३म् है। ओ३म् का अकार वैश्वानर है। इसकी उपासना से समस्त लौकिक कामनाएं पूरी होती हैं। उकार तैजस है। वैश्वानर में अर्थ है। तैजस में क्रिया है। अर्थ की पुष्टि क्रिया से होती है। क्रिया से ही अन्न का परिपाक होता है। क्रिया के बिना मन भी निर्बल रह जाता है। तैजस उत्कर्ष को बढ़ाता है। तैजस वैश्वानर और प्राज्ञ दोनों से जुड़कर उनका सञ्चालन करता है। जो तैजस की उपासना करता है उसके सब मित्र हो जाते हैं। उसके वंश में कोई मूर्ख नहीं होता। तीसरा वर्ण 'म' है। 'म' का अर्थ सीमा है। जो म् की उपासना करता है वह समस्त वैभव को पा लेता है। अ उ म् के अतिरिक्त एक चतुर्थ मात्रा है जो अखण्ड और अव्यवहार्य है, वही तुरीयस्थिति है।

इस प्रकार ओङ्कार में हमारे व्यक्तित्व के चारों स्तरों का प्रतिनिधित्व हो जाता है। इसलिए जो ओङ्कार को जानता है वह अपने को जान लेता है और जो अपने को जान लेता है वह सब कुछ जान लेता है। इसलिये ओङ्कार का ज्ञान सर्वोत्कृष्ट है। कठोपनिषद् में कहा है कि समस्त वेद इसी ओङ्कार की व्याख्या करते हैं। समस्त तपस्या इसी की प्राप्ति के लिये की जाती है और इसी की इच्छा से ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(कठोपनिषद् १ २ १५)

इसी ओङ्कार को शब्दब्रह्म मानकर यह उक्ति प्रसिद्ध हो गई—

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति। (ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, १७)

यदि ओङ्कार के उपर्युक्त विश्लेषण पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि हमारे व्यक्तित्व के दो स्तर हैं। एक अ उ म द्वारा उपलक्षित वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ जिसका अनुभव हम सबको क्रमशः जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में होता है। इसलिये इसे हमारे अस्तित्व का व्यावहारिक पक्ष कहा जा सकता है किन्तु हमारे व्यक्तित्व का एक ऐसा अंश भी है जो इन तीनों अवस्थाओं से ऊपर है वह हमारे व्यवहार में नहीं आता—

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः।
एवमोङ्कार आत्मैव।
संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद॥
(माण्डूक्यकारिका, आगमप्रकरण, १२)

यह हमारा पारमार्थिक स्वरूप है। हमारा व्यावहारिक स्वरूप विज्ञान अथवा कर्म का विषय है। हमारा पारमार्थिक स्वरूप ज्ञान का विषय है। वैदिक जीवनदृष्टि इन दोनों के समन्वय पर बल देती है।

परलोक

अनादिकाल से मनुष्य इस प्रश्न से जूझता रहा है कि मरणोपरान्त जीव कहाँ जाता है। इस विषय का ज्ञान न प्रत्यक्ष द्वारा हो सकता है न अनुमान द्वारा। किन्तु जैसा हम विषयप्रवेश में देख चुके हैं वेद की वेदता इसी में है कि वह उन विषयों का ज्ञान करवाता है जिन विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा नहीं हो सकता।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एतद्विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

मरने के बाद हम सामान्यतः आत्मा की तीन स्थितियाँ मानते हैं—(१) जीव अपने कर्मानुसार किसी भी योनि में नया शरीर धारण कर लेता है।

(२) पुण्यवान् जीव स्वर्ग में जाता है।

(३) ज्ञानवान् जीव मुक्त हो जाता है और ब्रह्म में लीन हो जाता है।

उपर्युक्त अवधारणायें गलत नहीं हैं किन्तु हमें इस अधिकरण के उत्तरार्ध में यह विचार करना है कि—

(i) मरने के अनन्तर किसी भी गति को प्राप्त होने वाले जीव से हमारा क्या अभिप्राय है?

(ii) वे योनियाँ कितने प्रकार की हैं जिनमें जीव जा सकता है? स्वर्ग कितने प्रकार के हैं तथा मुक्ति कितने प्रकार की है?

(iii) आत्मा की कौन सी गति किन कारणों से और किस प्रकार होती है।

मरणोपरान्त सङ्क्रमण करने वाला जीव

यह तो स्पष्ट है कि मरणोपरान्त हमारा स्थूलशरीर कहीं भी नहीं जाता। स्थूलशरीर तो पाँच तत्त्वों के पाँच तत्त्वों में मिल जाने से यहीं लीन हो जाता है। इसलिए मरने का एक नाम पञ्चत्व को प्राप्त हो जाना भी है। पञ्चत्व को प्राप्त होना भी तीन प्रकार का है पृथिवी जल तेज वायु और आकाश का इन्हीं पाँच भूतों में लीन हो जाना भूतपञ्चत्व है। वाक् प्राण चक्षु श्रोत्र और इन्द्रियों का क्रमश अग्नि वायु सूर्य चन्द्र और दिक् में लीन हो जाना देवपञ्चत्व है। चिदात्मा सूत्रात्मा भूतात्मा महानात्मा और भूतात्मा का क्रमश स्वयम्भू परमेष्ठी सूर्य चन्द्र और पृथिवी में लीन हो जाना आत्मपञ्चत्व है। अतः मरणोपरान्त हमारे व्यक्तित्व के वे घटक जो प्रकृति के भिन्न भिन्न तत्त्वों से आये थे प्रकृति के इन्हीं मूल उद्गम स्थानों में लीन हो जाते हैं। इसे ही पञ्चत्व गति कहते हैं। पञ्चत्व को प्राप्त होने वाले इन तत्त्वों के कहीं अन्यत्र जाने का प्रश्न नहीं उठता।

परलोकगामी सूक्ष्मशरीर चन्द्रलोक

दूसरी ओर वेदान्त में प्रसिद्ध यह आत्मा जो विभु सर्वव्यापक और निर्विकार है तथा जिसे अखण्डात्मा भी कहा जाता है गति कर ही नहीं सकता क्योंकि वह सर्वव्यापक है। अतः मृत्यु के उपरान्त *सूक्ष्मशरीर ही गति करता है।* सूक्ष्मशरीर में मन की ही प्रधानता रहती है और मन का सम्बन्ध चन्द्रमा से है इसलिए अधिकतर सम्भावना यह रहती है कि मन चन्द्रमा के आकर्षण से बँधकर सूक्ष्मशरीर को चन्द्रलोक में ले जायेगा। यह चन्द्रलोक ही पितृलोक कहलाता है क्योंकि अधिकतर जीव मरणोपरान्त यहीं जाते हैं।

सूर्यलोक

किन्तु इसके दो अपवाद भी हैं। यदि कोई साधक तपस्या तथा योग के बल पर अपनी बुद्धि को इतना अधिक प्रबल बना दे कि उसका मनस्तत्त्व बुद्धितत्त्व से अभिभूत हो जाय तो वह चन्द्रमण्डल का भेदन करके सूर्यमण्डल में पहुँच जाता है क्योंकि बुद्धि का सम्बन्ध सूर्य से है तथा सूर्य देवप्राणों की समष्टि है इसलिए इसे देवगति भी कहा जाता है और क्योंकि सूर्य प्रकाशमान है इसीलिए इसे स्वर्गगति भी कहते हैं। क्योंकि अर्चि में भी प्रकाश रहता है इसलिए इसे अर्चिमार्ग भी कहा जाता है।

दुर्गति

चन्द्रलोक में भी न जा पाने वालों का एक दूसरा वर्ग है जिसका मन धन भवन इत्यादि पार्थिव पदार्थों में ही भटका रह जाता है। इनके मन पर पृथिवी का आवरण इतना गहरा चढ़ जाता है कि इनका जीव मरणोपरान्त पृथिवी से ऊपर ही नहीं उठ पाता और ये चन्द्रलोक तक भी नहीं जा पाते। पार्थिव वस्तुओं की कामना प्रबल होने के कारण इनके मन का भी वह उसी प्रकार हो जाती है जिस प्रकार तुम्बी तथा तुम्बी के जल में तैरने की शक्ति को गारा मिट्टी दबा देती है—यह

सबसे निकृष्ट स्थिति है। इसलिए इसे दुर्गति कहा गया है। इसकी अपेक्षा चन्द्रलोक अथवा पितृलोक श्रेष्ठ है और चन्द्रलोक की अपेक्षा भी सूर्यलोक अथवा देवलोक श्रेष्ठ है।

सूर्यमण्डल का भेदन

अब तक वर्णित सभी लोकों का सम्बन्ध सूर्यलोक तक है। पृथिवी से दुर्गति का सम्बन्ध है, मन से चन्द्रलोक का सम्बन्ध है और बुद्धि से सूर्यलोक का सम्बन्ध है। जहाँ तक सूर्य है वहाँ तक मृत्यु का साम्राज्य है। इसलिए इन तीनों ही गतियों में रहने वाला जीव जन्म मरण के चक्कर में पड़ा रहता है। पुण्य के क्षीण होने पर जीव को स्वर्ग से भी मर्त्यलोक में आना पड़ता है—*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*। शास्त्र का प्रमाण है कि सूर्य से नीचे जो भी है वह मृत्यु से व्याप्त है—*यत्किञ्चार्वाचीनमादित्यात्सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्*। मर्त्यलोक, चन्द्रलोक और देवलोक—तीनों ही कर्म से प्राप्य हैं किन्तु जब तक कामना है तब तक सकाम कर्म करने वाला जीव सूर्यमण्डल का भेदन नहीं कर सकता। जन्म मरण से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है—निष्कामता। निष्काम कर्म द्वारा ही जीव उस स्थिति को प्राप्त होता है जिसे सामान्यतः मोक्ष और सामवेद की भाषा में गायत्र यज्ञ तथा यजु की भाषा में पञ्चदशाह यज्ञ कहते हैं। यह स्थिति बाईसवें अहर्गण से छत्तीसवें अहर्गण पर्यन्त पन्द्रह अहर्गणों में व्याप्त है क्योंकि इक्कीसवें अहर्गण तक तो सूर्य है। उसके अनन्तर ही बाईसवें अहर्गण में सूर्यमण्डलातीत स्थिति है। सूर्य का सम्बन्ध बुद्धि से है। सूर्य के अनन्तर बुद्धि की गति नहीं है। कठोपनिषद् ने भी इस स्थिति को बुद्धि से परे बताया है—*यो बुद्धेः परतस्तु सः*। यह जीव कर्म के पाश से मुक्त हो गया इसलिए इसके लिए कहा जाता है—*न बध्यते कर्मणा नो कनीयान्*। यह जीव सब पापों को पार कर लेता है—*सर्वं पाप्मानं तरति*। वह पापों को तपा देता है, पाप उसे नहीं तपाते—*नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति* (बृहदारण्यकोपनिषद् ४.४.२३)।

मुण्डकोपनिषद् स्पष्ट शब्दों में कहती है कि यह स्थान विरज, निष्कम्प्य को प्राप्त जीवों को सूर्य द्वार से गुजरकर प्राप्त होता है जहाँ वह अमृत अव्ययपुरुष है—*सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा* (मुण्डकोपनिषद् १.२.११)।

इस मुक्त गति से उत्क्रमण करने वाले जीव को भी दो प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं—अपरामुक्ति और परामुक्ति।

अपरामुक्ति

अपरा मुक्ति के अन्तर्गत जीव यद्यपि पाप पुण्य दोनों का अतिक्रमण कर जाता है तथापि उसका जीवत्व सुरक्षित रहता है। इस अपरा मुक्ति के दो भेद मुख्य हैं—कामप्र और अशोकमहिम। सूर्य से ऊपर पहुँचने पर भी जीव चौबीसवें अहर्गण तक कामना से सर्वथा मुक्त नहीं होता किन्तु वह जो भी कामना करता है उसकी वही कामना पूरी हो जाती है। इसलिए इसे कामप्र कहा जाता है। इस कामप्र मुक्ति की अवस्था में जीव ब्रह्मलोक में रहता है और ब्रह्म के सान्निध्य में रहता है इसलिए इसे सालोक्य और सामीप्य भी कहा जाता है। पच्चीसवें अहर्गण से छत्तीसवें अहर्गण पर्यन्त अशोकमहिमलोक कहलाता है। कामप्रलोक में यद्यपि सभी कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं किन्तु

कामनाएं उत्पन्न अवश्य होती हैं। अशोकमहिमलोक की यह विशेषता है कि वहां कामनाएं उत्पन्न ही नहीं होतीं। अशोकमहिमलोक में ब्रह्म का सारूप्य और ब्रह्म का अभेद स्थापित हो जाने से इसे सारूप्य सायुज्य भी कहा जाता है। इनमें बाईसवें अहर्गण पर सालोक्यमुक्ति तेईसवें चौबीसवें अहर्गण पर सामीप्यमुक्ति पच्चीसवें से तीसवें अहर्गण पर सारूप्यमुक्ति और इकतीसवें से छत्तीसवें अहर्गण पर सायुज्यमुक्ति का लोक है।

परामुक्ति

यदि अपरामुक्ति उपासना से प्राप्त होती है तो परामुक्ति ज्ञान का फल है। क्योंकि यह अपरा की अपेक्षा उत्कृष्ट है इसलिए इसे परामुक्ति कहा जाता है। इसका स्थान छत्तीसवें अहर्गण से ऊपर अड़तालीसवें अहर्गण तक है। यह स्थान परमाकाश का है। यहाँ पहुँचकर जीव नाम रूप से मुक्त हो जाता है। इस मुक्ति का वर्णन कठोपनिषद् में इन शब्दों में हुआ है—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥—(कठोपनिषद् २ १ १५)

इस परामुक्ति के भी दो भेद हैं—क्षीणोदर्क तथा भूमोदर्क। इन्हें ही क्रमशः कैवल्य और निर्वाण कहते हैं। ज्ञानमार्ग से क्षीणोदर्कमुक्ति और योगमार्ग से भूमोदर्कमुक्ति प्राप्त होती है। ज्ञानमार्ग में वित्तैषणा पुत्रैषणा तथा लोकैषणा छोड़नी पड़ती है तथा इन्द्रिय मन और बुद्धि आदि समस्त आध्यात्मिक प्रपंचों का भी त्याग करना पड़ता है इसलिए इसे क्षीणोदर्क कहा जाता है। इसके विपरीत योगी सभी परिग्रहों में आत्मभूमा की भावना रखते हैं इसलिए इसे भूमोदर्क कहा जाता है। इस मार्ग का अनुगामी लोकसङ्ग्रहभाव रखता है। इसके अतिरिक्त एक तीसरी भी मुक्ति है जिसे समवलय कहते हैं। जो जीव पृथिवी पर रहते हुए ही सर्वत्र आत्मदर्शन से इतने सुदृढ़ भाव में स्थित हो जाता है कि उसे आत्मा के अतिरिक्त कुछ दृष्टिगोचर ही नहीं होता उसका यहीं आत्मभाव में विलयन हो जाता है—*न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते*। इसे ही समवलय मुक्ति कहा जाता है। वस्तुतः यह गति नहीं है क्योंकि इसमें जीव कहीं जाता नहीं अतः इसे अगति कहना चाहिए। यही विदेहमुक्ति या सद्योमुक्ति कहलाती है। इस समवलय मुक्ति के भी परामुक्ति के समान ही क्षीणोदर्क तथा भूमोदर्क दो भेद हो जाते हैं।

इनमें भक्तियोग से अपरामुक्ति ज्ञानयोग से परामुक्ति तथा बुद्धियोग से समवलयमुक्ति प्राप्त होती है।

सात स्वर्ग

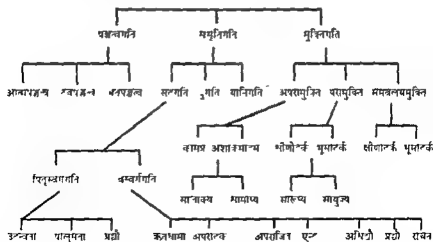
स्वर्ग लोक की चर्चा हमने ऊपर की। यह भी बतलाया कि इस लोक का सूर्य से सम्बन्ध है। पृथिवी के सत्रहवें अहर्गण के अनन्तर पार्थिव अग्नि के साथ सौर इन्द्र का समन्वय हो रहा है। सत्रहवें अहर्गण से लेकर पच्चीसवें अहर्गण तक नौ अहर्गणों में यह समन्वय होता रहता है। इसे ही नवाहयज्ञ कहा जाता है। इनमें से प्रत्येक अहर्गण पर एक एक स्वर्ग है। इनमें भी सत्रहवें अहर्गण पर नाचिकेतस्वर्ग है जिसे ब्रह्मविष्टप् कहा जाता है। इक्कीसवें अहर्गण पर नाकस्वर्ग है जिसे विष्णुविष्टप् कहा जाता है और पच्चीसवें अहर्गण पर प्रत्नस्वर्ग है जिसे इन्द्रविष्टप कहा जाता है। इन तीनों स्वर्गों को मिलाकर त्रिविष्टप कहते हैं। शेष अठारह से चौबीस तक के अहर्गणों में

अठारहवें अहर्गण पर ऋतधामा नाम का आग्नेयस्वर्ग है, उन्नीसवें अहर्गण पर अपराह्न नामक वायव्यस्वर्ग है। बीसवें अहर्गण पर अपराजित नामक ऐन्द्रस्वर्ग है। इक्कीसवें अहर्गण पर इन्द्र नामक ऐन्द्राग्नस्वर्ग, बाईसवें अहर्गण पर अभिद्यौ नामक वारुणस्वर्ग, तेईसवें अहर्गण पर प्रद्यौ नामक मृत्युस्वर्ग तथा चौबीसवें अहर्गण पर रोचन नामक ब्राह्मस्वर्ग है। ऋतधामा से लेकर रोचन तक के ये सात स्वर्ग ही देवस्वर्ग कहलाते हैं। स्मार्त्तिक शास्त्र कहते हैं—सप्त वै देवस्वर्गाः। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि इक्कीसवें अहर्गण पर जहाँ त्रिणाचिकेत नामक नाक स्वर्ग होने की बात कही गई है वहाँ इस अहर्गण में सूर्य केन्द्र अभिप्रेत है और जहाँ इसी इक्कीसवें अहर्गण पर देवस्वर्ग होने की बात कही गई है वहाँ सौरज्योति और पार्थिवज्योति के परस्पर सम्मिलित प्रदेश की बात है। इस इक्कीसवें अहर्गण को छोड़कर अठारह उन्नीस बीस अहर्गण के तीन स्वर्ग प्राक्स्वरसाम कहलाते हैं तथा बाईस तेईस चौबीस तीन अहर्गण के तीन स्वर्ग उत्तरस्वरसाम कहलाते हैं।

तीन पितृलोक

सूर्य के चारों ओर जो उपग्रह परिक्रमा लगा रहे हैं उनमें शनि अन्तिम है। इस शनि का जो भाग सूर्य की ओर रहता है वह धर्मराज कहलाता है और जो सूर्य की विरुद्ध दिशा में रहता है वह यमराज कहलाता है। शनि के चारों ओर जो एक वृत्त है उसे पुराणों में वैतरणी नदी कहा है। इनमें से शनि का जो ज्योतिर्मय भाग है वही पितृस्वर्ग कहलाता है। यह भाग भी तीन भागों में बंटा है। प्रथम भाग में अप् तत्त्व प्रधान है। यह उदन्वती कहलाता है। मध्य में वायुतत्त्व मुख्य है। यह पीलुमती कहलाता है। अन्त में सोमतत्त्व प्रधान है यह प्रद्यौ कहलाता है। ये ही तीन पितृस्वर्ग हैं। इस प्रकार मरण के अनन्तर जीव की भिन्न भिन्न स्थानों पर गति हो सकती है उसका विवरण निम्न तालिका द्वारा समझा जा सकता है—

मरणोपरान्त आत्मगति के स्थान



चार पथ

अब तक जितने स्थान हमने मरणोपरान्त जीव के जाने के बताये हैं उन्हें मुख्यतः दो भागों में बाँट सकते हैं—देवयान और पितृयान। फिर देवयान भी दो भागों में बँट जाता है—देवस्वर्ग गति में ले जाने वाला देवपथ और क्रममुक्ति गति में ले जाने वाला ब्रह्मपथ। इसी प्रकार पितृयान भी दो भागों में बट जाता है—पितृस्वर्ग गति में ले जाने वाला पितृपथ तथा नरकगति में ले जाने वाला यमपथ।

चार पथों पर ले जाने वाले कर्म

इन चारों पथों पर जीवात्मा भिन्न भिन्न प्रकार के कर्मों के कारण जाता है। कर्म मुख्यतः दो प्रकार के हैं—विद्यासापेक्ष और विद्यानिरपेक्ष। ये कर्म भी दो प्रकार के हैं—निवृत्ति कर्म और प्रवृत्ति कर्म। इनमें विद्यासापेक्ष प्रवृत्ति कर्म यज्ञ तप और दान से जीव देवपथ से देवस्वर्ग में जाता है। विद्यानिरपेक्ष इष्ट आपूर्त और दत्त कर्मों को करने में व्यक्ति पितृपथ द्वारा पितृस्वर्ग में जाता है। देवपथ तथा पितृपथ पर जाने वाला जीव पुण्य क्षीण होने पर देवस्वर्ग अथवा पितृस्वर्ग से पुनः पृथ्वीलोक पर आ जाता है किन्तु ब्रह्मलोक में पहुँच कर जीव पृथ्वी के आकर्षण से बाहर निकल जाता है और उसे पृथ्वी पर नहीं लौटना पड़ता। ब्रह्मपथ में जाने के लिये जीव को निवृत्तकर्म का अनुगमन करना होगा। ये निवृत्तकर्म विद्यासापेक्ष भी हो सकते हैं विद्यानिरपेक्ष भी और लौकिक भी। इसके अतिरिक्त लौकिक स्वार्थपूर्ण लोकविरुद्ध तथा लोकनिरर्थक सभी कर्म यमपथ में ले जाते हैं।

यहाँ विद्या से अभिप्राय त्रयी विद्या से है। जिन कर्मों में त्रयी विद्या के ज्ञान की अपेक्षा रहती है वे सब कर्म विद्यासापेक्ष होते हैं तथा जिन कर्मों में त्रयी के ज्ञान की अपेक्षा नहीं है वे सब कर्म विद्यानिरपेक्ष होते हैं। विद्यासापेक्ष कर्मों में हमने यज्ञ तप और दान को गिनाया है। इनमें से यज्ञ के अन्तर्गत यजमान मानुषात्मा का देवात्मा से अन्तर्याम सम्बन्ध बनाता है इस देवात्मा की रक्षा के लिये जो प्राणकर्म किया जाता है—जिसमें त्याग और उपासना मुख्य है—वह तप है तथा वेदविद् को दक्षिणा देना दान है।

इन तीनों की विस्तृत व्याख्या हम यज्ञाधिकरण में करेंगे किन्तु यहाँ इतना जान लेना आवश्यक है कि बिना त्रयी के ज्ञान के इन तीनों का सम्पादन नहीं हो सकता। इसके विपरीत इष्ट आपूर्त और दत्त में त्रयी के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। इष्ट के अन्तर्गत स्मार्तयज्ञ आते हैं आपूर्त में कूपादि निर्माण जैसे सामाजिक कल्याण के कार्य आते हैं और दत्त के अन्तर्गत जरूरतमन्दों की सहायता करना सम्मिलित है।

जहाँ तक ब्रह्मपथ पर ले जाने वाले निवृत्तकर्मों का प्रश्न है यह जान लेना चाहिये कि वासना बन्धन का कारण है। वही जीव को लोकों में भ्रमण करवाती है। जब हम किसी कर्म को निष्कामभाव से करते हैं तो वासना के अभाव में वह कर्म बन्धन का कारण नहीं बनता और ब्रह्मपथ पर ले जाने

विद्या की प्रधानता में सूर्याभिमुख गति होती है और विद्या को अविद्या द्वारा दबा दिये जाने पर चन्द्राभिमुखगति। विद्या अग्निभाग की ओर तथा अविद्या धूमभाग की ओर ले जाती है। ज्ञान को उत्पन्न करने वाले अथवा ज्ञान के सहकारी कर्मों को पुण्य कहते हैं और आत्मावरोधी धर्मों को उत्पन्न करने वाले अथवा ज्ञान का नाश करने वाले कर्मों को पाप कहते हैं। पुण्य शुक्ल और पाप कृष्ण है।

कोई संस्कार यदि देव प्राणों का संग्राहक करने वाला है तो उस कर्म को पुण्य कर्म कहेंगे किन्तु यदि संस्कार आसुर प्राणों का संग्राहक हो तो उस कर्म को पाप कहते हैं। पुण्य के फल से आत्मा हल्का होता है और वह देव की ओर जाना चाहता है।

कर्म के तीन प्रकार

कर्म के विद्या सापेक्ष विद्या निरपेक्ष तथा प्रवृत्त एवं निवृत्त भेद हमने किये हैं। कर्म का भेद करने का एक अन्य भी प्रकार यह है कर्म तीन प्रकार के हैं—कर्म विकर्म और अकर्म। हम सभी कुछ न कुछ कर्म करते हैं तथा वे कर्म ज्ञानपूर्वक होते हैं। इसमें ज्ञान ब्रह्मभाग है कर्म बलभाग है। ये दोनों ही हम सबमें मिलते हैं क्योंकि हम सूर्य चन्द्र और पृथ्वी के समन्वित रूप हैं। सूर्य में ब्रह्म मात्रा अधिक है। चन्द्रमा में कर्म मात्रा अधिक है तथा पृथ्वी में केवल कर्म मात्रा ही है। सूर्य से ज्ञान जुड़ा है चन्द्रमा से क्रिया और पार्थिव सस्था में अर्थ शक्ति किन्तु तीनों में ही कर्म है। सर्वप्रथम पार्थिव कर्मों को लें। पृथ्वी में अर्थप्रधानकर्म मुख्य है। ये कर्म अर्थ और काम को देने वाले हैं। इनका सम्बन्ध तमोगुण से है। ये स्वार्थपरक कर्म हैं। दूसरे कर्म जो चन्द्रमा से जुड़े हैं वे तीन प्रकार के हैं—इष्ट आपूर्त और दत्त। इन तीनों प्रकार के कर्मों में त्रयी ज्ञान की अपेक्षा नहीं है इसलिये ये कर्म मनुकर्म तो हैं किन्तु विद्या निरपेक्ष हैं।

तीसरे कर्म दिव्य कर्म हैं जिनमें त्रयी ज्ञान की अपेक्षा रहती है। ये कर्म भी तीन हैं—यज्ञ तप और दान। इन तीनों कर्मों में विद्या की अपेक्षा है इसलिये ये विद्यासापेक्षकर्म हैं। पार्थिव कर्मों में अर्थ मुख्य है ज्ञान तथा क्रिया गौण हैं। पितृकर्मों में क्रिया मुख्य है अर्थ और ज्ञान गौण हैं। दिव्य कर्मों में ज्ञान मुख्य है क्रिया और अर्थ गौण हैं। दिव्य कर्म परम पुरुषार्थ है। यह देवप्राण द्वारा सम्पन्न होता है। चान्द्रकर्म विद्यानिरपेक्षकर्म हैं। ये परार्थ हैं। यह पितृप्राण से सम्पन्न होता है और अविद्यायुक्त पार्थिव कर्म स्वार्थ है। वे वैश्वानरप्राण से सम्पन्न होते हैं। विद्या सहित निवृत्तिकर्म अमृतरूप हैं बन्धन से रहित हैं। विद्यासहित प्रवृत्तिकर्म बन्धन सहित हैं। वे मर्त्य हैं। विद्यानिरपेक्ष निवृत्तिकर्म अमृत रूप हैं बन्धन से रहित हैं विद्यानिरपेक्ष प्रवृत्तिकर्म बन्ध सहित हैं। वे मर्त्य हैं। लौकिक मनुकर्म बन्धन रहित हैं। वे अमृत रूप हैं। ये पाँचों कर्म कहलाते हैं। लौकिक निरर्थककर्म बन्धन सहित मर्त्यकर्म हैं वे अकर्म कहलाते हैं। लौकिक विरुद्ध कर्म दृढ़ बन्धन वाले हैं तथा लौकिक स्वार्थ पूर्ण कर्म निविड़ बन्धन वाले हैं। निरर्थक लौकिक कर्म अकर्म हैं तथा लोकविरुद्ध और स्वार्थकर्म विकर्म हैं।

है शिरा से व्यान का धमनी से और प्राण का स्नायु स सम्बन्ध है। इन तीनों में मध्यस्थ व्यान मुख्य है जिस पर प्राण और अपान टिक हैं। इसलिय प्राण और अपान चल भी जायें ता व्यान क बन रहन पर शरीर नहीं छूटता।

प्राणो से नाड़ियो का सम्बन्ध

हृदय में प्राण है। उसका सम्बन्ध पार्थिव नाडियों से है। कण्ठ में उदान है। उसका सम्बन्ध तेजानाडी से है। शरीर में व्यान है। उसका सम्बन्ध व्यामनाडी से है। नाभि में समान है उसका सम्बन्ध वायव्यनाडी स है। गुदा में अपान है। उसका सम्बन्ध जलीयनाडी से है। ये पाँचों प्राण पञ्चभूत नाडियों को पुष्ट रखते हैं तथा उनकी रक्षा करते हैं। पार्थिवप्राण स जुडी हुई ज्ञानेन्द्रियाँ नासा है तथा उससे कोई कर्मेन्द्रिय नही जुडी है। जल से जिह्वा ज्ञानेन्द्रिय के रूप में जुडी है तथा शिश्न कर्मेन्द्रिय के रूप में जुडा ह। वायु से पाणि कर्मेन्द्रिय के रूप में जुडा है और त्वक् ज्ञानेन्द्रिय के रूप म जुडी है। आकाश में श्रोत्र ज्ञानेन्द्रिय के रूप में जुडा हुआ है वाक् कर्मेन्द्रिय के रूप में जुडी है। तेज स चक्षु ज्ञानेन्द्रिय के रूप में जुडा है और पाद कर्मेन्द्रिय के रूप में जुडा है। इनमें प्रत्येक भूत से १४४०० नाडियाँ जुडी हैं। इस प्रकार कुल ७२००० नाडिया पञ्चभूतों से जुडी हैं।

पाँचभूतों में स प्रत्येक भूत का सम्बन्ध तीन तीन द्रव्यों से है तथा प्रत्येक द्रव्य की ४८०० ४८०० नाडियाँ हैं। इस प्रकार कुल ७२००० नाडियाँ हो जाती है।

पृथ्वी के तीन द्रव्य हैं—अस्थि मास और त्वचा। जलीय द्रव्य भी तीन हैं—शुक्र शोणित और मज्जा। क्षुधा तृषा और निद्रा तैजस द्रव्य हैं। धावन चलन और भाषण तीनों वायव्य द्रव्य हैं। द्वेष लज्जा और भय आकाशीय द्रव्य ह।

पाँच भूतों से जुडी पाँच नाडियों की चार सन्धियाँ हैं। नाभि से हृदय के बीच नागप्राण है। मूल द्वार से नाभिपर्यन्त एक प्रदेश है। इसक बीच में कूर्मप्राण रहता है। हृदय से कण्ठ के बीच कृकलप्राण है। कण्ठ से ब्रह्मरन्ध्र के बीच देवदत्तप्राण है। ये चारों ऋतप्राण हैं। ये प्राण और अपान के बाच स्थित है। प्राण और अपान दोनों सत्यप्राण हैं। इस प्रकार सत्य के बीच ऋत है। इन पाँचों प्राणों को धनञ्जय नामक ऋतप्राण ने अपने में समेट रखा है।

नाग का काम उद्गार है। निमेषोन्मेष का कारण कूर्म है। कृकल भूख प्यास का कारण है। देवदत्त जृम्भा का कारण होता है। धनञ्जय से शोथ होता है।

वेद की यह विशेषता है कि वह अध्यात्म अधिदैवत और अधिभूत तीनों में बिम्ब प्रतिबिम्बभाव स्थापित करता है। अध्यात्म जीव संस्था है अधिदैवत ब्रह्मसंस्था है और अधिभूत विश्वसंस्था है। हमने वर्तमान अधिकरण म अध्यात्म अथवा जीवसंस्था का विस्तार किया है किन्तु क्योंकि जीवसंस्था ब्रह्मसंस्था और विश्वसंस्था म समता है इसलिए जीवसंस्था का वर्णन करते समय आनुषङ्गिक रूप म शेष दो संस्थाओं का उल्लेख भी अनायास ही हो गया है। अब हम अगले दो अधिकरणों म क्रमशः ब्रह्म तथा विश्व को केन्द्र में रखकर विचार करेंगे। उस विचार

में भी आनुषङ्गिक रूप में जीव का उल्लेख हो सकता है। वेद की समग्र दृष्टि का यह फल है कि हम किसी एक विषय को शेष विषयों से सर्वथा विच्छिन्न नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में अनिवार्य पुनरावृत्ति को बचाया नहीं जा सकता। उपर्युक्त तीनों विषयों का पारस्परिक सम्बन्ध निम्न तालिका से स्पष्ट होता है।

जीव/अध्यात्म	ब्रह्म/अधिदैवत	विश्व/अधिभूत
१ अव्यक्त	१ स्वयम्भू	१ आकाश
२ महान्	२ परमेष्ठी	२ वायु
३ बुद्धि	३ सूर्य्य	३ तेज
४ मन	४ चन्द्रमा	४ जलम्
५ शरीरम्	५ पृथिवी	५ भूत

इन तीनों में से जीव पर विचार करने के बाद अब हम द्वितीय अध्याय में ब्रह्म पर विचार करेंगे तथा तृतीय अध्याय में विश्व पर विचार करेंगे।

द्वितीय अध्याय

ब्रह्माधिकरण

सृष्टि की उत्पत्ति का रहस्य सदा से मानव के मन को आन्दोलित करता रहा है। वेदों में इस विषय पर पर्याप्त ऊहापोह हुआ है कि सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई। प्रस्तुत अधिकरण में हम सृष्टि के मूल कारण पर विचार करेंगे। ऋग्वेद (१०.८१.१) में विश्वकर्मा ऋषि ने सृष्टि के सम्बन्ध में तीन प्रश्न उठाये हैं।

ब्रह्मजिज्ञासा

ऋषि विश्वकर्मा पूछते हैं कि इस भूमि को उत्पन्न करने वाले ने अपना अधिष्ठान क्या बनाया? वह कौन सा उपादान कारण था जिसके द्वारा उसने सृष्टि का निर्माण किया और वह कौनसी प्रक्रिया थी जिससे उसने सृष्टि का निर्माण किया? *किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत् स्विद् आसीत्* (ऋग्वेद १०.८१.२)। आगे इसी प्रश्न को वे इस प्रकार कहते हैं कि इस द्यावापृथिवी के निर्माण में कौन सा वन था, जिस वृक्ष और जिस वृक्ष की शाखा द्यावापृथिवी के निर्माण में काम आयी? *किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः* (ऋग्वेद १०.८१.४)। विश्वकर्मा ऋषि के प्रश्न को यदि हम आज के दर्शन की भाषा में रखें तो प्रश्न का स्वरूप यह होगा कि सृष्टि का आलम्बन क्या है, निमित्त कारण क्या है और उपादान कारण क्या है? ऋग्वेद में जो प्रश्न विश्वकर्मा ऋषि ने उठाया उसके उत्तर में तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह उत्तर दिया गया कि ब्रह्म ही वन है, ब्रह्म ही वह वृक्ष है, ब्रह्म ही वह शाखा है जिसको तराश कर द्यावापृथिवी का निर्माण है।

उपर्युक्त तैत्तिरीय ब्राह्मण के वक्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म सृष्टि का आलम्बन भी है, सृष्टि का निमित्त कारण भी है और सृष्टि का उपादान कारण भी है। इसी आधार पर ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म का लक्षण इस रूप में किया गया है कि ब्रह्म वह है जिससे सृष्टि की उत्पत्ति होती है, जिस पर सृष्टि टिकी हुई है और जिसमें सृष्टि का विलय हो जाता है—*जन्माद्यस्य यतः* (ब्रह्मसूत्र १.२)।

ब्रह्मशब्द की व्युत्पत्ति

व्युत्पत्ति की दृष्टि से देखें तो ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति बृह् धातु से मनिन् प्रत्यय लगाकर हुई है (उणादि सूत्र ४।१४५)। बृह् का अर्थ है—बृहण अर्थात् विस्तार। अभिप्राय यह है कि ब्रह्म से ही संसार का विस्तार हुआ है। बृहण की यह विशेषता है कि जिस पदार्थ का बृहण होता है वह पदार्थ अपने मूल रूप को छोड़ता नहीं। जैसे समुद्र में तरङ्ग उत्पन्न होती है तो उससे समुद्र का अपना रूप समाप्त नहीं हो जाता। इसी प्रकार ब्रह्म के बृहण से संसार बनता है किन्तु इस कारण ब्रह्म अपना मूल स्वरूप छोड़ नहीं देता। ब्रह्म से संसार की उत्पत्ति की यही प्रक्रिया है। ब्रह्म शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार भृ धातु से मन् प्रत्यय लगाकर ब्रह्म शब्द बना है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार ब्रह्म शब्द के दो अर्थ हो जायेंगे— भ्रियते जगदस्मिन् तथा भ्रियते जगदनेन अर्थात् जो संसार का अधिकरण है और संसार को धारण करने वाला है। इस प्रकार ब्रह्म शब्द की तीन व्युत्पत्तियों के आधार पर भी यही सिद्ध होगा कि ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का कारण है। वैदिक भाषा में ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति का कारण होने के नाते उक्थ स्थिति का कारण होने के नाते प्रतिष्ठा तथा जगत् में व्याप्त होने के नाते साम कहलाता है।

आभु और अभ्व

यह प्रसिद्ध है कि कारण के गुण कार्य में आते हैं—*कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते*। इस नियम के आधार पर हम कार्य के गुणों से कारण के स्वरूप का अनुमान कर सकते हैं। ब्रह्म का स्वरूप जानने के लिए यही प्रक्रिया अपनानी पड़ेगी क्योंकि ब्रह्म का कार्य जगत् अभिव्यक्त है जबकि जगत् का कारण ब्रह्म अव्यक्त है और व्यक्त से ही अव्यक्त का अनुमान किया जा सकता है। अव्यक्त स्वयं कभी प्रत्यक्षगोचर नहीं होता।

हम जगत् के किसी भी पदार्थ को लें तो उसके दो पक्ष प्रतीति में आयेंगे—स्थिर और परिवर्तनशील। इन्हीं दो पक्षों को वेद में अज और रजस् कहा गया है। किसी पदार्थ के स्थिर स्वरूप के कारण ही हम उसमें परिवर्तन हो जाने पर भी उसे पहचान लेते हैं किन्तु साथ ही उस पदार्थ के परिवर्तनशील पक्ष के कारण हमारी प्रतीति में यह भी आता है कि वह पदार्थ बदल गया। संसार की इस प्रकृति को देखकर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि संसार के मूल में भी जो कारण रहा होगा उसके दो ही पक्ष होंगे—स्थिर और परिवर्तनशील। इन्हीं दो पक्षों को वेद की भाषा में आभु और अभ्व कहा जाता है। वेदान्ती इसे ब्रह्म और माया कहते हैं। साङ्ख्यदर्शन में इन्हें पुरुष और प्रकृति कहा जाता है। वेद इन्हें अमृत और मृत्यु भी कहता है तथा साथ ही यह घोषणा भी करता है कि मृत्यु में अमृत और अमृत में मृत्यु अन्तर्निहित है—*अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्* (शतपथ १०/५/२/४)। गीता में कहा गया है—*अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन* (गीता ९.१९)। अभिप्राय यह है जहाँ स्थिरता है वहाँ परिवर्तन है और जहाँ परिवर्तन है वहाँ स्थिरता है।

पण्डित मधुसूदन ओझा ने इन्हीं दो तत्त्वों को रस और बल कहा है। रस और बल का

परस्पर अविनाभावसम्बन्ध है। रस ब्रह्म है बल उसकी शक्ति है। जिस प्रकार दर्शन में शक्ति और शक्तिमान् में अभेद माना जाता है उसी प्रकार रस और बल की दो अवधारणाएं हैं किन्तु तत्त्व एक ही है। ब्रह्म तो शास्त्रों में प्रसिद्ध है ही उसकी शक्ति भी त्रिगुणात्मिका माया अथवा प्रकृति के नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्म अपनी इस त्रिगुणात्मक शक्ति के सहयोग से ही सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलय करता है। ब्रह्म की माया अपनी सुप्तावस्था में बल कहलाती है जागृत होकर कार्योन्मुख होकर शक्ति कहलाती है और कार्य रूप में परिणत हो जाने पर क्रिया कहलाती है।

संक्षेप में इस पृष्ठभूमि को देने के अनन्तर हम सृष्टिविषयक प्रसिद्ध नासदीय सूक्त (ऋग्वेद १० १२९) के आधार पर सृष्टि की उत्पत्ति पर विचार करेंगे।

सृष्टि से पूर्व की अवस्था

वैदिक साहित्य में सृष्टि के उद्भव पर विचार करते हुए यह भी विचार किया गया है कि सृष्टि के उद्भव के पूर्व की स्थिति कैसी थी? वस्तुस्थिति यह है कि हमारा मन सृष्टि का एक भाग है और वह केवल सृष्टि की ही विविध अवस्थाओं की कल्पना कर सकता है। सृष्टि के पूर्व की अवस्था की कल्पना मन नहीं कर सकता। यह मन की सीमा है। केनोपनिषद् कहता है कि जगत् का मूल कारण—जो कि कारण होने के कारण कार्य से पूर्व भी होना चाहिए—ब्रह्म है और यह ब्रह्म मन का भी कारण है। मन इसी ब्रह्म से उद्भूत हुआ है किन्तु मन अपने कारण ब्रह्म पर मनन नहीं कर सकता—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ (केनोपनिषद् १ ६)

तर्क का विषय प्रकृति

दूसरी भाषा में कहें तो सृष्टि या प्रकृति ही तर्क वितर्क विश्लेषण अथवा विचार विमर्श का विषय बन सकती है जो प्रकृति से भी परे है वह तर्क वितर्क का विषय नहीं बन सकता। अतः ऐसे अचिन्त्य भाव को तर्क द्वारा जानने का प्रयत्न व्यर्थ है—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण चिन्तयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

सांख्य दर्शन की भाषा में कहें तो प्रकृति में ही कार्यकारणभाव है पुरुष में नहीं। मूलप्रकृति कारण है कार्य नहीं। मूलप्रकृति यद्यपि किसी का कार्य नहीं है किन्तु बुद्धि का कारण है। बुद्धि अहङ्कार का कारण है। इसलिए मूलप्रकृति प्रकृति है बुद्धि तथा अहङ्कार प्रकृति विकृति हैं क्योंकि ये मूल प्रकृति के कार्य हैं और पाँच ज्ञानेन्द्रियां पाँच कर्मेन्द्रियां पञ्च तन्मात्रा तथा मन इन १६ के कारण हैं। पञ्चभूत केवल पञ्चतन्मात्राओं के कार्य हैं वे किसी के कारण नहीं हैं अतः वे केवल विकृति हैं। सारांश यह है कि समस्त प्रकृति कार्य कारण शृङ्खला में बंधी हुई है अतः वह तर्क का विषय है क्योंकि समस्त तर्क कारण कार्यसम्बन्ध पर ही टिके हैं। जो प्रकृति से परे है वह

कारण कार्यसम्बन्ध से भी परे है इसीलिए वहाँ तर्क की भी गति नही है। इसी स्थिति को अचिन्त्य कहा गया है।

शब्द का विषय नामरूपात्मक जगत्

एक अन्य दृष्टि से इसी स्थिति को समझने का प्रयत्न किया जा सकता है। मन सीमित को ग्रहण कर सकता है असीम को नही। जो सीमित है उसका रूप है उसका नाम है। मन अथवा तर्क नाम तथा रूप के माध्यम से ही पदार्थ को ग्रहण करते हैं। सृष्टि के समस्त पदार्थ नाम और रूप वाले हैं। जब सृष्टि नही थी तो नाम और रूप भी नही थे। इसलिए सृष्टि क पहले की अवस्था में मन या तर्क की गति नही हो सकती।

जहाँ मन या तर्क की गति नहीं है वहाँ शब्द भी कुण्ठित हो जाता है इसलिए केनोपनिषद् ने कहा है—

यद्वाचानभ्युदित येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेद यदिदमुपासते॥ (केनोपनिषद् १ ४)

निषेधात्मक भाषा मे महाप्रलय की अवस्था का वर्णन

भाषा जब किसी स्थिति का वर्णन विधि मुख से नही कर सकती तो निषेध मुख पद्धति काम में लेती है। इसी पद्धति का सहारा लेकर ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सृष्टि के पहले की स्थिति का वर्णन निषेध मुख की भाषा में किया गया है। न उस समय असत् था न सत् था न रज था न व्योम न मत्यु न अमृत न रात न दिन। यह निषेध की भाषा सृष्टि क पहले की स्थिति को समझने में हमारी अशक्यता को द्योतित करती है। इसी नासदीय सूक्त के अन्त में इस स्थिति को समझने में सृष्टि के अध्यक्ष की भी अक्षमता बताई गई है। वहाँ कहा गया है कि जो इस सृष्टि का परम व्योम में स्थित अध्यक्ष है वह भी सृष्टि के पहले की स्थिति को न जान पाएगा—

यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद
(ऋग्वद १० १२९ ७)

वस्तुत सृष्टि के अध्यक्ष को भी सृष्टि बनाने के बाद ही सृष्टि का अध्यक्ष कहा जा सकता है। सृष्टि के पहले की स्थिति को वह भी नही जान सकता। ज्ञान में ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी रहती है। यह त्रिपुटी भी सृष्टि का ही भाग है। जब सृष्टि नहीं है तो यह त्रिपुटी भी नहीं है।

विधि की भाषा मे सृष्टि से पूर्व की अवस्था का वर्णन

निषेधपरक इस वर्णन से भ्रम हो सकता है कि सृष्टि क पूर्व कुछ था ही नही किन्तु यदि एसा मान लें तो इसका यह अर्थ होगा कि सृष्टि शून्य में से उत्पन्न हो गई किन्तु विज्ञान का सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि शून्य स कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। गीता कहती है असत् से कोई भाव पैदा नहीं होता—*नासतो विद्यते भाव* (गीता २ १६) । इसलिए सबका निषेध कर देने क बाद नासदीय सूक्त कहता है—

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ।

(ऋक् १० १२९ २)

इस पंक्ति में सृष्टि के पहले की स्थिति को आनात् क्रिया के द्वारा प्रकट किया गया है। आनीत का अर्थ श्वास है तो अर्थ प्राण का है किन्तु दोनों के बीच महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि प्राण में प्र उपसर्ग है आनीत में उपसर्ग नहीं है। प्र का अर्थ है प्रकृष्टता। जो प्रकृष्ट होता है वह अभिव्यक्त होता है। यदि ऋषि प्राणीत् कहता तो वह प्राण की व्यक्त अवस्था को बताता आनीत् कहने में उस शक्ति की अव्यक्तता का बोध होता है। शक्ति की उसी अव्यक्त अवस्था को यहाँ स्वधा कहा गया है। स्वधा का अर्थ है—स्वयं की शक्ति। शक्ति और शक्तिमान में अभेद होता है। वे दो नहीं हैं। इसलिए यहाँ एकम् का प्रयोग है। यद्यपि वह एक स्वधा सहित है तथापि उसके एकत्व में कोई अन्तर नहीं आता। हम ऊपर कह चुके हैं कि उस स्थिति में रूप नहीं था। उसके लिए तत् सर्वनाम का प्रयोग किया गया है। सामान्यतः पहली बार संज्ञा का प्रयोग करके फिर उसके लिए सर्वनाम का प्रयोग होता है किन्तु यहाँ संज्ञा का प्रयोग किए बिना ही सर्वनाम का प्रयोग कर दिया गया है क्योंकि यह हमारी विवशता है कि संज्ञा का प्रयोग यहाँ हो नहीं सकता। यद्यपि उपसर्ग के बिना आनीत धातु के प्रयोग से ही उस समय शक्ति की अव्यक्तता ध्वनित हो जाती है तथापि अवातम् कहकर ऋषि ने स्पष्ट रूप में उस समय क्रिया का भी निषेध कर दिया। स्वधा सहित उस एक के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था यह कहने के लिए *तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास* यह कहा गया है। यहाँ भी तस्मात् में एकवचन का प्रयोग इस बात का सूचक है कि ऋषि उस एक अनाम तत्त्व के साथ स्वधा की शक्ति मानकर भी दो की सत्ता को नहीं मान रहे। इसलिए सायणाचार्य ने नासदीय सूक्त पर भाष्य लिखते हुए कहा कि तब ब्रह्म अपनी शक्ति से उस समय विभक्त नहीं हुआ था अविभक्त ही था—*तया तद् ब्रह्मकमविभागापन्नमासीत्*। यदि ब्रह्म में शक्ति होगी ही नहीं तो वह कभी भी सृष्टि की उत्पत्ति नहीं कर सकेगा किन्तु यदि ऐसा मान लें कि ब्रह्म में उस समय शक्ति उद्बुद्ध अवस्था में थी तो फिर वह सृष्टि की अवस्था ही हो जाएगी सृष्टि के पहले की अवस्था न कहलाएगी। अतः यह मानना होगा कि उस समय शक्ति तो थी किन्तु वह अपनी सुषुप्तावस्था में शक्तिमान् के साथ अविभक्त रूप में थी।

प्रकृति की साम्यावस्था

साङ्ख्य दर्शन सृष्टि के पहले यह मानता है कि उस समय प्रकृति अपनी साम्यावस्था में थी। शतपथब्राह्मण में प्रकृति की साम्यावस्था को दूसरी भाषा में कहा गया है कि उस समय सभी देव एक जैसे थे—*सर्वे ह वै देवा अग्रे सदृशा आसुः*। नासदीय सूक्त में इसी स्थिति को और अधिक विस्तार करते हुए कहा गया है कि उस समय अन्धकार में आवृत अन्धकार था— *तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे*। कोई पदार्थ अँधेरे में दिखाई देता है तो उसे हम अँधकार में आवृत कहते हैं किन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में तो सभी कार्य अपने कारण में छिपे हुए थे। इस कारण वे अव्यक्त थे। इस प्रकार पदार्थों के दिखाई न देने का कारण दुहरा था—एक तो वे अपने कारण में छिपे थे

दूसर उस समय प्रकाश का अभाव था। यहा तम स तम का आवृत होना है। मनु न ऐसी स्थिति का वणन इस रूप म किया है कि उस समय जो अंधकार था उसम न कुछ जाना जा सकता था न उसका कोई चिह्न था न उसक बार म विचार किया जा सकता है न निर्देश माना सब कुछ सोया हुआ था—

आसीदिद तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्य प्रसुप्तमिव सवत ॥ (मनुस्मृति १)

आभु और परात्पर

उस समय जो पदार्थ था उसे श्रुति आभु कहती है क्योकि वह सब ओर था। उसकी सत्ता देशकालावच्छिन्न नहीं है इसलिए उसे आभु कहा गया है। क्योकि इस सृष्टि म जो कुछ सूक्ष्मतम है वह आभु उसस भी पर था इसलिए उसे परात्पर भी कहा जाता है। मुण्डकोपनिषद म इस परात्पर स्थिति का वणन इस रूप म किया गया है कि जिस प्रकार नदिया अपन नाम और रूप को छोडकर लीन हो जाती है उसी प्रकार विद्वान् नाम और रूप स छूटकर दिव्य परात्परपुरुष को प्राप्त होता है—

यथा नद्य स्यन्दमाना समुद्रऽस्त गच्छन्ति नामरूप विहाय।
तथा विद्वान नामरूपाद्विमुक्त परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
(मुण्डकोपनिषद ३ २ ८)

तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसी परात्पर स्थिति का वर्णन इस रूप म है कि न इसस कुछ पर है न अपर न इसस कुछ छोटा है न बडा—

यस्मात्पर नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्
(तैत्तिरीय ब्राह्मण, १० १० २०)

श्वेताश्वतरोपनिषद म कहा गया है कि न उसका काय है न कारण न कोई उसक समान है न अधिक। उसकी शक्ति स्वाभाविक है—

न तस्य काय करण च विद्यत न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधव श्रूयत स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥
(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६ ८)

उपर्युक्त श्रुतियों क आधार पर परात्पर स्थिति क सम्बन्ध म तीन तथ्य स्पष्ट होत है—

(१) परात्पर में नाम रूप नहीं है।

( ) परात्पर देशकालाद्यनवच्छिन्न है।

(३) परात्पर कार्यकारणभावातीत है।

इन तीन निषेधमुख वाक्यो म परात्पर को कहा जा सकता है। विधिमुख स भी परात्पर क सम्बन्ध में तीन वक्तव्य दिए जा सकत है—

(१) तद्—वह नामरहित है अत उसके लिए सर्वनाम का प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि उसमें सब नाम छिपे हुए हैं। सब नामरूपों का उद्‌भव उसी से होता है।

(२) एकम्—वहाँ देश काल अथवा कार्य कारण किसी प्रकार का विभाजन नहीं है। अत वह द्वैत से परे एक है।

(३) स्वधया—वह शक्तिमान् शक्ति से युक्त है किन्तु वह शक्ति अभी सुषुप्तावस्था में है इसलिए उसे प्र उपसर्ग रहित आनीत् क्रियापद से कहा जाता है। यह शक्ति अपना कार्य नहीं कर रही इसलिए वहा कोई क्रिया नहीं है। इस बात को अवातम् विशेषण द्वारा कहा गया है। इस प्रकार शब्दातीत उस परात्पर स्थिति का वर्णन श्रुति ने निषेध मुख और विधिमुख दोनों प्रकार से किया है तथापि वस्तुस्थिति यही है कि वह स्थिति शब्द और तर्क दोनों से परे है।

सृष्टि का आदिबिन्दु स्रष्टा की सिसृक्षा

सृष्टि के पूर्व परात्पर की स्थिति में स्वधा अथवा शक्ति उद्बुद्ध नहीं थी इसलिए वह सर्जन रूप अपना कार्य करने में समर्थ होने पर भी उस कार्य को नहीं कर पा रही थी। सृष्टि का प्रारम्भ बिन्दु इसी अनुद्बुद्ध शक्ति का उद्बुद्ध हो जाना है।

शक्ति का जागरण

प्रश्न होता है कि अनुद्बुद्ध शक्ति उद्बुद्ध क्यों होती है ? वस्तुस्थिति यह है कि सृष्टि और प्रलय का एक क्रम है। सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि यह क्रम अनादिकाल से चला आ रहा है। जैसे दिन के बाद रात और रात के बाद दिन आता है उसी प्रकार प्रलय के बाद सृष्टि और सृष्टि के बाद प्रलय होता है। गीता में सृष्टि को ब्रह्मा का दिन और प्रलय को ब्रह्मा की रात कहा है। दिन के आने पर अव्यक्त से व्यक्त उत्पन्न हो जाता है और रात्रि के आने पर वह पुन अव्यक्त में ही लीन हो जाता है—

अव्यक्ताद् व्यक्तय सर्वा प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
(गीता ८.१८)

कर्माध्यक्ष की सिसृक्षा

प्रश्न होता है कि प्रलय के बाद सृष्टि और सृष्टि के बाद प्रलय का यह क्रम क्यों और कब होता है ? नासदीय सूक्त की व्याख्या करते समय सायणाचार्य ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है। उनका कहना है कि जीवात्माओं के कर्म एक अवधि विशेष के बाद अपना फल देते हैं तत्काल नहीं। सृष्टि के क्रम में एक ऐसा बिन्दु आता है जब किसी भी प्राणी के कर्म इस परिपक्व अवस्था में नहीं होते कि वे अपना फल दे सकें। ऐसी स्थिति में सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं रहता। अत प्रलय हो जाता है। एक विशेष अवधि के बाद प्राणियों के वे कर्म उस परिपक्व अवस्था में आ

जाते हैं कि वे अपना फल दे सकें। क्योंकि ईश्वर कर्मों का अध्यक्ष है इसलिए ऐसी स्थिति आने पर उसके मन में सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा हो जाती है और यह इच्छा ही सृष्टि का प्रारम्भ बिन्दु है—

अतीते कल्पे प्राणिभिः कृतं पुण्यात्मकं कर्म भूयष्ठु वर्धिष्ण्वजायत
परिपक्वं सत् फलोन्मुखमासीदित्यर्थः। ततो हेतोः कर्माध्यक्षस्य
परमेश्वरस्य मनसि सिसृक्षा अजायत।

(सायणभाष्य, ऋग्वेद १० १२९)

नासदीय सूक्त स्पष्ट करता है कि सर्वप्रथम सृष्टि की कामना होती है—*कामस्तदग्रे समवर्तताधि*। नासदीय सूक्त ही यह भी बताता है कि यह काम मन का प्रथम बीज है—*मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्*। मन और कामना का अविनाभावसम्बन्ध है। कामना उत्पन्न हुई तो मन उत्पन्न हो गया—यह सृष्टि का आदि बिन्दु है। परात्पर स्थिति का एकत्व मन के उत्पन्न होते ही द्वैत में बदल गया। द्वैत कभी देशकालानवच्छिन्न नहीं हो सकता नाम रूप रहित नहीं हो सकता कार्यकारणभावातीत नहीं हो सकता। मन का उत्पन्न होना ही परात्पर में सृष्टि के उद्भव का प्रारम्भ बिन्दु है। कामना उत्पन्न होने का कारण हम बता ही चुके हैं कि इस सृष्टि के पूर्व सृष्टि के प्राणियों के कर्म जब परिपक्व होकर फलोन्मुख हो गए तो यह *आवश्यक हो गया कि सृष्टि हो क्योंकि* सृष्टि के बिना प्राणी अपने कर्मों का फल नहीं भोग सकते।

आभु और अभ्व

अद्वैत सिद्धान्त में जीवात्माओं के कर्मों का अपरिपक्व होना कहें या परमेश्वर की स्वधा शक्ति का अनुद्बुद्ध होना कहें एक ही बात है। जैसे ही परमेश्वर के मन में सिसृक्षा उत्पन्न होती है वैसे ही अपरिमित परिमित हो जाता है अव्यक्त व्यक्त हो जाता है अनिरुक्त निरुक्त हो जाता है। शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति के ये ही दो रूप बताए हैं—निरुक्त और अनिरुक्त परिमित और अपरिमित—

उभय वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च।

(शतपथब्राह्मण ६.५.३.७)

जब तक कामना नहीं है तब तक वह अपरिमित है और इसलिए वह अनिरुक्त है। जब ही कामना होती है वह परिमित हो जाता है और निरुक्त हो जाता है। यह अव्यक्त के व्यक्त होने का रहस्य है एक के अनेक होने का रहस्य है सृष्टि की उत्पत्ति का रहस्य है। कारण रूप में वह एक है कार्यरूप में वह अनेक है—*एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्*। (ऋग्वेद ८.५८.२) । नासदीय सूक्त में आभु शब्द आया है। आभु से ही जुड़ा हुआ दूसरा शब्द अभ्व है। यह अभ्व ही ब्रह्म की शक्ति का अभिव्यक्त रूप है जिसे नाम और रूप द्वारा व्याख्यायित किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्म की इस अभ्वशक्ति का बड़ा सुन्दर निरूपण किया गया है। ब्रह्म ने सोचा कि मैं इन लोकों में कैसे प्रकट होऊं? तब वह नाम और रूप दो के द्वारा लोकों में प्रकट हुआ। जिस जिस का नाम होता है उसे हम नाम से जान लेते हैं और जिसका नाम नहीं होता है उसे हम रूप द्वारा

पहचानते हैं। ये दोनों ब्रह्म के बड़े अभ्व हैं ये दोनों ब्रह्म के बड़े यक्ष हैं। मन से रूप को जाना जाता है वाणी से नाम का ग्रहण होता है—

तत्परार्धं गत्वैतत कथं न्विमाल्लोकान्प्रत्यवयामिति तद द्वाभ्यामेव प्रत्यवैद्रूपेण चैव नाम्ना च यस्य कस्य च नामास्ति तन्नाम यस्यापि नाम नास्ति तद्वद रूपेण—इ ह्येते ब्रह्मणो महती अभ्वे। ते हैते ब्रह्मणो महती यक्षे।—मनसा हि वेदेद रूपमिति वाचा हि नाम गृह्णाति। (**शतपथ ब्राह्मण ११ २ ३ ३ ५**)।

जिसे यहाँ यक्ष कहा है उसे ही माया भी कहा गया है। इन्द्र द्वारा माया से अनेक रूप धारण करता है—*इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते*। माया का अर्थ है परिमित बना देने वाली शक्ति। नाम और रूप ही पदार्थ को परिमित बनाते हैं। अपरिमित को परिमित बना देना एक आश्चर्य है। इसलिए इस शक्ति को यक्ष कहा गया है। स्वयं अभ्व शब्द को देखें तो इसका अर्थ होगा जो होकर भी नहीं है। आभु का होना स्थायी है अभ्व का होना अस्थायी है। एक अमृतभाव है दूसरा मृत्युभाव है। दोनों एक दूसरे में ओतप्रोत हैं—*अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्* (**शतपथ ब्राह्मण १० ५ २ ४**)। अग्निरूप अमर है। उसमें होने वाले विकार क्षणभङ्गुर हैं। आभु को बाहर तथा अभ्व को विकसित कर सकते हैं। इनमें एक के बिना दूसरे की स्थिति नहीं हो सकती (**शतपथ ब्राह्मण १० ५ २ ४**)।

उल्लेखनीय है कि वेद में सृष्टिविषयक सूक्तों को भाववृत्त कहा जाता है अर्थात् इन सूक्तों में आभु कैसे भावविकारों से युक्त हुआ—इसका वर्णन है। सृष्टि उत्पन्न नहीं होती है आभु भावविकारों से युक्त हो जाता है। उसे ही हम सृष्टि का उत्पन्न होना मान लेते हैं। यही अज का रजस हो जाना है। अज अथवा आभु एक है रजस अथवा भावविकार छः हैं—अस्ति जायते वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते नश्यति। ऋग्वेद कहता है—*अजस्य रूप किमपि स्विदेकं षळिमा रजांसि*। ये छः भावविकार ही तो समस्त लोकों के मूल हैं। इसलिए लोकों को भी रजस् कहा जाता है—*लोका रजांस्युच्यन्ते*। ये षड्भावविकार एक क्षण में आते हैं दूसरे क्षण में चले जाते हैं इसलिए न इन्हें सत् कह सकते हैं न असत्। ये सदसद्विलक्षण हैं। सारे षड्भावविकार अस्तित्व पर टिके हैं। अस्तित्व ही उनका स्रष्टा है और अस्तित्व उन सबमें ओतप्रोत भी है। इसलिए स्रष्टा सृष्टि से पृथक् नहीं है। वह सृष्टि में अनुप्रविष्ट है—*तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्* (**शतपथ ब्राह्मण ६ २ २ ५**)।

वस्तुतः परात्पर की स्थिति में अभी पुरुष का जन्म नहीं हुआ है। जिस पुरुष से समस्त सृष्टि की उत्पत्ति पुरुष सूक्त में बताई गई है वह पुरुष कामना द्वारा परात्पर स्थिति में पुर बनने पर ही अस्तित्व में आता है। कामना द्वारा जब ही परात्पर सीमित होता है तब ही उसकी एक सीमा रेखा बन जाती है। इस रेखा को ही पुर कहा जाता है—*लेखा हि पुर* (**शतपथ ब्राह्मण ६ ३ ३ २ ५**)। इस पुर में आकर स्रष्टा ही पुरुष कहलाता है क्योंकि पुर का अर्थ है जो पुर में शयन करता है—पुरि शेते। असीम को ससीम हो जाना ही मानो उसका शयन करना है। जब तक त्रिगुणातीत था तब तक वह पूर्ण जागरूक था। जब वह कामना से आक्रान्त हुआ तब वह गुणों से आवृत हो गया

माना सा गया। पुरुष का यह सीमा में बँध जाना ही उसका यज्ञीय पशु भाव को प्राप्त हो जाना है—*अबध्नन् पुरुषं पशुम्।* यही पुरुष अपने को होम कर वह सर्वहुत यज्ञ करता है जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है।

देवों का यज्ञ

नासदीय सूक्त में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि देवता सृष्टि के बाद उत्पन्न हुए—*अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन।* ज्ञानाधिकरण के प्रारम्भ में हम बता चुके हैं कि पुरुष सूक्त में इस बात का बार बार उल्लेख हुआ है कि जिस यज्ञ से जो सृष्टि उत्पन्न हुई उस सृष्टि का सम्पादन देवताओं ने किया।

इसका अर्थ यह है कि सृष्टि के सर्जन की प्रक्रिया में देवों का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि जिस यज्ञ से यह सृष्टि उद्भूत हुई उस यज्ञ का सम्पादन देवों ने किया।

ब्राह्मणग्रन्थ निरन्तर इस बात पर बल दे रहे हैं कि देव प्राण हैं। समस्त क्रियाएं इन प्राणों का ही कर्म हैं। यज्ञ का एक अर्थ है—सङ्गतिकरण। सङ्गतिकरण क्रिया के बिना सम्भव नहीं है और क्रिया प्राण के बिना सम्भव नहीं है।

प्राण ही देव हैं। इसलिए श्रुति कहती है कि देवों ने यज्ञ किया। मैत्रायणीसंहिता कहती है कि प्राणों से यज्ञ सम्पादित हुआ—*प्राणेन यज्ञः सन्ततः* (मैत्रायणी संहिता ४.६.२)। क्योंकि देव = प्राण हैं अतः दोनों वक्तव्यों का एक ही अर्थ है।

प्राणों का तप

प्राण का व्यापार आन्तरिक है। इस आन्तरिक व्यापार को ही तप कहा जाता है। नासदीय सूक्त कहता है कि इस तप की महिमा से जो आभु तुच्छ से आवृत था वह प्रकट हो गया। साङ्ख्य की परिभाषा का उपयोग करें तो प्रकृति की साम्य अवस्था प्रलय की अवस्था है। *सिसृक्षा स्रष्टा* के प्राण में जो अन्तर्व्यापार उत्पन्न करता है उसे श्रुति तप कहती है और साङ्ख्य दर्शन क्षोभ कहता है। नासदीयसूक्त में "अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्" कहकर एक बार प्रलय अवस्था में जल का अभाव बताया गया है किन्तु दूसरी बार "*सलिलं सर्वमा इदम्*" कहकर सलिल का सद्भाव बताया गया है। जे. गोंडा तथा डा. सूर्यकान्त जैसे विद्वानों ने यहां सलिल का अर्थ गतिशील या स्पन्दनशील किया है। इस प्रकार यह भी तप का ही सूचक है। यहां "तुच्छ" को सायणाचार्य ने "सदसद्विलक्षण" कहा है। आभु सद्रूप है जो सदसद्विलक्षण तुच्छ से आवृत है। आभु के प्रसङ्ग में तुच्छ शब्द का अर्थ अभ्व मानना चाहिये। प्रलयावस्था में आभु और अभ्व एक दूसरे से अविभक्त [illegible] तप अथवा प्राण के अन्तर्व्यापार से वे दोनों पृथक् हुए। प्राण का यह व्यापार सिसृक्षा की कामना से हुआ। आधुनिक विज्ञान ब्रह्माण्ड का जन्म एक विस्फोट से मानता है। इस विस्फोट की स्थिति में भी ताप को माना था किन्तु ताप का सम्बन्ध जड ऊर्जा से है। तप का सम्बन्ध चेतन प्राण से है। जड ऊर्जा से यदि ब्रह्माण्ड का जन्म होना माना जाय तो ब्रह्माण्ड में दिखने वाली व्यवस्था का कोई कारण नहीं दिया जा सकेगा किन्तु यदि तप से सृष्टि की उत्पत्ति माना जाय तो

पहचानते हैं। ये दोनों ब्रह्म के नाम अभ्व हैं ये दोनों ब्रह्म के बड़े यक्ष हैं। मन से रूप को जाना जाता है वाणी से नाम का ग्रहण होता है—

तत्परार्धं गत्वैतत् कथं न्विमाँल्लोकान् प्रत्यवेयामिति तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैद्रूपेण चैव नाम्ना च यस्य कस्य च नामास्ति तन्नाम यस्यापि नाम नास्ति तद्वेद रूपेण—इति ब्रह्मणो महती अभ्वे। ते हैते ब्रह्मणो महती यक्षे।—मनसा हि वेद यद्रूपमिति वाचा हि नाम गृह्णाति। **(शतपथ ब्राह्मण ११ २ ३ ५)** ।

जिसे यहाँ यक्ष कहा है उसे ही माया भी कहा गया है। इन्द्र द्वारा माया से अनेक रूप धारण करते हैं—*इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते*। माया का अर्थ है परिमित बना देने वाली शक्ति। नाम और रूप ही पदार्थ को परिमित बनाते हैं। अपरिमित को परिमित बना देना एक आश्चर्य है। इसलिए इस शक्ति को यक्ष कहा गया है। स्वयं अभ्व शब्द को देखें तो इसका अर्थ होगा जो होकर भी नहीं है। आभु का होना स्थायी है अभ्व का होना अस्थायी है। एक अमृतभाव है दूसरा मृत्युभाव है। दोनों एक दूसरे में ओतप्रोत हैं—*अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्* (शतपथ ब्राह्मण १० ५ २ ४)। *अस्तित्व अमर है। उसमें होने वाले विकार क्षणभंगुर हैं। आभु को* ब्रह्म तथा अभ्व को निर्गमित कह सकते हैं। इनमें एक के बिना दूसरे की स्थिति नहीं हो सकती **(शतपथ ब्राह्मण १० ५ २ ४)** ।

उल्लेखनीय है कि जिसे सृष्टिविषयक सूक्तों का भाववृत्त कहा जाता है अर्थात् इन सूक्तों में आभु कैसे भावविकारों से युक्त हुआ—इसका वर्णन है। सृष्टि उत्पन्न नहीं होती है आभु भावविकारों से युक्त हो जाता है। उसे ही हम सृष्टि का उत्पन्न होना मान लेते हैं। यही अज का जन्म हो जाना है। अज अथवा आभु एक है उसमें अथवा भावविकार छः हैं—अस्ति जायते वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते नश्यति। ऋग्वेद कहता है—*अजस्य रूपे किमपि स्विदेकं षळिमा रजांसि*। ये छः भावविकार ही तो समस्त लोकों के मूल हैं। इसलिए लोकों को भी रजस् कहा जाता है—*लोका रजांस्युच्यन्ते*। ये षड्भावविकार एक क्षण में आते हैं दूसरे क्षण में चले जाते हैं इसलिए न इन्हें सत् कह सकते हैं न असत्। ये सदसद्विलक्षण हैं। सारे षड्भावविकार अस्तित्व पर टिके हैं। अस्तित्व ही उनका स्रष्टा है और अस्तित्व उन सबमें ओतप्रोत भी है। इसलिए स्रष्टा सृष्टि से पृथक् नहीं है। वह सृष्टि में अनुप्रविष्ट है—*तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्* (शतपथ ब्राह्मण ६ १ २ ५)।

वस्तुतः परात्पर की स्थिति में अभी पुरुष का जन्म नहीं हुआ है। जिस पुरुष से समस्त सृष्टि की उत्पत्ति पुरुष सूक्त में बताई गई है वह पुरुष कामना द्वारा परात्पर स्थिति में पुर बनने पर ही अस्तित्व में आता है। कामना द्वारा जैसे ही परात्पर सीमित होता है वैसे ही उसकी एक सीमा रेखा बन जाती है। इस रेखा को ही पुर कहा जाता है—*लेखा हि पुरः* (शतपथ ब्राह्मण ६ ३ ३ २ ५)। इस पुर में आरूढ़ स्रष्टा ही पुरुष कहलाता है क्योंकि पुरुष का अर्थ है जो पुर में शयन करता है—पुरि शेते। असीम का ससीम हो जाना ही मानो उसका शयन करना है। जब तक त्रिगुणातीत था तब तक वह पूर्ण जागरूक था। जब वह कामना से आक्रान्त हुआ तब वह गुणों से आवृत हो गया

माना मा गया। पुरुष का यह मामा म बँध जाना हा उमका यज्ञाय पशु भाव का प्राप्त हा जाना ह—*अबध्नन् पुरुष पशुम*। यही पुरुष अपन का हाम कर वह मर्वहुत यज्ञ करता ह जिमम मृष्टि उत्पन्न हाती ह।

दवा का यज्ञ

नासदीय मूक्त म इम बात का स्पष्ट उल्लेख ह कि दवता मृष्टि क बाद उत्पन्न हुए—*अर्वाग् दवा अस्य विसर्जनन*। जावाधिकरण क प्रारम्भ म हम बता चुक ह कि पुरुष मूक्त म इम बात का बार बार उल्लख हुआ ह कि जिम यज्ञ म जा मृष्टि उत्पन्न हइ उम मृष्टि का मम्पादन दवताआ न किया।

इमका अथ यह ह कि सृष्टि क मर्जन की प्रक्रिया म दवा का महत्त्वपूर्ण स्थान ह क्योंकि जिम यज्ञ स यह सृष्टि उद्भूत हुई उस यज्ञ का सम्पादन दवा न किया।

ब्राह्मणग्रन्थ निरन्तर इस बात पर जल द रह ह कि दव प्राण ह। ममस्त क्रियाए इन प्राणा का ही कर्म ह। यज्ञ का एक अर्थ ह—सङ्गतिकरण। मङ्गतिकरण क्रिया क बिना सम्भव नहा ह आर क्रिया प्राण क बिना मम्भव नहीं ह।

प्राण ही दव ह। इमलिए श्रुति कहती ह कि दवों न यज्ञ किया। मत्रायणामहिता कहता ह कि प्राणा स यज्ञ मम्पादित हुआ—*प्राणन यज्ञ सन्तत* (मत्रायणी महिता ४ ६ २)। क्योंकि दव = प्राण है अत दानों वक्तव्यों का एक ही अर्थ है।

प्राणो का तप

प्राण का व्यापार आन्तरिक ह। इस आन्तरिक व्यापार का हा तप कहा जाता ह। नासदाय सूक्त कहता ह कि इस तप की महिमा स जा आभु तुच्छ म आवृत था वह प्रकट हा गया। माख्य की परिभाषा का उपयोग करें ता प्रकृति का माम्य अवस्था प्रलय की अवस्था ह। सिसृक्षा स्रष्टा क प्राण में जा अन्तर्व्यापार उत्पन्न करती ह उसे श्रुति तप कहती है आर माख्य दर्शन क्षोभ कहता ह। नासदीयसूक्त में अम्भ किमामाद् गहन गभीरम् कहकर एक बार प्रलय अवस्था में जल का अभाव बताया गया ह किन्तु दूमरी बार *मलिल मर्वमा इदम्* कहकर सलिल का मद्भाव बताया गया है। ज गोंडा तथा डा सूयकान्त जस विद्वानों न यहा मलिल का अर्थ गतिशाल या स्पन्दनशाल किया ह। इस प्रकार यह भी तप का ही सूचक ह। यहा तुच्छ का मायणाचार्य न सदसद्विलक्षण कहा ह। आभु सद्रूप ह जा मदसद्विलक्षण तुच्छ म आवृत ह। आभु क प्रसङ्ग में तुच्छ शब्द का अर्थ अभ्व मानना चाहिय। प्रलयावस्था में आभु और अभ्व एक दूमर म अविभक्त थ तप अथवा प्राण क अन्तर्व्यापार म व दानों पृथक् हुए। प्राण का यह व्यापार मिमृक्षा की कामना म हुआ। आधुनिक विज्ञान ब्रह्माण्ड का जन्म एक विस्फाट म मानता ह। इस विस्फाट की स्थिति में भा ताप की मत्ता थी किन्तु ताप का सम्बन्ध जड ऊर्जा म ह। तप का मम्बन्ध चतन प्राण म ह। जड ऊजा म यदि ब्रह्माण्ड का जन्म हाना माना जाय ता ब्रह्माण्ड म दिखन वाला व्यवस्था का काई कारण नहा ढूँढा जा मकगा किन्तु यदि तप म मृष्टि का उत्पत्ति माना जाय ता

तप क्योंकि चेतन प्राण का व्यापार है इसलिए उसमें व्यवस्था स्थापित करने की शक्ति मानी जा सकती है। ऋग्वेद के अघमर्षणसूक्त में ऋषि जब यह कहता है कि तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए तो वह इसी बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है कि विश्व की व्यवस्था स्रष्टा के तप का परिणाम है—

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत (ऋग्वेद १० १९० १) ।

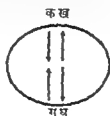
सृष्टि के बनने का अर्थ है—असीम का ससीम हो जाना। जो सीमाबद्ध होता है उसका केन्द्र होता है। स्रष्टा का मन ही पुरुभाव में आबद्ध पुरुष का केन्द्र है। इस मन की कामना ही प्राण देवों को व्याप्त करती है। प्राण देवों का यह व्यापार ही उस यजन अथवा सङ्गतिकरण का कारण है जो यजन अथवा यज्ञ सृष्टि को उत्पन्न करता है।

गति आगति

मन की कामना से उत्पन्न होने वाला यह प्राणों का व्यापार मुख्यत दो भागों में बँटा है—केन्द्र से परिधि की ओर गति और परिधि से केन्द्र की ओर आगति। प्रथम गति इन्द्र की है दूसरी गति विष्णु की है। इन्हीं दो गतियों के बीच होने वाले संघर्ष को ऋग्वेद में *इन्द्रश्च विष्णुश्च पस्पर्धेते* कहकर अभिव्यक्त किया गया है। परिधि की ओर इन्द्र की गति पदार्थ को विस्तार देती है जो अग्नि का कार्य है तथा विष्णु की केन्द्राभिमुख गति संकोच करती है जो सोम का रूप है। अग्नि में पड़ने वाली सोम की आहुति ही यज्ञ है। स्पष्ट है कि इस यज्ञ को देव सम्पन्न करते हैं।

प्राणों की अथवा देवों की यह गति तपरूप है। यह गति अन्धी नहीं है अपितु ज्ञानमय है—*यस्य ज्ञानमयं तप*। इसीलिए सायणाचार्य ने तप का अर्थ सृष्टव्य पर्यालोचन किया है। नासदीयसूक्त में "हृद्" शब्द का प्रयोग है। यहाँ कहा गया है कि हृद् में ही कवियों ने बुद्धि द्वारा असत् से सत् का सम्बन्ध खोजा—*सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा*। ब्राह्मणग्रन्थों में इस हृदय शब्द की व्याख्या करते हुए "ह" को इन्द्र का हरण "द" को विष्णु का दान और "यम्" को ब्रह्मा की स्थिति कहा गया है। ये तीनों मिलकर ही सृष्टि का निर्माण करते हैं।

नासदीयसूक्त में केन्द्राभिगामी तथा केन्द्रप्रतिगामी गतियों को अध और उपरि शब्द द्वारा कहा गया है—*अधः स्विदासीत् उपरि स्विदासीत्*। एक वृत्त में यदि अध और उपरि गतियाँ बनाई जायें तो कुछ गतिया केन्द्राभिगामी होंगी कुछ केन्द्र प्रतिगामी।



ऊपर के चित्र में क रेखा की अधोगति केन्द्राभिगामी है और ख रेखा की उपरिगति केन्द्र प्रतिगामी है। इसी प्रकार ग रेखा की ऊर्ध्वगति केन्द्राभिगामी है और घ रेखा की अधोगति केन्द्र प्रतिगामी है। इन दोनों गतियों में केन्द्राभिगामी गति विष्णु है केन्द्रप्रतिगामी गति इन्द्र है। स्वय केन्द्र अविचाली है। वह इन दोनों प्रकार की गतियों का आधार है। वही ब्रह्म है। केन्द्राभिमुखगति के साथ जो तत्त्व केन्द्र की ओर आता है उससे पिण्ड का पोषण होता है। केन्द्रप्रतिगामी गति के साथ अग्नि द्वारा पिण्ड का विस्तार होता है। यह अग्नि और सोम मिलकर ही पिण्ड का सुरक्षित रखते हैं। अग्नि में सोम की आहुति वह यज्ञ है जिससे सृष्टि बनी है।

अक्षर से क्षर

गीता की भाषा में मन का सम्बन्ध अव्ययपुरुष से है तो प्राण की गति का सम्ब ध अक्षर पुरुष से है। यह अक्षरपुरुष की गति ही उस क्षर पुरुष को जन्म देती है जिसे हम भौतिकजगत् कहते हैं। नासदीयसूक्त में ऊर्ध्वगति और अधोगति के अतिरिक्त तिरश्चीनगति का भी उल्लेख है। यह तिरश्चीनगति पृथिवी जैसे पिण्डों के सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने से अण्डाकृति मार्ग का निर्माण करती है। अण्डाकृति में अण्डाकृति को चित्रित करने वाली हर रेखा तिरश्चीन अथवा तिरछी होती है। नीचे बनाई गई अण्डाकृति को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है—



इस अण्डाकृति को अस्यवामीयसूक्त में त्रिनाभिचक्र कहा गया है क्योंकि वर्तुलाकारगति का एक केन्द्र होता है अण्डाकृति के तीन केन्द्र रहते हैं जैसा कि नीचे के चित्र में स्पष्ट है—



इस प्रकार तिरश्चीन गति से पिण्डों का निर्माण होता है।

अक्षर पुरुष की गति के द्वारा जिस क्षरपुरुष का निर्माण होता है उसे नासदीयसूक्त की भाषा में दो भागों में बाँटा जा सकता है—स्वधा और प्रयति। स्वधा अन्न है। यहाँ अन्न से अभिप्राय समस्त भोग्य पदार्थों से है। प्रयति भोक्ता है। भोग्य अवर है। प्रयति उत्कृष्ट है—

स्वधा अवस्तात् प्रयति परस्तात्। सायण का भाष्य है—स्वधा अन्ननामैतत्। भोग्यप्रपञ्च अवस्तात् अवरो निकृष्ट आसीत्। प्रयति प्रयतिता भोक्ता परस्तात् पर उत्कृष्ट आसीत्।

तप के पश्चात् श्रम तथा त्रिविध छन्द

प्राण का अन्तर्व्यापार यदि तप है तो भूत का बहिर्व्यापार श्रम है। भौतिकजगत् की उत्पत्ति का अन्तिम चरण यह श्रम ही है। श्रम द्वारा जब सृष्टि का निर्माण होता है तो तीन बिन्दुओं पर विचार किया जाता है—

(१) किस उपादान से सृष्टि का निर्माण हो ? पारिभाषिक शब्दावली में इसे माछन्द कहा जाता है। इसका सम्बन्ध पृथिवी से है।

(२) वह उपादान कितने परिमाण में हो ? इसे प्रमा छन्द कहते हैं। इसका सम्बन्ध अन्तरिक्ष से है।

(३) वह उपादान किस ढाँचे में ढाला जाये ? इसे प्रतिमा छन्द कहते हैं। इसका सम्बन्ध द्युलोक से है।

उदाहरणत घट का उपादान कारण मिट्टी है। वह उसका माछन्द है। जितने परिमाण में घडा बनाने के लिये मिट्टी चाहिये वह उसका प्रमाछन्द है तथा जिस ढाँचे में घडा बनाने के लिये उस मिट्टी को ढालना है वह उसका प्रतिमा छन्द अथवा मॉडल है।

ऊपर हमने कहा कि माछन्द का सम्बन्ध पृथिवी स है क्योंकि किसी भी पदार्थ का उपादान कारण कोई मूर्ततत्त्व ही होता है। परिमाण के लिये प्रयुक्त होने वाला प्रमा छन्द अन्तरिक्ष स सम्बद्ध है क्योंकि पदार्थ का परिमाण अन्तरिक्ष में ही रहता है। मॉडल अथवा ढाँचे को बताने वाला प्रतिमाछन्द द्युलोक से सम्बद्ध है क्योंकि पदार्थ का ढाँचा हमारे ज्ञान में रहता है और ज्ञान का सम्बन्ध द्युलोक से है। इस प्रकार ये तीनों छन्द मिलकर पदार्थ के निर्माण में पूर्णप्रक्रिया को व्याख्यायित करते हैं।

आभु का सर्वव्यापी भाव

नासदीयसूक्त में आने वाले आभु शब्द की चर्चा हमने की है। आभु शब्द में आ उपसर्गपूर्वक भू धातु है। नासदीयसूक्त का ऋषि आ उपसर्गपूर्वक भू धातु का प्रयोग इसी सूक्त में छठे और सातवें मन्त्र में भी करता है—"*अथा को वेद यत आबभूव*" एवम् "*इय विसृष्टिर्यत आबभूव*"। उद्भवति प्रभवति, सम्भवति आविर्भवति आदि शब्दों का प्रयोग उत्पन्न होने के अर्थ में किया जाता है किन्तु सृष्टि के उत्पन्न होने के प्रसङ्ग में इन सब शब्दों को छोडकर आभवति का प्रयोग हुआ है। यह प्रयोग सृष्टि और स्रष्टा के एक विशेष सम्बन्ध को बताता है। हिमालयात् गङ्गा प्रभवति जैसे वाक्यों में हिमालय से गङ्गा के उत्पन्न होने की बात कही जाती है किन्तु हिमालय और गङ्गा का सम्बन्ध इस प्रकार का है कि गङ्गा हिमालय से उत्पन्न होकर अलग हो जाती है और हिमालय अलग रह जाता है। इसके विपरीत स्रष्टा सृष्टि का निर्माण करके स्वय उसमें प्रविष्ट हो जाता है। इसलिये इस अन्तर को बताने के लिये वैदिक ऋषि ने किसी और उपसर्ग का उपयोग न करके आ उपसर्ग का प्रयोग किया है। मिट्टी से घडा बनने के सन्दर्भ में यद्यपि मिट्टी घडे में

आतप्रोत रहती है तथापि केवल मिट्टी ही घडे को नही बनाती है घडे का बनाने के लिए कुम्हार की भी अपेक्षा है जो घट से सर्वथा पृथक् है। सृष्टि क निर्माण में स्रष्टा ही उपादानकारण है और स्रष्टा ही निमित्तकारण है। जैसे मकडी अपने जाले का बुनने के लिये स्वय ही निमित्त होती है और जाल का उपादान तन्तु भी अपने में से ही उत्पन्न करती है—*यथोर्णनाभि सृजते गृह्यते च*। इस प्रकार के सम्बन्ध को बताने के लिए ऋषि ने आ उपसर्ग का प्रयोग न केवल आबभूव में किया अपितु आजाता क्रिया मं भी किया। आ का अर्थ है सर्वतोभावेन। अर्थात् स्रष्टा सृष्टि का सर्वतोभावेन कारण है। सृष्टि में किसी कारणान्तर की अपेक्षा नही है।

पुरुष की त्रिविधता

हमन इस अध्याय के प्रारम्भ में तीन प्रश्न उठाये थे—

(१) इस सृष्टि का अधिष्ठान क्या है ?

(२) निमित्तकारण क्या है ?

(३) उपादानकारण क्या है ?

इन प्रश्नों के उत्तर में थाडा और विचार करें ता अव्ययपुरुष जगत् का अधिष्ठान है अक्षरपुरुष निमित्तकारण तथा क्षरपुरुष उपादानकारण है। इन तीनों पुरुषों का उल्लेख गीता में इन शब्दों में है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षर सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तम पुरुषस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृत।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर॥
(गीता १५ १६ १७)

इनमें भी प्रत्येक पुरुष की पाँच पाँच कलायें हैं। इस प्रकार परात्पर सहित इन तीनों पुरुषों की पन्द्रह कलायें मिलकर षोडशकल पुरुष कहलाती हैं जिसका उल्लेख कौषीतकि ब्राह्मण में है। प्रस्तुत अधिकरण में हम निर्विशेष सहित षोडशकल पुरुष के स्वरूपविवेचन के माध्यम से ही ब्रह्म का निरूपण करेंगे।

पुरुषशब्द की व्युत्पत्ति

वेद जिसे तत् पद क द्वारा कहता है वह निर्विकारतत्त्व जब अपने में ही अविनाभाव सम्बन्ध से रहने वाली शक्ति स उस शक्ति के जागृत होने पर जुडता है तो वह पुरुष कहलाता है यद्यपि उस निर्विकारतत्त्व तथा उसमें रहने वाली स्वधाशक्ति का नित्यसम्बन्ध है तथापि वह शक्ति जब उद्बुद्ध हाती है तब उद्बुद्ध शक्ति से अवच्छिन्न उस तत्व को पुरुष कहते हैं। इस पुरुष के स्वरूप को जानने के लिये पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान देना होगा। पुरुष शब्द की पाँच व्युत्पत्तियाँ सम्भव हैं—

(१) पुरु धास्यति अर्थात् अनेक प्रकार से क्रिया करने वाला अथवा सर्वप्रथम गति करने वाला पुरुष भाव में आने पर ही क्रिया होती है।

(२) पुरा रुप्यति अर्थात् सर्वप्रथम निर्विकारभाव को विकृत करने वाला निःसीम को सीमित करने वाला।

(३) पूर्षु रुप्यते अर्थात् पुर में अथवा सीमाभाव में बद्ध होने वाला।

(४) पुरा औषत् अर्थात् मन प्राण वाक् के पापाश को नष्ट करने वाला। अभिप्राय यह है कि मन प्राण वाक् में जो मृत्यु भाग है पुरुष अपने रसभाव से उसे अभिभूत कर लेता है।

(५) पुरे वसति। पुर अर्थात् शरीर रूपी जगत् में वास करने वाला।

माया बल सीमित होते हुए भी अमित परात्पर को उसी प्रकार सीमित कर लेता है जिस प्रकार मेघखण्ड छोटा होने पर भी विस्तृत सूर्य को आवृत्त कर लेता है। जिस प्रकार तरङ्गें समुद्र को अखण्ड होने पर भी खण्डवान् बना देती है उसी प्रकार बल रस को अखण्ड होते हुए भी सखण्ड बना देता है। परात्पर के तीन विवर्त अव्यय अक्षर और क्षर हैं। ये तीनों ही पुरुष कहलाते हैं। परात्पर अवैकारिक है, अव्यय अक्षर और क्षर वैकारिक हैं। अव्यय अक्षर तथा क्षर को एक उदाहरण से मोटे तौर पर समझाया जा सकता है। हमने प्रकाश में आँखों से एक हाथी देखा। यहाँ प्रकाश अव्ययस्थानीय है आँखें अक्षरस्थानीय हैं तथा हाथी क्षरस्थानीय है।

पुरुष तथा प्रकृति

मायाबल से पुर् की उत्पत्ति होते ही उसका हृदय अथवा केन्द्र उत्पन्न हो जाता है। इस हृदय में जब रस मुख्य तथा बल गौण होता है तो अक्षर का जन्म होता है जिसका दूसरा नाम पराप्रकृति अथवा अव्यक्तप्रकृति भी है। इसी हृदय में बल मुख्य तथा रस गौण होने पर क्षर का जन्म होता है जिसे अपराप्रकृति अथवा व्यक्तप्रकृति भी कहते हैं। पराप्रकृति चेतना कहलाती है और यह चिति अर्थात् सृष्टि करती है। चेतना चिति करती है जबकि चित् वह तत्त्व है जिसकी चिति होती है। चिति से ही चित्य अर्थात् क्षर का निर्माण होता है। परात्पर मन शून्य निष्काम था सीमा बनते ही वह समनस्क सकाम हो गया जिसकी कामना थी—*एकोऽहं बहु स्याम्* अर्थात् मैं एक हूँ तथा अनेक हो जाऊँ।

त्रिविध ससर्ग से पुरुष त्रैविध्य स्वरूपससर्ग

अव्यय अक्षर तथा क्षरपुरुष रस से बल के ससर्ग के आधार पर विभक्त होते हैं। यह ससर्ग द्विविध है—स्वरूपससर्ग तथा वृत्तिससर्ग। ये दोनों भी तीन तीन प्रकार के हैं जिनके कारण पुरुष का त्रैविध्य बनता है। स्वरूपससर्ग के तीन भेद हैं—विभूति, योग तथा बन्ध। विभूतियोग से दो सम्बद्ध पदार्थों में एक असम्पृक्त रहने के कारण स्वतन्त्र तथा बलवान् रहता है दूसरा सम्पृक्त होकर गौण हो जाते हैं। जैसे ईंट की मिट्टी को सूत्रात्मा वायु ने जोड़ा है। यहाँ वायु स्वतन्त्र है किन्तु मिट्टी परतन्त्र। इसी प्रकार रस तथा बल में जब विभूतिसम्बन्ध होता है तो रस स्वतन्त्र रहता

है अत वह मुख्य रहता है बल उसके अधीन हो जाता है। यह स्थिति अव्ययपुरुष की है। योग सम्बन्ध में दो सम्बद्ध पदार्थ समान बल वाले रहते हैं क्योंकि कोई किसी के अधीन नहीं होता, यथा पक्षी की गति तथा पक्षी के पँखों की गति का सम्बन्ध। यहाँ पक्षी की गति भिन्न दिशा में तथा उसके पँखों की गति भिन्न दिशा में है। रस तथा बल का ऐसा ही सम्बन्ध होने पर अक्षरपुरुष बनता है क्योंकि उसमें दोनों समान बल होते हैं। बन्धसम्बन्ध में एक दूसरे को अभिभूत कर लेता है यथा फेन में पानी वायु को अपने में बाँध लेता है। इसी प्रकार जब बल रस को अभिभूत कर लेता है तब क्षरपुरुष बनता है।

वृत्तिससर्ग

पुरुषत्रैविध्य को वृत्तिससर्ग की त्रिविधिता से भी समझा जा सकता है। वृत्तिससर्ग उदार समवाय तथा आसक्ति रूप होते हैं। उदारससर्ग में आधार आधेय से निर्लिप्त रहता है यथा आकाश वायु से। अव्ययपुरुष जगत् से इसी प्रकार निर्लिप्त रहता है। समवायसम्बन्ध में आधार आधेय में अयुतसिद्धता रहती है, यथा गुण गुणी में। अक्षरपुरुष में जगत् इसी आधार आधेयसम्बन्ध से रहता है। आसक्ति में आधार को आधेय अभिभूत कर लेता है जैसे लेप पाषाण को। क्षरपुरुष इसी तरह जगत् को अभिभूत किए है।

पुरुष, रस तथा बल

अव्यय में रस प्रधान है अक्षर में रस और बल दोनों की समान प्रधानता है और क्षरपुरुष में बल प्रधान है। अव्ययपुरुष के मन प्राण और वाक् से क्रमश ज्ञान भक्ति और कर्म का सम्बन्ध है। अव्यय आलम्बन है वह न कर्ता है और न भोक्ता। अक्षर निमित्त कारण है यह कर्ता है भोक्ता नही। क्षर उपादानकारण है यह कर्ता भी है और भोक्ता भी।

अव्यय पर है अक्षर परावर तथा क्षर अवर। अव्यय आधार है अक्षर कारण है क्षर कार्य है—

एतदालम्बन श्रेष्ठमेतदालम्बन परम्।
एतदालम्बन ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
(कठोपनिषद् १ २ ७)

अव्यय अक्षर और क्षर में क्रमश रस की मात्रा न्यून होती जाती है। अव्यय की आनन्द, विज्ञान मन प्राण और वाक् ये पाँच कलाएं हैं जिनमें मोक्ष की जनक दो कलाए हैं—विज्ञान और आनन्द। मन जब प्राण और वाक् की ओर उन्मुख होता है तो सृष्टि होती है जब विज्ञान और आनन्द की ओर उन्मुख होता है तो मुक्ति होती है।

अव्यय रूप मन में चिति के कारण ग्रन्थिबन्ध होता है। चिति दो प्रकार की है—विद्या के बल पर अन्तश्चिति होती है और अविद्या के बल पर बहिश्चिति।

बहिश्चिति से प्राण और वाक् की प्रधानता होने से सासारिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं अन्तश्चिति से विज्ञान और आनन्द की प्रधानता होने से मुक्ति होती है। इस प्रकार मन ही मोक्ष और बन्धन

का कारण है—

न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परन्तप।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः॥
(ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् १.२)

बन्धन प्रजापति का मर्त्यभाग है, मुक्ति अमृतभाग है—

तस्य ह प्रजापतेः। अर्धमेव मर्त्यमासीदर्धममृतम्।
(शतपथ ब्राह्मण १०.१.३.२)

अपिच—*अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।* (गीता ९.१९)

बहिश्चिति और अन्तश्चिति को क्रमशः बलचिति और रसचिति भी कहते हैं। बहिश्चिति के दो भेद हैं—प्राणचिति और वाक्चिति। अन्तश्चिति के दो भेद हैं—विज्ञानचिति और आनन्दचिति। विज्ञानचिति की अवस्था में बलग्रन्थि खुलने लगती है। आनन्दचिति में बल का अभाव हो जाता है और विशुद्ध रस रह जाता है।

त्रिपुरुष एवं कारण कार्य भाव

क्षरपुरुष कार्य है अक्षर कारण है। अव्यय न कारण है न कार्य। सुख दुःख का स्पर्श अक्षर और क्षर को ही होता है अव्ययपुरुष को नहीं—

न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। (छान्दोग्योपनिषद् ८.१२.१)।

तीन पुरुषों में अव्यय कार्यकारणातीत है अक्षर निमित्त है और क्षर समवायी कारण है।

बलों का ग्रन्थिबन्धन

क्षर प्रत्यक्ष है उसमें अक्षर है और अक्षर में अव्यय। एक बल का दूसरे बल में समाहित हो जाना ग्रन्थिबन्ध का कारण होता है। एक ग्रन्थिबन्ध पर दूसरा बल आ जाने पर और ग्रन्थिबन्ध बँधता है। इस प्रकार अनेक बलों के मिलने से हृद्ग्रन्थि बनती है। ग्रन्थी बन्धन है—ग्रन्थी का खुलना प्रतिसञ्चर है। बन्धन से सृष्टि होती है और प्रतिसञ्चर से निवृत्ति। अन्त में बल रस में ही लीन हो जाता है।

काम, तप और श्रम

अव्यय अक्षर तथा क्षर से मन प्राण तथा अर्थ का विकास होता है जो क्रमशः प्रज्ञानात्मा प्राणात्मा तथा भूतात्मा है।

इनमें प्रज्ञानात्मा की मुख्यता से बहिःसंज्ञ प्राणात्मा की मुख्यता से अन्तःसंज्ञ तथा भूतात्मा की मुख्यता से असंज्ञ सृष्टि होती है। अव्ययपुरुष भाव सृष्टि के प्रवर्तक हैं अक्षरपुरुष गुण सृष्टि के और आत्मक्षरपुरुष विकार सृष्टि के। भाव सृष्टि पुरुष है गुण तथा विकार सृष्टि प्रकृति सृष्टि

है। इन तीनों में काम तप और श्रम का अनुबन्ध है। काम सिसृक्षा है प्राण की क्षुब्ध अवस्था तप है। जब प्राण का व्यय होता है तो वस्तु का निर्माण होता हैं। यदि तप के बिना भोग आ भी जाये तो उसका आत्मा के साथ अन्तर्यामसम्बन्ध नही होगा और वह आनन्द का कारण नही बनेगा। यह तप ही परिश्रम कहलाता है क्योंकि यह चारों ओर व्याप्त रहता है। ये आभ्यन्तरव्यापार हैं। वाक् का प्रयत्न श्रम कहलाता है। सभी कर्म काम तप और श्रम से होते हैं। श्रम बिना तप के और तप बिना कामना के नही होता। अव्यय मन अव्यय प्राण और अव्यय वाक् के काम तप और श्रम के बिना ससार का कोई पदार्थ नही है।

बलो के चयन से त्रिपुरुष

जहा बल रस को परिच्छिन्न तो करता है किन्तु जहा बलों का चयन नही होता है वह अव्ययपुरुष है। जहा बलों पर बलों का चयन हाता है वह अक्षरपुरुष है और बलों के निरन्तर चयन से मन्थी पड जाने पर वह क्षरपुरुष कहलाता है। जब तक परिच्छेद नही हाता तब तक भेद नहीं है वह परात्पर है। अव्ययपुरुष में भेद उत्पन्न हो गया वह ईश्वर है। उसमें जो छोटे छोटे परिच्छेद हुए वह जीव है। अक्षर या क्षरपुरुष अव्ययपुरुष की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकते क्योंकि अव्ययपुरुष सबसे बडा परिच्छेद है। जीव या वस्तु के अव्यय का परिमाण ही उसके अक्षरपुरुष का परिमाण निश्चित करता है।

प्रजापति

ब्रह्म को ही प्रजापति भी कहा जाता है। शतपथब्राह्मण कहता है कि प्रजापति ने सब कुछ बनाया—*सर्वमसृजत यदिद किञ्च* (शतपथ ब्राह्मण ६ १ २ ११) । इसलिए ब्रह्म सबकी प्रतिष्ठा है—*ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा* (शतपथ ब्राह्मण ६ १ १ ८) । सभी प्राणी प्रजापति हैं—*यद्वै किञ्च प्राणि स प्रजापति* (शतपथ ब्राह्मण ११ १ ६ १७) । सृष्टि को बनाकर ब्रह्म उसमें प्रविष्ट हो जाता है—*तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्* (तैत्तिरीयोपनिषद् २ ६ १) ।

प्रजापति की तीन धातुएँ हैं—मन प्राण तथा वाक्। इन तीन धातुओं में से मन एक से अनेक होने की कामना करता है। प्रजापति तप करता है इसलिए प्राण भी प्रजापति है—*तपसा वै प्रजापति प्रजा असृजत्* (काठकसहिता ६-७) *तस्माद् प्रजापति प्राण* (शतपथ ब्राह्मण ७ ५ १ २१) । प्रजापति से वाक् गर्भवती होती है तथा वाक् से ही प्रजा उत्पन्न होती है—*वाग् द्वितीया आसीत् सा गर्भमधत्त। सेमा प्रजारसृजत्* (काठक सहिता १२ ५) ।

प्रजा उत्पन्न करन के कारण प्रजापति को यज्ञ भी कहा गया है—*प्रजापतिर्यज्ञ* (काठक सहिता ११ ४) । प्रजापति जिस प्रकार प्रजा को उत्पन्न करता है उसी प्रकार प्रजा का पालन भी करता है। *प्रजापतिर्वै भुवनस्य पति* (तैत्तिरीय सहिता ३ ४,८,६) । सभी देव प्रजापति के अनुवर्ती हैं—*प्रजापतिम् वा अनु सर्वे देवा* (शतपथ ब्राह्मण १३ ५ ३ ३) । इसलिए प्रजापति का तादात्म्य अग्नि (तैत्तिरीय सहिता १ १ ५ ५) आदित्य (जैमिनीयब्राह्मण २.३७०) विष्णु तैत्तिरीयारण्यक १० ३१ १) रुद्र ब्रह्मा वाक् (तैत्तिरीय ब्राह्मण १ ३ ४ ५) साम (शतपथ ब्राह्मण ५ १ ३ ७) तथा सविता

(जैमिनीय ब्राह्मण २ ३ ७०) इत्यादि देवताओं के साथ बताया गया है। शतपथब्राह्मण में काल का प्रजापति के रूप में प्रस्तुत करते हुए बारह मास तथा पाँच ऋतुओं को मिलाकर सप्तदशप्रजापति की बात की गयी है—*द्वादश वै मासा संवत्सरस्य पञ्चर्तव एष एव प्रजापतिः सप्तदशः* (शतपथ ब्राह्मण १ ३ ५ १०) ।

प्रजापति को सर्जन का देवता माना गया है इसलिए जिन भी देवताओं का सर्जन में योगदान है उन सभी को प्रजापति कह दिया गया है—*अग्निः प्रजापतिः* (तैत्तिरीय संहिता १ २ २ २७), *इन्द्र उ वै प्रजापतिः* (शाङ्खायन आरण्यक १ १) *असौ वा आदित्य इन्द्र एष प्रजापतिः* (तैत्तिरीय संहिता ५.७ १ २) । इस प्रकार प्रजापति की अवधारणा में हमें बहुदेववाद में एकदेववाद के दर्शन होते हैं। प्रजापति की इसी महिमा को देखते हुए तैत्तिरीयसंहिता में कहा गया है कि अन्य सब देवता भले ही बासी हो जायें, किन्तु प्रजापति कभी बासी नहीं होता है—*सर्वा वा अन्या देवता यातयाम्नी । प्रजापतिरेवायातयामा* (तैत्तिरीयसंहिता १ १७ ११ २) ।

अव्ययपुरुष की कलाये तथा आत्मा

अव्यय पुरुष की पाँच कलायें हैं—आनन्द विज्ञान मन प्राण और वाक्। अव्ययपुरुष के मन और प्राण अतिसूक्ष्म हैं इसलिये उन्हें श्वोवसीयस्मन तथा मुख्यप्राण कहा जाता है। वाक् भूतों की जननी है। संसार के आनन्द विज्ञान मन तथा प्राण अव्ययपुरुष की कलाओं का ही अंश है। इन्ही पाँच कलाओं पर अक्षरपुरुष और क्षरपुरुष अवलम्बित हैं। क्षरपुरुष वाक् पर अवलम्बित है तथा अक्षर प्राण पर। अक्षरपुरुष में भी प्रज्ञानात्मा प्राण पर भूतात्मा वाक् पर तथा शान्तात्मा महानात्मा और विज्ञानात्मा विज्ञान पर टिके हैं। भूतात्माओं में शरीरात्मा वाक् का, हंसात्मा प्राण का तथा कर्मात्मा मन का आश्रय लेता है। कर्मात्माओं में भी वैश्वानर वाक् का तैजस प्राण का और प्राज्ञ मन का आश्रय होता है।

पञ्चकोशो म रस-बल

आनन्द में बल प्रसुप्त है रस उससे अवच्छिन्न है। विज्ञान में बल प्रबुद्ध है रस उससे अवच्छिन्न है। मन में रस और बल की समान अवस्था है। प्राण में रस किञ्चित् प्रबुद्ध है बल उससे अवच्छिन्न है। वाक् में रस प्रसुप्त है बल उससे अवच्छिन्न है।

अव्यय की दो कलाये

अव्यय की दो कलायें मुख्य हैं—विद्या और अविद्या। विद्या ज्ञान है अविद्या कर्म है। ज्ञान कर्मरूप विषयों को जानता है। कर्म वासनाओं को जागृत करता है। कर्म मर्त्य है ज्ञान अमृत है। विकल्प से अव्यय की तीन कलायें हैं—ज्ञान इच्छा और आवरण। ज्ञान से ज्ञानात्मा आवरण से कर्मात्मा तथा इच्छा से कामात्मा जुड़ी है। मन की अन्तश्चिति ज्ञान है बहिश्चिति कर्म है। विशुद्ध ज्ञान आनन्द है। कर्ममिश्रित ज्ञानविज्ञान है। क्षुब्धकर्म प्राण है मूर्च्छितकर्म वाक् है। इस प्रकार मन प्रवृत्ति की ओर जाते हुए बहिश्चिति करता है तो कमात्मा क्षुब्धकर्म से प्राण और मूर्च्छितकर्म से वाक् को जन्म देता है। यदि मन निवृत्ति के माध्यम से अन्तश्चिति बनाता है तो ज्ञानात्मा शुद्ध

ज्ञान से आनन्द और कर्ममिश्रितज्ञान से विज्ञान को जन्म देता है।

काम के कारण परीमित हुआ मन पुरुष कहलाता है। अव्यय की तीन धातुए हैं—विद्या काम और कर्म। सृष्टिसाक्षी अव्यय कर्म है मुक्तिसाक्षिणी विद्या है। काम दोनों का साक्षी है। प्राण से युक्त विज्ञान विद्या है। उससे आनन्द की सिद्धि होती है। विज्ञानयुक्तप्राण कर्म है उससे वाक् की सिद्धि होती है। मन सबके केन्द्र में है।

मन प्राण वाक् की विश्व व्यापकता

मन प्राण और वाक् सृष्टिसाक्षी हैं। इसलिये ये तीनों सृष्टि के पाँच पर्वो में रहते हैं। सृष्टि पञ्चपर्वा है। उनमें से प्रत्येक पर्व के मन प्राण और वाक् तीन तीन मनोता हैं। छान्दोग्योपनिषद् कहता है कि जो इन तीन को पाँच रूपों में बँटा हुआ जानता है वह सब कुछ जान लेता है क्योंकि इससे अधिक बडा और कुछ भी नही है—

यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि
तेभ्यो न ज्याय परमन्यदस्ति।
यस्तद्वेद स वेद सर्वं
सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति॥ (छान्दोग्योपनिषद् २/२१/३)

सृष्टि के पाँच पर्व हैं—स्वयम्भू, परमेष्ठी सूर्य चन्द्रमा और पृथिवी। इनमें स्वयम्भू के तीन मनोता हैं—वेद सूत्र और नियति। ये ही क्रमश वाक् प्राण और मन हैं। परमेष्ठी के मनोता हैं—इला ऊर्क् और भोग जो कि उसके क्रमश वाक् प्राण और मन है। सूर्य के तीन मनोता हैं—ज्योति गौ और आयु जो कि उसके क्रमश वाक् प्राण और मन हैं। चन्द्रमा के मनोता हैं—रेतस्, यशस् और श्रद्धा जो क्रमश चन्द्रमा के वाक् प्राण आर मन हैं तथा वाक् प्राण और गौ पृथिवी के क्रमश वाक् प्राण और मन हैं। इस प्रकार वाक् प्राण और मन सृष्टि के पाँचों पर्वों में व्याप्त हैं।

मन प्राण तथा वाक् की विश्वव्यापकता को निम्न तालिका से समझा जा सकता है—

मन, प्राण, वाक्	वाक्	प्राण	मन
विश्व			
स्वयम्भू	वेद	सूत्र	*नियति*
परमेष्ठी	इळा	ऊर्क्	भोग
सूर्य	ज्योति	गौ	आयु
चन्द्रमा	रेतस्	यशस्	श्रद्धा
पृथ्वी	वाक्	प्राण	गौ

माया, बल तथा भगवान्

जो बल अपरिच्छिन्न रस को परिच्छिन्न कर देता है वह बल माया है। परिच्छिन्न होने पर पदार्थ का रूप पृथक् हो जाता है जिसे वेद में छन्द कहा जाता है। पृथक् पदार्थ का नाम भी पृथक् हो जाता है। माया के कारण रस में ऐश्वर्य धर्म यश ज्ञान वैराग्य और श्री—इन ६ भागों का प्रादुर्भाव होता है। इन्हीं भागों से युक्त की भगवान् सज्ञा होती है।

मन, प्राण तथा वाक् का महत्त्व

अव्ययपुरुष की पाँच कलाओं में मन प्राण और वाक् का विशेष महत्त्व है क्योंकि ये तीनों ही सृष्टि के कारण हैं। इसलिये इन तीन के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से चर्चा करना उपयोगी होगी।

मन, प्राण तथा वाक् के छ आधार

मन प्राण और वाक् स क्रमश ज्ञान क्रिया और अर्थ उत्पन्न होते हैं। ये तीनो ही ससार के पदार्थों को बनाते हैं। ये नाम रूप और कर्म के रूप में सर्वव्यापक हैं। इन तीनों का प्रथम अधिकार अन्न अन्नाद और आवपन है। अन्न भाग्य है अन्नाद भोक्ता है और आवपन भाग का स्थल है। दूसरा अधिकार अभिमानी अधिष्ठाता और अधिष्ठान है। उदाहरणत गङ्गा में जल अधिष्ठान है प्रवाह अधिष्ठाता है और गङ्गा उसका अभिमानी देवता है। तीसरा अधिकार ब्रह्म है। वाक् का ब्रह्म प्राण है प्राण का ब्रह्म मन है। चौथा आधार दिव्य है—मन ब्रह्म है प्राण क्षत्र है विट वाक् है। इन्ही से ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य की उत्पत्ति होती है। पाँचवा अधिकार है—अग्नि सोम और आप। मन से सोम प्राण से अग्नि और वाक् से आप की उत्पत्ति होती है। सोमरस से चन्द्रमा की अग्नि स सूर्य की और आप से प्रत्येक पिण्ड की रचना हुई। छठा अधिकार काम तप और श्रम है। मन की वृत्ति काम प्राण की वृत्ति क्रिया और वाक् की वृत्ति श्रम है। प्राण के अन्तर्व्यापार को तप कहते हैं। उससे जो बाह्यक्रिया होती है वह श्रम कहलाती है। काम तप और श्रम सभी पदार्थों में रहते है। इनके बिना कोई पदार्थ नही बन सकता है।

मन, प्राण तथा वाक् का अन्त सम्बन्ध

ज्ञान क्रिया और अर्थ में से ज्ञान और क्रिया अपरिच्छिन्न है। परिच्छिन्नता केवल अर्थ में रहती है। मन और प्राण के योग से ही वाक् सफल होती है। जिस वाक् में मनोयोग नहीं है और प्राणवत्ता नही है उसमें किसी की भी श्रद्धा नही रहती। ज्ञान के बिना क्रिया निरर्थक है। मन में अन्तर्जल्प चलता है। वह वाक् का भाग है। इस प्रकार इन तीनों का परस्पर गहरा सम्बन्ध है।

मन स वेद प्राण से यज्ञ और वाक् से प्रजा उत्पन्न होती है। प्राण और वाक् मिलकर मन की सहायता करते हैं तो वेदसृष्टि होती है मन और वाक् मिलकर प्राण की सहायता करते हैं तो यज्ञ की सृष्टि होती है प्राण और मन मिलकर वाक् को सञ्चालित करते हैं तो लोक की सृष्टि होती है।

त्रिगुण

वाक् प्राण और मन त्रिसत्य कहलाते हैं। वाक् सत् है प्राण असत् है और मन सदसत्। सत् का अर्थ देशकालावच्छिन्न है। प्राण का अनुमान होता है वह स्वय दिखाई नही देता इसलिए असत् है। मन स्वय को जानता है किन्तु दूसरे के मन को नही इसलिए उसे सदसत् कहते हैं।

ज्योति, विधृति तथा प्रतिष्ठा

मन प्राण और वाक् ज्योति विधृति और प्रतिष्ठा के रूप में जगत् में व्याप्त है। ज्योति के तीन रूप हैं—आन्तरप्रकाश अर्थात् ज्ञान बाह्यप्रकाश अर्थात् सूर्य और वस्तु के विकास का कारण। ज्ञान का सम्बन्ध अक्षरपुरुष के मन से है। भौतिकप्रकाश का सम्बन्ध क्षरपुरुष के मन से है। विकास के तीन रूप हैं—कालविकास मात्राविकास और सस्थाविकास। सस्थाविकास में तीन का समावेश होता है—जीव जिसे अहम् कहा जाता है ईश्वर जिसे अह कहा जाता है और परमेश्वर जिसे ओम् कहा जाता है।

विधृति के तीन भेद हैं—पदार्थ का मण्डल प्रथम विधृति है जिसे भर्ग कहा जाता है। जहा तक पदार्थ का उत्कृष्ट प्रभाव है वहा तक मह है जहा तक पदार्थ का सूक्ष्म प्रभाव जाता है वहा तक यश है। विधृति आनन्द रूप है। मन और बुद्धि का चञ्चल होना दु ख है उनका स्थिर हो जाना शान्तानन्द है प्रतिष्ठा सत्ता है। प्रतिष्ठा का आनन्द भूमारूप है। ऋग्वेद प्रतिष्ठा है वह सत्य है। सामवेद ज्योति है, वह चेतना है। यजुर्वेद आत्मवेद है वह आनन्द है।

प्रतिष्ठा का अर्थ है—स्थिरता। प्रतिष्ठा भी तीन प्रकार की है—आत्मधृति असतोधृति और सतोधृति। इनमें आत्मधृति ही स्वप्रतिष्ठा है। शेष दोनों प्रतिष्ठाए उसी पर टिकी हैं। पदार्थ का स्वरूप स्वप्रतिष्ठा से ही बनता है। पदार्थ का उपादानकारण ही वास्तविक सत्ता है। स्वय पदार्थ तो असतोधृति है। इसी बात को उपनिषद् में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि मृत्तिका ही सत्य है नाम तो वाणी के विकार मात्र हैं।

सृष्टि मे मन का योगदान

जब तक सीमा न हो केन्द्र नही बनता केन्द्र के बिना कामना नहीं कामना के बिना क्षोभ नही क्षोभ के बिना विकार नही और विकार के बिना सृष्टि नहीं।

मन जब सृष्टि के लिए उन्मुख होता है तो उसमें प्राण और वाक् उत्पन्न होते हैं। प्राण क्रियारूप है जो स्थूलता में बद्ध होकर वाक् में परिणत हो जाता है। विज्ञान और आनन्द विद्या हैं प्राण और वाक् अविद्या हैं। प्राण का आधार अक्षरपुरुष है और वाक् का आधार क्षरपुरुष बनता है। अक्षर निमित्त है क्षर उपादान है। अव्ययपुरुष कारणातीत है।

मन इच्छा करता है प्राण तप तथा वाक् श्रम। मन का विकम्पित रूप काम है प्राण का विकम्पित रूप तप है तथा वाक् का विकम्पित रूप श्रम है। इन तीनों से ही सृष्टि बनती है—*सोऽकामयत। स तपोऽतप्यत। सोऽश्राम्यत्* (शतपथ ब्राह्मण १४४३१०)। मन की

वासनायुक्त इच्छा बन्धन का कारण है। ईश्वर के मन में कोई वासना नही होती अत वहा बन्धन नही होता। जितनी इच्छा है उतना ही प्राण और उतनी ही वाक्। प्रसार मन की पूर्णता है। मन परात्पर जैसा पूर्ण होना चाहता है किन्तु प्राण के बलवान् न होने से वैसा नहीं कर पाता इसलिए अपूर्ण रहता है। प्राण और वाक् का एक रूप मन से अन्तर्यामसम्बन्ध से जुडा है—अशनाया से उठने वाला प्राण और अशिति रूप में प्राप्त होने वाला वाक् उस प्राण और वाक् स भिन्न है इसलिए अपूर्णता का अनुभव होता है। अपूर्ण मन चचल होता है। वह प्राणों को प्रेरित करता है। यही काम का स्वरूप है। प्राण का इच्छित पदार्थ को छोडना तपस्या है। तप से ही सृष्टि होती है। अपना जो अश दूसरे को दिया जाता है वह तप है। इसके द्वारा कामनाओं की प्राप्ति होती है। ब्राह्मण का तप ज्ञान है। क्षत्रिय का तप रक्षा है। यज्ञ तप और दान तीनों तप ही हैं। मानवभाव को दैवभाव का अर्पण कर देना यज्ञ है। तप में विराट का अश दूसरे को दिया जाता है। दान में मन का चारों ओर से काट दिया जाता है।

क्योंकि यह अव्ययपुरुष ससीम है इसलिए इसका केन्द्र भी है। अव्ययपुरुष का यह केन्द्र ही मन कहलाता है क्योंकि यह मन अस्मदादि के मन से भिन्न है। इसलिए इसे अलग नाम दिया गया—श्वोवसीयस् मन। श्वोवसीयस् मन के दो अर्थ हैं—१ जो श्व अर्थात् कालभाव से अवसीयस् अर्थात् असङ्ग है और जो श्व = सदा वसायस् = वर्धमान है। मन का धर्म है—कामना। अव्ययपुरुष के इस मन में कामना उत्पन्न हुई किन्तु यह कामना उसके मन का महज धर्म है। इसके पीछे किसी प्रकार का राग द्वेष जैसा भाव नही है। यह कामना थी एक से अनेक हो जाने की कामना। इस कामना के कारण अव्ययपुरुष की मन के अतिरिक्त चार कलाए और उत्पन्न हो गई। विज्ञान और आनन्द की कला रसभाव की अधिकता स पैदा हुइ। प्राण तथा वाक् का कला बलभाव की अधिकता स पैदा हुई।

मन के सम्बन्ध में ब्राह्मणग्रन्थों में बहुत विस्तृत विचार हुआ है। इस विचार की भी एक सक्षिप्त झलक देख लेनी चाहिये।

ब्राह्मण ग्रन्थो म मन

वाक् का सम्बन्ध ऋग्वेद से है—*वागेवर्ग्वेद* (शतपथ ब्राह्मण १४४३१२) । प्राण का सम्बन्ध सामवेद से है—*प्राण सामवेद* (शतपथ ब्राह्मण १४४३१२) तो मन का सम्बन्ध यजुर्वेद से है—*अथ यन्मनो यजुष्टत्* (जैमिनीयापनिषद् १८११९) । मन ही यजु है—*मन एव यजु* (शतपथ ब्राह्मण ४६७५) । मन के यजु से सम्बन्ध होने का अर्थ है कि यजु का सम्बन्ध भी गति से है—*सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्* (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३१२९१) तथा मन भी गतिशील है—*यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैव तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरङ्गम ज्योतिषा ज्योतिरेक तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥* (काठक संकलन १३४७८) वस्तुत मन से अधिक गतिशील कुछ भी नही—*मनो भुवनेषु जविष्ठम्* (जैमिनीय ब्राह्मण १२०) । मन का सम्बन्ध यजुर्वेद स है और यजुर्वेद का सम्बन्ध अन्तरिक्ष से है इसलिए मन का सम्बन्ध अन्तरिक्षलोक और अन्तरिक्ष के देवता चन्द्रमा से भी है—*मनोऽन्तरिक्षलोक* (शतपथ १४४३११) तथा *मनश्च चन्द्रमा*

(जैमिनीयोपनिषद् ३ १ २ ६) । अन्तरिक्ष के देवता इन्द्र से भी इसी नाते मन से सम्बन्ध है—*यन्मन स इन्द्र* (गोपथ ब्राह्मण २ ४ ११) । ब्राह्मणग्रन्थ तथा आरण्यक एव उपनिषदों में मन के अनेक नाम दिये हैं जो मन के कार्यों के भी सूचक हैं। शतपथब्राह्मण कहता है काम सङ्कल्प जिज्ञासा श्रद्धा अश्रद्धा धैर्य, अधैर्य लज्जा बुद्धि और भय ये सब मन ही हैं—*काम सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव* (शतपथ ब्राह्मण १४.४ ३ ९) । भाव यह है कि अन्तर्जगत् का समस्त कर्म मन का कर्म है। ऐतरेयारण्यक मन के अनेक पर्यायवाची देता है—*यदेतद्धृदय मनश्चैतत्सज्ञानमाज्ञान विज्ञान प्रज्ञान मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूति स्मृति सकल्प क्रतुरसु कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति* (ऐतरेय आरण्यक २ ६) । शतपथब्राह्मण ने ऋग्वेद के *नासदासीन्नोसदासीत्तदानीम्* (ऋग्वेद १० १२९ १) की व्याख्या करते हुए कहा है कि सृष्टि के प्रारम्भ में मन था और मन न सत् है न असत्—*नैव वाऽइदमग्रेऽसदासीनैव सदासीत्। आसीदिव वाऽइदमग्रे नैवासीतद्ध तन्मन एवास। तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्। नासदासीन्नो सदासीत्तदानीमिति नैव हि सन्मनो नैवासत्* (शतपथ ब्राह्मण १० ५ ३ १ २) । जो कुछ प्राप्त नही है वह मन से ही प्राप्त किया जाता है—*मनसा ह्यनाप्तमाप्यते* (तैत्तिरीय सहिता २ ५ ११ ४) । मन के वश में यह सब कुछ है—*मनसो वशे सर्वमिद बभूव* (तैत्तिरीय सहिता ३ १२ ३ ३) ।

यजुर्वेद में मन की महिमा अत्यन्त ओजस्वी शब्दों में दी गई है। ऋक् साम और यजु मन में इस प्रकार प्रतिष्ठित बताये गए हैं जिस प्रकार रथ की नाभि में अरे प्रतिष्ठित होते हैं। जिस प्रकार सारथी घोडों को ले जाता है उसी प्रकार मन मनुष्यों को ले जाता है—

यस्मिन्नृच साम यजूषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवारा।
यस्मिश्चित्त सर्वमोत प्रजाना तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्योन्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठ यदजिर जविष्ठ तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥
(यजुर्वेद ३४/५ ६)

मन का वाक् से गहरा सम्बन्ध है। मन और वाक् दो धुर हैं। मन से वाक् उत्पन्न होती है मन से ही वाक् सञ्चालित होती है—*अथ द्वे एव धुरौ मनश्चैव वाक् च। मनसो हि वाक् प्रजायते सा मनोनेत्रा वाग्भवति* (जैमिनीय ब्राह्मण १ ३२०) । मन अपरिमित है वाक् परिमित है—*अपरिमिततर हि मन परिमितरेव हि वाक्* (शतपथ ब्राह्मण १ ४.४.७) । मन ही वाक् को धारण करता है—*मनसा हि वाग् धृता* (तैत्तिरीय सहिता ६ १ ७ २) । पहले मन है बाद में वाक्—*मनो वै पूर्वमथ वाक्* (जैमिनीय ब्राह्मण १ १२८) । मन वाक् की अपेक्षा तीव्र गति वाला है—*मनो वै वाच क्षेपीय* (काठक सहिता १९ ३ १०) । वाक् और मन का दिव्यमिथुन है—*वाक् च वै मनश्च देवाना मिथुनम्।* वाक् और मन का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि वाक् को ही मन कह दिया गया है—*वागिति मन* (जैमिनीयोपनिषद् ४.११ १ ११) । दोनों की तुलना करें तो वाक् मन से छोटी है—*वाग्वै मनसो ह्रसीयसी* (शतपथ ब्राह्मण १ ४.४.७) । वाक् मन की शक्ति है—*मनसो रेतो वाक्* (ऐतरेयारण्यक २ १ ३) ।

जिस प्रकार मन का वाक् से सम्बन्ध है प्राण से भी उसी प्रकार इतना गहरा सम्बन्ध है कि मन को प्राणों का अर्धभाग बताया है—*अर्धभाग वै मनः प्राणानाम्* (षड्विंश ब्राह्मण १ ५) । मन ही प्राण में प्रतिष्ठित है—*मनः प्राणे प्रतिष्ठितम्* (जैमिनीय ब्राह्मण ३ ३७१) । मन से ही प्राण धारण किया जाता है—*मनसा हि प्राणो धृतः* । (काठक संहिता २७ १) ।

प्राण मन के पीछे चलते हैं—*मनो वा अनुप्राणाः* (जैमिनीय ब्राह्मण १ १६) । इसलिए मन प्राणों का अधिपति है—*मनो वै प्राणानामधिपतिः* (शतपथ ब्राह्मण १४.३ २ ३) । वाक् पूर्वरूप है मन उत्तररूप है। प्राण दोनों को जोडने वाला है—*वाक् पूर्वरूप मन उत्तररूप प्राणः संहिता* (ऐतरेयारण्यक ३ १ १) ।

मन को प्रजापति बताया गया है—*मनो हि प्रजापतिः* (सामविधान ब्राह्मण १ १ १) । मन प्रजापति का हिङ्कार है—*स मन एव हिङ्कारमकरोत्* । प्रजापति के पाँच शरीर मर्त्य हैं पाँच अमृत। मन अमृत है—*तदेता वाऽअस्य ता पञ्च मर्त्यास्तन्व आसन्—लोम त्वङ् मासमस्थि मज्जा । अथैता अमृता मनो वाक् प्राणश्चक्षु श्रोत्रम्* (शतपथ ब्राह्मण १० १ ३ ४) ।

मन दीक्षा है तो प्रजापति दीक्षित है—*प्रजापतिर्दीक्षितो मनो दीक्षा* (जैमिनीय ब्राह्मण २ ५ ३ ६ ५) । प्रजापति मन ही है—*प्रजापतिर्वै मनः* (कौषीतकि ब्राह्मण १० १ २६) । प्रजापति ने मन से ही पृथिवी को घेरा—*मनसा वा इमां प्रजापतिः पर्यगृह्णात्* (मैत्रायणी संहिता १ ८ ७) । प्रजापति ने मन से ही यज्ञ का विस्तार किया—*मनसा वै प्रजापतिर्यज्ञमतनुत* (मैत्रायणी संहिता १ ४.१०) ।

मन को ब्रह्मा भी कहा गया है—*मन एव ब्रह्मा* (कौषीतकि ब्राह्मण १७ ७) ।

मन निर्लेप है क्योंकि कोई विषय इसके साथ स्थायी रूप से नहीं जुडता है। इसमें विषय आते जाते रहते हैं। मन आकाश के समान असङ्ग रहता है। जिस प्रकार आकाश में सब पदार्थ रहते हैं किन्तु आकाश किसी पदार्थ से जुडता नहीं है उसी प्रकार मन में सब विषय रहते हैं किन्तु मन किसी से जुडता नहीं है। मन आकाश के समान निष्क्रिय भी है। पदार्थ उसमें आते हैं और चले जाते हैं किन्तु वह उन पदार्थों की क्रिया के साथ स्वयं क्रिया नहीं करता। वस्तुतः क्रिया प्राण में होती है किन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि वह मन में हो रही है।

मन न छोटा है न बडा। वह जिस विषय का चिन्तन करता है उसी के आकार का हो जाता है। राई का चिन्तन करते समय वह राई के आकार का और विश्व का चिन्तन करते समय वह विश्व के आकार का हो जाता है।

मन का एक गुण है काम। अपने से बडों के प्रति श्रद्धा का भाव छोटों के प्रति वात्सल्य बराबर वालों के प्रति स्नेह और जड पदार्थों के प्रति काम—ये मन के ही गुण हैं।

वेद के अनुसार कोई पदार्थ जड नहीं है इसलिये मन सर्वव्यापक है। मन ही विद्याबल से ज्ञान और अविद्याबल से कर्म बन जाता है। ज्ञान कर्म को प्रकट करता है। कर्म मर्त्य है। ज्ञान अमृत और मन इन दोनों का सन्धिस्थान है। सृष्टि के प्रारम्भ में मन की कामना ही प्रादुर्भूत होती

है। यही केन्द्रात्मक रस बल मूर्ति है। मन अन्न से बना है—*अन्नमय हि सौम्य । मन*। अन्न की सात्विकता पर मन की सात्विकता निर्भर करती है। बलों की अधिकता से मन का स्थूल रूप बढ़ता है। अविद्या अस्मिता आसक्ति और अभिनिवेश—मन को स्वच्छन्द बनाते हैं। बुद्धि के चार धर्मों में से ज्ञान अविद्या का ऐश्वर्य अस्मिता का वैराग्य आसक्ति का और धर्म अभिनिवेश का नियन्त्रण करता है। काम मन का सहज धर्म है। वह प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में है इसलिए जो मन को वश में कर लेता है वह सारे ससार को वश में कर लेता है। काम के सम्बन्ध में वेद का कहना है कि वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ न उसे देव जान सकते हैं न पितर न गन्धर्व। वह अत्यन्त महान् है।

कामो जज्ञे प्रथमो नैन देवा आपु पितरो न मर्त्या ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महाँस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥
(अथर्ववेद ९/२/१९)

मन काम के द्वारा सब वस्तुओं को ग्रहण करता है। अगुलि में क्रिया मन के व्यापार द्वारा प्रेरित प्राण के व्यापार से होती है। जिस प्रकार जाति में जाति नहीं है प्राण में प्राण नहीं है उसी प्रकार मन में मन नही है। मन के बिना क्रिया सभव नही है और मन में मन नही है इसलिये स्वय मन में कोई क्रिया नहीं होती। मन चेतना से जुडकर चिदात्मा कहलाता है। यह सबका आलम्बन अव्यय है। इसकी व्युत्पत्ति होगी—जिसमें चयन होता है—चीयतेऽस्मिन्।

मन की दूसरी स्थिति अक्षर है। वहा मन का अर्थ होगा—जिसके द्वारा चयन होता है चीयतेऽनेन। ये दोनों ही चिदात्मा हैं। विद्या के कारण मन को ज्ञानात्मा कहा जाता है। अविद्या से अवच्छिन्न मन को कर्मात्मा कहा जाता है। चिति का अर्थ है—कर्म में कर्म की चिति। इसे वासना कहते हैं। चिति का दूसरा अर्थ है—ज्ञान में ज्ञान की चिति। इसे भावना कहते हैं। भावना का ही दूसरा नाम संस्कार है। ज्ञान में स्नेह नहीं होता इसलिये उसकी चिति नहीं हो सकती किन्तु ज्ञान में भी सूक्ष्म रूप में कर्म रहता है। वही ज्ञान की चिति का कारण बन जाता है।

मन की तीन कलाए मानी जाती हैं—ज्ञानात्मा शुद्ध ज्ञान है कामात्मा शुद्ध काम है कर्मात्मा शुद्ध कर्म है। मध्यस्थ का कामात्मा ज्ञान और कर्म दोनों से युक्त है। कर्म को ज्ञान का विरोधी होने के कारण अज्ञान कहा जाता है। गीता में कहा गया है कि ज्ञान अज्ञान से ढका हुआ है इसीलिये प्राणी मोहित होते है। इन तीनों में कर्म ही स्थान रोकता है, ज्ञान और काम स्थान नही रोकते। ज्ञान और कर्म एक दूसरे में ओतप्रोत हैं किन्तु मुख्यता की अपेक्षा हम एक को ज्ञान तथा दूसरे को कर्म कह देते हैं।

सृष्टि का बीज अव्ययमन है। काम उसका प्रथम लक्षण है। मायाबल से असीमपरात्पर में सीमा बनने पर केन्द्र बनता है। केन्द्र के बिना मन नहीं हो सकता। मन के बिना कामना नहीं हो सकती और कामना के बिना कर्म नहीं हो सकता तथा कर्म के बिना सृष्टि नहीं हो सकती।

सृष्टि का कारण श्वोवसीयस्मन है। यह प्रतिदिन भूमारूप होने के कारण श्वोवसीयस् कहलाता है। इस मन में जब एक से अनेक होने की इच्छा होती है तो प्राण तप में सलग्न होता

है और वाणी श्रम करती है। मन से ज्ञान प्राण से कर्म तथा वाणी से पदार्थ उत्पन्न होते हैं। ज्ञान कर्म और अन्न ही विश्व हैं। हमारे ज्ञान में क्रियावान् पदार्थ प्रतिफलित होते हैं।

मन का दूसरा रूप सङ्कल्पविकल्पात्मक मन है। इसका निश्चित धर्म है। अत यह इन्द्रिय है। मन का एक तीसरा रूप वह है जो सभी इन्द्रियों के विषय में अनुकूलता प्रतिकूलता का बोध कराता है। इसलिये उसे सर्वेन्द्रिय मन कहते हैं। सुषुप्ति में जब वह अपना कार्य बन्द कर देता है तो इन्द्रियों का व्यापार भी बन्द हो जाता है। इन्द्रियमन पार्थिवभास्वरसोम से बना है। सर्वेन्द्रिय मन चान्द्रसोम से बनता है। वासनात्मक संस्कार सर्वेन्द्रियमन पर ही अङ्कित होते हैं।

एक चौथा मन सत्वमन है। सुषुप्ति में इन्द्रियमन के व्यापार रुक जाने पर भी रक्तसंचार श्वास प्रश्वास इस सत्वमन के कारण होता है। सर्वेन्द्रियमन की इच्छा जीव की इच्छा है किन्तु सत्वमन जिसे महत् भी कहते हैं ईश्वरेच्छा से जुडा है। सर्वेन्द्रियमन चान्द्रसोम से जुडा है। सत्वमन पारमेष्ठ्यसोम से जुडा है। अव्ययमन महत्मन से भी अधिक सूक्ष्म है।

मन से जुडी आकाङक्षा दो प्रकार की हैं अपने आप उत्पन्न की हुई आकाङक्षा उत्थित आकाङक्षा कहलाती है वासना की प्रेरणा से उठायी हुई इच्छा उत्थाप्य आकाङक्षा कहलाती है। उत्थित आकाङक्षा सहज है। उसके सम्बन्ध में कब क्यों इत्यादि प्रश्न नहीं किये जा सकते। सृष्टि की उत्पत्ति का प्रश्न अव्यय से जुडा है। जो प्रकृति से परे है उसके सम्बन्ध में तर्क की गति नहीं है। वह ईश्वर की सहज इच्छा है। अव्यय के श्वोवसीयस् नामक मन में जो कामना सिसृक्षा के रूप में होती है उसके सम्बन्ध में प्रश्न नहीं किया जा सकता। वह सहज ही भोजन की इच्छा या सोने की इच्छा के समान है। ऐसी निष्कामभावना से किया गया कर्म स्वय ही होता रहता है किया नहीं जाता।

मन की इस कामना का स्वरूप है—एक के अनेक बनने की इच्छा। जैसे ही यह इच्छा उत्पन्न होती है एक क्षोभ या एक क्रिया उत्पन्न हो जाती है। यह क्षोभ या क्रिया प्राण का व्यापार है। जैसे सृष्टि की कामना करने वाला मन हमारा व्यक्तिगत मन नहीं अपितु अव्ययपुरुष का मन है। वैसे ये प्राण भी अव्ययपुरुष के प्राण हैं। हमारी कामना उस अव्ययमन की कामना का एक बहुत छोटा हिस्सा है। हमारा प्राण भी उस अव्ययपुरुष के प्राण का एक बहुत छोटा हिस्सा है। यह क्रिया सृष्टि को जन्म देती है। मन की कामना नितान्त अव्यक्त है क्रिया व्यक्ताव्यक्त है किन्तु उस क्रिया से उत्पन्न होने वाले पदार्थ व्यक्त हैं। इन व्यक्त पदार्थों का नाम वाक् है। इन्हें वाक् इसलिये कहा जाता है कि वाक् अर्थात् शब्द आकाश का गुण है और व्यक्तसृष्टि में जो पाँच भूत हमें उपलब्ध होते हैं उनमें सबसे पहला आकाश ही है। ये पञ्चभूत प्राण और मन मिलकर वे सात तन्तु हैं जिनसे सृष्टि का पट बुना गया है।

प्राण

अव्ययपुरुष की दूसरी कला प्राण है। प्राण प्रतिक्षण क्रियाशील है। यह सब क्रियाओं का उपादान है। क्रिया से प्राण का क्षय होता है। इसलिये हम क्रिया करने पर थक जाते हैं।

प्राण में पञ्चभूता का लक्षण नही है। न आपस में टकराने पर शब्द नही करत। हमें उनक आघात का बाध नही होता। उनमें न रूप ह न गन्ध। वह पदार्थों का धारण अवश्य करते हैं। इसी शक्ति क द्वारा पानी म मिलकर मिट्टी ढेल का रूप धारण कर लती है। यही विधरण शक्ति प्राण कहलाती ह। प्राण भूत मात्राओं के साथ ही रहता ह अत प्राण का अर्थवान् कहा जाता है। प्राण चार प्रकार का है—(१) परारजा त्मक कारण म प पदार्थ अपने नियत रूप में रहते हैं। (२) आग्नय जो विशकलन करता ह। (३) साम्य जो पदार्था का घन बनाता ह। (४) आप्य जो पदार्थों को रूपान्तरित करता ह जस घास का दूध में रूपान्तरण।

मन असङ्ग है किन्तु प्राण भूत क साथ चिपक जाता है इसलिय प्राण व भूत अलग अलग नही रह सकते। यह प्राण मन का भी अपने म बाँध लता ह। इसलिय मन प्राणियों के शरीर स बँधा रहता है और विषयों म इधर उधर जान क पर भी प्राण का छोडकर नही जाता है। यद्यपि मन को बाँधा नही जा सकता तथापि प्राण मन का बाँध लता ह। प्राण दीपक के प्रकाश की तरह थाडे प्रदश म रहकर अधिक प्रदश में फैल सकता है।

प्राण मन की इच्छा स ही काई काम करता ह। यदि मन अपना व्यापार बन्द कर द तो प्राण भी स्वय कुछ नही करता। उदाहरणत यदि हम किसी पदार्थ को पकड कर सा जायें तो वह पदार्थ हमारे हाथ स छूट जाता ह क्याकि मन न काम बन्द कर दन पर प्राण भी अपना काम नही करता। सुषुप्ति में केवल सत्त्वमन अपना काम करता रहता ह इसीलिय श्वास—प्रश्वास अपने कार्यों को नही छोडते। वायु का चलना आदि कर्म भी ईश्वर क मन की प्ररणा स हात है। जगत् का सारा परिवर्तन ईश्वर की इच्छा से हा रहा ह। जब हमर्म सारे परिवर्तन हमारी इच्छा से होते हैं ता यह भी मानना पडेगा कि जगत् में होने वाले परिवर्तन भी किसी की इच्छा से हाते हैं। जिसकी इच्छा स जगत् क य परिवर्तन हात ह वही ईश्वर ह। मन भल ही साता आर जागता हा प्राण कभी सोता नही। मन थक जाता है प्राण नही थकता। मन की थकावट स ही हमें प्राण की थकावट प्रतीत होती है। इसी कारण मन म उत्साह हाने क कारण जिनका मन नही थकता है वे अल्पप्राण होने पर भी उन लागों स अधिक काम कर लेते हैं जो महाप्राण तो हैं पर अरुचि के कारण जिनका मन जल्दी थक जाता है।

प्रशस्तपाद न कर्म की उत्पत्ति की यह प्रक्रिया बतायी ह—पहल इच्छा हाती ह फिर तदनुकूल प्रयत्न फिर क्रिया। यह प्रयत्न ही प्राण है। प्राण सर्वव्यापक है। अग्नि प्राण गतिशील है। उस वायु कहते हैं। सोम प्राण स्थितिशील ह उस आकाश कहते हैं। यही यत् और जू ह यही अग्नि आर साम है। बलों की न्यूनाधिकता स प्राण अनक प्रकार के हा जात ह। इनमें मुख्य प्राण ऋषि कहलात हैं। इन प्राणों का अग्नि स प्रकट हुआ कहा जाता है तथा य अङ्गिरा के पुत्र बतलाय जात हैं—

विरूपास इदृषयस्त इद् गम्भीरवेपस।
त अङ्गिरस सूनवस्त अग्नेः परिजज्ञिरे। (ऋग्वद १० ६२ ५)

विशष बात यह ह कि प्राण ब्रह्म में विकार उत्पन्न नही करता ह। जिस हम यहा प्राण कह

रहे हैं वेदान्ती उसे माया साङख्य उसे प्रकृति न्यायवैशेषिक अदृष्ट तथा विज्ञान ऊर्जा कहता है। मुख्य अन्तर यह है कि विज्ञान ऊर्जा और पदार्थ अर्थात् प्राण और वाक् की चर्चा तो करता है किन्तु मन विज्ञान के क्षेत्र से बाहर छूट जाता है। इसीलिये रस रूप ब्रह्म विज्ञान के क्षेत्र में नहीं आता।

प्राण

सामान्यतः प्राण शब्द प्र उपसर्ग पूर्वक अन् धातु से निष्पन्न माना गया है। जिसके द्वारा मन प्राणवान् है वही प्राण है—*तद्यत्प्राणेत तस्मात्प्राण* (जैमिनीय ब्राह्मण २ ५ ७)। किन्तु शतपथ ब्राह्मण में प्राण की एक दूसरी व्युत्पत्ति भी दी है। प्राण का प्राणत्व यह है कि प्राण द्वारा अन्न आत्मा में धारण किया जाता है—*यद्वै प्राणेनान्नमात्मन् प्रणयते तत्प्राणस्य प्राणत्वम्* (शतपथ ब्राह्मण १२ ९ १ १४)। वस्तुतः अन्न का आत्मा में धारण किया जाना ही हमारे जीवित रहने का कारण है इसलिये उपर्युक्त प्राण शब्द के दोनों अर्थों में तात्त्विक भेद नहीं है।

प्राण ही अक्षय अथवा अमृत है—*अक्षीय वा अमृतमत प्राणा* (काण्व शतपथ ३ १ ११ ६)। सब प्राण के सहारे रहते हैं इसलिए प्राण ही श्री है—*अथ यत्प्राणा अश्रयन्त तस्माद् प्राणा श्रिय* (शतपथ ब्राह्मण ६ १ १ ४)। प्राण निरन्तर गतिशील रहते हैं—*अध्रुव वै तद् यत् प्राण* (शतपथ ब्राह्मण १० २ ६ १९)। षड्विंश कहता है प्राण सदा उद्यत रहते हैं—*उद्यत इव हि अय प्राण* (षड्विंश ब्राह्मण २ २)। प्राण ही यह सब कुछ बना है—*प्राणा वा इद सर्वमभवत्* (जैमिनीय ब्राह्मण ३ ३७७)। यदि कोई जानना चाहे कि एक देवता कौन सा है तो उत्तर होगा कि प्राण ही एक देवता है—*कतमैका देवतेति प्राण इति* (जैमिनीय ब्राह्मण २ ७७)। प्राण से अधिक प्रिय कुछ भी नहीं है—*न वै प्राणात् प्रिय किञ्चनास्ति* (जैमिनीय ब्राह्मण १ २७२)। एक प्राण ही समस्त अंगों की रक्षा करता है—*एक प्राण सर्वाण्यङ्गान्यवति* (तैत्तिरीय संहिता ७ ५ ८ ५)।

प्राण से केवल मनुष्य और पशु ही नहीं देवता भी जीवित रहते हैं—*प्राण वा देवा अनु प्राणन्ति मनुष्या पशवश्च* (तैत्तिरीयारण्यक ८ ३ १)। प्राण ही ज्येष्ठ है प्राण ही श्रेष्ठ है—*प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च* (शतपथ ब्राह्मण १४ ९ २ १)। जैमिनीय ब्राह्मण का कहना है कि प्राण अन्तिम है—*प्राणोऽन्त्यम्* (जैमिनीय ब्राह्मण १ ३०९)। प्राण में शरीर प्रतिष्ठित है। शरीर में प्राण प्रतिष्ठित है—*प्राणे शरीर प्रतिष्ठित शरीरे प्राण प्रतिष्ठित* (तैत्तिरीयारण्यक ७ ९ १)। प्राण से ही यज्ञ का विस्तार होता है—*प्राणेन यज्ञ सन्तत* (मैत्रायणी संहिता ४ ६ २)। प्राण मधु है—*प्राणो वै मधु* (शतपथ ब्राह्मण १४ १ ३ ३०)।

पाप प्राण को छू भी नहीं पाता—*न पाप्मा नाऽन्वसृज्यत*। न ह्येतेन प्राणेन पाप वदति न पाप ध्यायति न पाप पश्यति न पाप शृणोति न पाप गन्धमपानिति। *तेनाऽपहत्य मृत्युमपहत्य पाप्मान स्वर्गं लोकमायन्* (जैमिनीयोपनिषद् २ १ १ १९ २०)। जिस प्रकार क्षत्रिय सबकी रक्षा करता है उसी प्रकार प्राण सबकी रक्षा करता है—*प्राणो हि वै क्षत्र त्रायते हैन प्राण क्षणितो* (शतपथ ब्राह्मण १४ ८ १४ ४)। प्राण सभी भूतों के लिए हितकर है—प्राणो हि सर्वेभ्यो भूतेभ्यो हित। जो भी सत्य है वह प्राण है—*यत्सत्यमिति प्राण स* (जैमिनीय ब्राह्मण ३ ३६०)। प्राण महान्

है—*प्राण एव महान्* (शतपथ ब्राह्मण १० ३ ५ ४) । प्राण रक्षक है। वह स्वयं नष्ट न होता हुआ सबकी रक्षा करता है—*प्राणो वै गोपा स हीदं सर्वमनिपद्यमानो गोपायति* (जैमिनीयोपनिषद् ३६९२) ।

प्राण में ही सर्वभूत रत रहते हैं—*प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रतानि* (शतपथ ब्राह्मण १४८१३) । प्राण विश्व की ज्योति है—*प्राणो वै विश्वज्योति* (शतपथ ब्राह्मण ७४२२८) ।

हमने ऊपर कहा कि प्राण ही एक देवता है। वस्तुतः सभी देवता प्राण हैं—*प्राणा देवा* (शतपथ ब्राह्मण ७५२१) । अपि च (तैत्तिरीय संहिता ६१४५ काठक संहिता २७१) । अग्नि भी प्राण है—अग्निर्वै प्राण । आहवनीय गार्हपत्य अन्वाहार्य पचन—ये सभी अग्निया प्राण हैं—*ते वा एते प्राणा एव यदग्नय* (शतपथ ब्राह्मण २२२१८) । यदि पार्थिवदेव अग्निप्राण है तो अन्तरिक्ष का देव वायु अथवा इन्द्र भी प्राण है—*वात प्राण* (तैत्तिरीय संहिता ७५२५१) ।

द्युलोक का देव आदित्य भी प्राण है—*आदित्य प्राण* (तैत्तिरीय संहिता १५२५४) । अपि च *आदित्यो वै प्राण* (जैमिनीयोपनिषद् ३१४९) । *प्राणो ह्येष तपति*—(एतरेयारण्यक २२१३) ।

इस प्रकार पार्थिव आन्तरिक्ष्य तथा दिव्य सभी देवता प्राणरूप हैं।

प्राण का विशेष सम्बन्ध आन्तरिक्ष्य वायु अथवा इन्द्र रुद्र से है—*अन्तरिक्षदेवत्यो हि प्राण* (तैत्तिरीय संहिता ६४५५) । वस्तुत यथा पिण्ड तथा ब्रह्माण्डे के सिद्धान्तानुसार आधिदैवत और अध्यात्म में परस्पर तालमेल है। जो देवों में वायु है वह मनुष्यों में प्राण है। जो देवों में आदित्य है वह मनुष्यों में चक्षु है। जो देवों में दिशा है वह मनुष्यों में श्रोत्र है। जो देवों में पृथिवी है वह मनुष्यों में वाक् है—प्राणो व मनुष्यधूर्वायुर्देवधू ।...चक्षुर्वै मनुष्यधूरादित्यो देवधू ।...*श्रोत्रं वै मनुष्यधूर्दिशो देवधू । वाग्वै मनुष्यधू पृथिवी देवधू* (जैमिनीय ब्राह्मण १२७०) । पुरुष में रहने वाले दस प्राण ही रुद्र हैं ग्यारहवीं आत्मा है। ये जब निकलते हैं तो मनुष्य को रुलाते हैं इसलिए ये रुद्र कहलाते हैं—*कतमे ते रुद्रा इति दश पुरुषे प्राणा इति होवाच । आत्मैकादशस्ते यदोत्क्रामन्तो यन्ति अथ रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति* (जैमिनीय ब्राह्मण २७७) । जिस प्रकार प्राण का सम्बन्ध वायु से तथा रुद्र से है उसी प्रकार इन्द्र से है—*ऐन्द्र खलु वै देवतया प्राण* (तैत्तिरीय संहिता ६३११२) ।

प्राण का वायु से सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि प्राय सभी ब्राह्मण ग्रन्थों ने इसे दोहराया है—*प्राणो वै वायु* । (तैत्तिरीयसंहिता २११२ मैत्रायणीसंहिता २५१ ३४३ ४५८ ६२ काठकसंहिता २१३ कौषीतकिब्राह्मण ५८ १३५ गोपथब्राह्मण २१२६ जैमिनीयब्राह्मण २१३७ १८४ १९७३८९३२२७ ताण्ड्यब्राह्मण ४६८ शतपथब्राह्मण ४११५ ६२२६) । इसलिए प्राण से वायु प्रसन्न की जाती है—*वातं प्राणेन (प्रीणामि)* (मैत्रायणीसंहिता ३१५२) । प्रजापति ही वायु बनकर प्रजा में प्राण बना—*वायुर्भूत्वा (प्रजापति) प्रजानां प्राणोऽभवत्* (जैमिनीय ब्राह्मण १३१४) ।

विवक्षा की दृष्टि से प्राण के अनेक प्रकार हैं। जैमिनीयोपनिषद् में उन सब विवक्षाओं को एकत्र सङ्कलित किया गया है। एक प्राण की अपेक्षा उसका नाम प्राण है। दो होने पर वही प्राण अपान हो जाता है। तीन होने पर प्राण अपान व्यान चार होने पर प्राण अपान व्यान समान पाँच होने पर प्राण अपान व्यान समान अवान छ होने पर प्राण अपान व्यान समान अवान उदान सात होने पर एक मुख दो नासिका पुट दो कान और दो चक्षु इस प्रकार सात शीर्षस्थ प्राण होते हैं। इन्हीं सात में दो अवाक् अर्थात् मूत्र स्थान और मल स्थान जोडने पर नौ प्राण हो जाते हैं तथा इन्हीं में नाभि जोडने पर दस प्राण होते हैं। सारी प्रजा प्राण ही हैं। इसलिए प्राण अनेक हैं।

जैमिनीयब्राह्मण में नौ प्राणों का भी उल्लेख है—*ते पुनर्नव भवन्ति* (जैमिनीय ब्राह्मण १ ३७)। गोपथब्राह्मण तथा शतपथब्राह्मण में तेरह प्राणों का उल्लेख है—*त्रयोदश इमे पुरुषे प्राण* (गोपथ १५.५)। ऊपर हम कह चुके हैं कि दस प्राण और एक आत्मा को मिलाकर ग्यारह रुद्र बनते हैं। ऐतरेय आरण्यक में बारह प्राण गिनवाये हुए हैं सात शीर्षण्य दो स्तन्य तथा तीन अवाक् (मूत्र द्वार मलद्वार तथा वीर्य द्वार) प्राण गिनवाये गए हैं (ऐतरेयारण्यक १ ५ १)। शतपथ ब्राह्मण ने इसी में नाभि को जोडते हुए तेरह प्राण कहे हैं—*नाभिस्त्रयोदशी* (शतपथ ब्राह्मण १२ ३ २ २)।

शतपथब्राह्मण में पाँच शीर्षण्य प्राणों का उल्लेख करते हुए मन वाक् प्राण चक्षु और श्रोत्र को गिनवाया है। वस्तुत प्राण सारे शरीर में सञ्चरण करता है—*सोऽयं प्राण सर्वाण्यङ्गान्यनुसञ्चरति* (शतपथ ब्राह्मण १ ३ २ ३)। ऊपर हमने जो प्राणों की संख्या और नाम गिनवाये हैं ये प्राण के केन्द्र हैं।

वाक् प्राण और मन—आत्मा के ये तीन मनोता हैं और ये तीनों सदा साथ रहते हैं। प्राण और वाक् का इतना गहरा सम्बन्ध है कि मैत्रायणीसंहिता में दोनों का तादात्म्य मान लिया गया है—*प्राणो वै वाक्* (मैत्रायणीसंहिता ३ २ ८)।

शतपथब्राह्मण कहता है वाक् और प्राण का जोडा है—*वाक् च प्राणश्च मिथुनम्* (शतपथ ब्राह्मण १ ४ १ २)। ऐतरेय आरण्यक वाक् प्राण और मन के पारस्परिक सम्बन्ध को बताते हुए कहता है वाक् पूर्वरूप अर्थात् स्थूल है मन उत्तररूप अर्थात् सूक्ष्म है। प्राण इन दोनों को जोडने वाली बीच की कडी है—*वाक् पूर्वरूप मन उत्तर रूप प्राण संहिता* (ऐतरेयारण्यक ३ १ १)। ऐतरेय आरण्यक इसी बात को आगे बढाते हुए कहता है कि वाक् प्राण से ही जुडी हुई है—*वाक् प्राणेन संहिता* (ऐतरेयारण्यक ३ १ ६)। जैमिनीयब्राह्मण का कहना है कि वाक् अक्षर है प्राण उसी की रश्मि है—*वागक्षर तस्यैव प्राण एवाशु* (जैमिनीय ब्राह्मण १ ११५)। शतपथब्राह्मण का कहना है वाक् कर्म है प्राण वाक् का पति है—*वाग्वा इद कर्म प्राणो वाचस्पति* (शतपथ ब्राह्मण ६ ३ १ १ ९)। प्राण से ही वाक् का विस्तार होता है—*प्राणैर्वाक् सन्तता* (जैमिनीय ब्राह्मण ३ ११९)। वाक् माता है प्राण पुत्र है—*वाग्वै माता प्राण पुत्र* (ऐतरेयारण्यक ३ १ ६)। प्राण वाक् का सत्य है—*वाच सत्य यत्प्राण* (जैमिनीय ब्राह्मण २ ४२५)। जैमिनीयब्राह्मण वाक् और प्राण के मिथुन को दिव्य मिथुन बताता है—*तद्वै दिव्य मिथुन यद् वाक् च प्राणश्च* (जैमिनीय ब्राह्मण

१ ३०F) । सब प्राण वाक् में प्रतिष्ठित है—*सर्वे प्राणा वाचि प्रतिष्ठिता* (शतपथ ब्राह्मण १२ ८.२ २५) । प्राण वाक् का रस है—*तस्या प्राण एव रस* (जैमिनीयोपनिषद् १ १ ७) ।

प्राण का मन से इतना गहरा सम्बन्ध है कि षडविंशब्राह्मण में मन को प्राणों का अर्धभाग बताया गया है—*अर्धभाग्वै मन प्राणानाम्* (षड्विंश ब्राह्मण १ ५) । शतपथब्राह्मण के अनुसार प्राण मन से ही उत्पन्न होते हैं और मन से ही जुडे हैं—*इमे वै प्राणा मनोजाता मनोयुज* (शतपथ ब्राह्मण ३ २ २ १ ३) । मन प्राण में एकीभूत होकर प्रतिष्ठित है—*मन इद सर्वमेक भूत्वा प्राणे प्रतिष्ठितम्* (जैमिनीय ब्राह्मण ३ ३७१) । मन ही प्राणों को धारण किये हैं—*मनसा हि प्राणो धृत* (काठक संहिता २७ १) । मन से ही प्राण प्राप्त होते हैं—*मनसैव प्राणमाप्नोति* (मैत्रायणी संहिता ४.५.५) ।

प्राण मन के पीछे चलता है—*मनो वा अनुप्राणा* (जैमिनीय ब्राह्मण १ १६) । मन प्राणों का अधिपति है। मन में ही सब प्राण प्रतिष्ठित हैं—*मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणा प्रतिष्ठिता* (शतपथ ब्राह्मण १४.३ २ १) । वस्तुत प्राण बीच में रहकर वाक् और मन दोनों को स्पर्श करता है—*प्राणेनैव वाक् च मनश्चाभिहिते* (जैमिनीय ब्राह्मण १ १९) । इस प्रकार प्राण वाक् और मन को जोडने वाली रज्जु है—*प्राणो रज्जु* (जैमिनीय ब्राह्मण १ १९) ।

प्राणों के भेद

प्राण से भूत उत्पन्न होता है। प्राण और भूत मिलकर देव कहलाते हैं। ये देवता प्राण रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं। जिन प्राणियों में वे विशेष रूप हैं वे प्राणी भी उन्हीं प्राणों से जाने जाते हैं। जिन मह नक्षत्रों में वे हैं वे भी इसी नाम से जाने जाते हैं और जिन ऋषियों ने इनका साक्षात्कार किया वे भी इन्हीं नामों से जाने जाते हैं।

सभी प्राणों का आयतन मण्डलाकार है किन्तु इन्द्र के द्वारा फैलाये गये प्राण अर्द्धवृत्ताकार हैं। ये दो प्रकार के हैं—आग्नेयप्राण और सौम्यप्राण। ये दोनों मिलकर ही पूर्ण होते हैं। इन्हीं से सृष्टि उत्पन्न होती है।

पुरुषसूक्त में प्राण के ५ भेद बताये हैं—पुरुष अश्व गौ अज और अवि—

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादत ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावय ॥

तारामण्डल में भी सप्त ऋषि में ४ आत्मा रूप में हैं दो पक्ष रूप में और एक पुच्छ रूप में हैं। इनके नाम हैं—१ मरीचि २ वसिष्ठ ३ अङ्गिरा ये तीन त्रिकोण में तथा ४ अत्रि ५ पुलस्त्य ६ पुलह ७ क्रतु ये चार चतुष्कोण में। जिन्होंने इन प्राणों का दर्शन किया वे मनुष्य भी इन्हीं नामों से जाने जाने लगे।

इन ऋषियों के बारे में पुराण की अनेक कथाएं प्रतीकात्मक हैं। उनका शब्दार्थ लेना भ्रान्ति होगी। उदाहरणत यह कहा गया है कि अगस्त्य ऋषि ने समुद्र पी लिया। यह अगस्त्यनक्षत्र वर्षा के अन्त में दिखाई देता है इसलिए इसके उदित होने पर अन्तरिक्ष का समुद्र सूख जाता है और

यही इसके द्वारा समुद्र का पी लिया जाना है।

तीन गुणों के तारतम्य से ही पाँच प्राण बनते हैं। जो परारज है वह ऋषि प्राण है। उसका सम्बन्ध स्वयम्भू से है। रज प्रवृत्तिपितृप्राण का सम्बन्ध परमेष्ठी में है। रजोभावात्मक देवप्राण सूर्य में जुड़ा है। रजस्तमात्मक पशुप्राण चन्द्रमा से जुड़ा है तथा तमःप्रधान भू प्राण पृथ्वी से जुड़ा है।

ये ही पाँचों प्राण आप वाक् अन्न तथा अन्नाद कहलाते हैं तथा इनका सम्बन्ध क्रमशः ब्रह्मा विष्णु इन्द्र सोम और अग्नि से है। इन पाँच प्राणों का उल्लेख उपनिषद् इन शब्दों में करता है—

पञ्चस्रोतोम्बु पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्च दुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः (श्वेताश्वतरोपनिषद् १/५)।

ऊपर कहा जा चुका है कि प्राण क्रिया है। यह क्रिया सङ्कोच और प्रसार के रूप में होती है। वेद में इसे एति प्रति कहा जाता है। जब तक प्राण का आवागमन है तभी तक जीवन है। विश्व का अणु मात्र भी स्पन्दन से रहित नहीं है इसलिये जगत् में निष्प्राण कुछ भी नहीं है और क्योंकि जहाँ जहाँ प्राण है वहाँ वहाँ प्रज्ञा है इसलिये संसार में जड़ भी कुछ नहीं है। प्राण प्रतिक्षण क्रियाशील है उसमें रूप रस आदि नहीं है। वह पदार्थ को धारण करता है। वह सदा भूत में रहता है। वह परमाणुओं से जुड़ता है वह मन को भी बाँध लेता है वह थोड़े स्थान में रहकर अधिक स्थान घेरता है। प्राण के सब व्यापार मन से ही होते हैं। मन जागता सोता है किन्तु प्राण न कभी थकता है न कभी सोता है। यह जहाँ अधिक होता है वहाँ से जहाँ कम होता है वहाँ चला जाता है। तीन लोकों में पृथ्वी का देवता अपान अग्नि है वायु का व्यान अग्नि और आदित्य का प्राण अग्नि।

प्राण ही मन में और वाक् में क्रिया के द्वारा इच्छा और अर्थ को सक्रिय बनाता है। प्राण के साहचर्य से मन सीमित हो जाता है। मन रस रूप है प्राण बल रूप। मन अपरिच्छिन्न है। प्राण उसे परिच्छिन्न करता है। प्राण अनन्त हैं इसलिये वे पूरे मन में व्याप्त रहते हैं। प्राणों में प्रवाहनित्यता है।

वाक्

वाक् स्थान रोकती है। उसमें विकार होता है। वह प्राण को ग्रहण करती है और छोड़ देती है। उसका केन्द्र होता है। वह मूर्त है। वाक् स्थानावरोधक है अतः जब तक एक वाक् अपना स्थान न छोड़े दूसरी वाक् वहाँ नहीं आ सकती। वाक् के विकार के कारण वह अपना स्वरूप बदल देती है उदाहरणतः घास दूध बन जाती है। वाक् एक प्राण को छोड़ कर दूसरा प्राण ग्रहण कर लेती है। वाक् दिक् देश और काल से परिच्छिन्न होती है। वाक् का अपना वैशिष्ट्य होता है जिसके कारण एक वाक् दूसरी वाक् से भिन्न होती है।

मन और प्राण वाक् के द्वारा ही अभिव्यक्त होते हैं। इसलिये यह कहा गया है कि वाक्

ही सब पदार्थों का आधार है।

वाक् के चार भेद हैं (१) परा बुद्धिस्थ है। (२) मानसजपस्वरूप पश्यन्ती है। (३) नाद ध्वनिगर्भित मध्यमा है तथा (४) नादध्वनि से पूर्ण वैखरी है। मनुष्य वैखरीवाणी का ही प्रयोग करता है। वाक् इन्द्र है। इन्द्र के बिना कुछ भी पवित्र नहीं है अतः वाक् के बिना कुछ भी पवित्र नहीं है।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल का १२५ वां सूक्त वाक्सूक्त कहलाता है जिसमें स्वयं वाक् ही अपनी महिमा बताती है। इस सूक्त के चौथे मन्त्र में वाक् कहती है—जो देखता है जो प्राण व्यापार करता है तथा जो कथित वक्तव्य को सुनता है वह मेरे द्वारा ही अन्न को खाता है। आपाततः वाक् का यह कहना कि सब मेरे द्वारा अन्न खाते हैं बहुत अटपटा लगता है किन्तु यदि हम ब्राह्मण ग्रन्थों के वक्तव्यों पर दृष्टि डालें तो इस वक्तव्य का वैज्ञानिक रहस्य सामने आता है। जैमिनीय ब्राह्मण कहता है—वाक् के द्वारा दो कार्य होते हैं—इसके द्वारा अन्न खाया जाता है और बोला जाता है—*द्वय वाचा करोति अन्न चैनयाति वदति च* (**जैमिनीयब्राह्मण १ २५४**)। वाक् द्वारा बोलना तो समझ में आता है किन्तु अन्न खाना समझ में नहीं आता। इसको समझने के लिए ब्राह्मणग्रन्थों के उन वक्तव्यों को सामने रखना होगा जो वाक् का अग्नि से तादात्म्य बताते हैं। जैमिनीयब्राह्मण कहता है—*अग्निर्वै वाक्* (२ ५८)। शतपथब्राह्मण भी कहता है—*वागेवाग्नि* (३ २ २ १३)। गोपथ भी इसका समर्थन करता है—*या वाक् सोऽग्नि* (**गोपथ २ ४ ११**)। ऐतरेय आरण्यक इसी क्रम को आगे बढाते हुए कहता है अग्नि ही वाक् बनकर मुख में प्रविष्ट हो गयी। जडपिण्ड हो या चेतन सब में वैश्वानर अग्नि है। यह वैश्वानर अग्नि ही अन्न को पचाती है—*येनेद अन्न पच्यते* इसी वैश्वानर अग्नि के लिए गीता में कहा है—*अहं वैश्वानरो भूत्वा पचाम्यन्न चतुर्विधम्।* प्रश्न होता है कि वाक् तो सामान्यतः शब्द है फिर इसे अग्नि कैसे कहा गया? ब्राह्मणग्रन्थ समाधान करते हैं कि दोनों कर्णविवरों को अङ्गुलियों से बन्द कर लेने पर जो शब्द सुनाई पडता है वह इस वैश्वानर अग्नि का ही है। अतः अग्नि का वाक् से तादात्म्य मानना युक्त ही है। यह अग्नि केवल चेतन कहे जाने वाले पिण्डों में ही नहीं जड पदार्थों में भी है। यदि जड पदार्थों में यह अग्नि न हो तो उनमें आदान विसर्ग की क्रिया ही न हो और ये पदार्थ कूटस्थ हो जायें किन्तु कोई भी पदार्थ कूटस्थ दृष्टिगोचर नहीं आता। यह इस बात का सूचक है कि इनमें आदान विसर्ग की क्रिया हो रही है। यह आदान विसर्ग की क्रिया उस पदार्थ में स्थित वैश्वानर अग्नि के कारण ही है। यही अग्नि पदार्थ में निरन्तर परिवर्तन कर रही है। तैत्तिरीयब्राह्मण कहता है—*योऽग्निर्मृत्यु सोऽग्निर्वागेव सा* (**जैमिनीय ब्राह्मण १ २४९**)। वैदिक भाषा में मृत्यु परिवर्तन का सूचक है अमृत कूटस्थता का कारण है। प्रत्येक पदार्थ में इस वैश्वानर अग्नि के कारण कुछ परमाणु आकर पदार्थ का अङ्ग बन जाते हैं। यही अन्न का पचना है। कुछ परमाणु इसी अग्नि के कारण विशीर्ण होकर पदार्थ से अलग हो जाते हैं। यही मृत्यु है। पदार्थ का आदान विसर्ग ही अग्निहोत्र है। यह अग्निहोत्र मृत्यु है। यह अग्निहोत्र प्रत्येक पिण्ड में चल रहा है। यदि यह अग्निहोत्र न चले तो पिण्ड में परिवर्तन ही न हो। इस अग्निहोत्र को करने के कारण वाक् अग्निहोत्र कहलाती है—*वाग् वा अग्निहोत्री* (**जैमिनीय ब्राह्मण १ १९**)। वैश्वानर अग्नि पिण्ड में रहकर

धारी और फल हुए आपोलोक से शक्ति का आह्वान करता है। इसीलिए उसे होता कहा जाता है। अधिदेव में जिसका नाम अग्नि है अध्यात्म में उसी का नाम वाक् है—*अग्निर्वै होता अधिदेवम् वाग् अध्यात्मम्* (शतपथ १२ १ १ ४)। अर्थात् होता अथवा शक्ति के आह्वान करने का जो कार्य अग्नि कर रहा है। वैश्वानर के रूप में अध्यात्म में यही कार्य वाक् कर रही है। अग्नि का यही रूप जो शक्ति का आह्वान करता है रुदन करने के कारण रुद्र भी कहलाता है—*रुद्रो अग्नि* (काठक संहिता ११ ५) तथा *सोऽरोदीत् यद्रो अस्य एतन्नाम रुद्र इति* (मैत्रायणी संहिता ४ २ १२)। इसी पृष्ठभूमि में तैत्तिरीय आरण्यक कहता है कि अन्न वाक् के लिए है—*वाचे अन्नम्* (तैत्तिरीयारण्यक ३ १० ३)।

आत्मा की घटक वाक्

शतपथब्राह्मण के अनुसार आत्मा के तीन घटक हैं—मन प्राण और वाक्। इनमें पूर्व की अपेक्षा पर स्थूल हैं अर्थात् मन से प्राण स्थूल है प्राण से वाक् स्थूल है। यह सूक्ष्म स्थूल और स्थूलतर का त्रिक त्रयी के समकक्ष है। यजुर्वेद कहता है—*ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजु प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये* (यजुर्वेद ३६.१)। मन प्राण वाक् के त्रिक् का ऋक् यजु साम की इस त्रयी से तादात्म्य सम्बन्ध होने के कारण त्रयीविद्या के सभी त्रिक मन प्राण वाक् से जुड़े हैं। उदाहरणत वाक् यदि अग्निदेव से जुड़ी है तो प्राण वायु से जुड़े हैं—*अय वै प्राणो योऽयं पवते* (शतपथ ब्राह्मण ५ २ ४ १०) तथा मन सविता से जुड़ा है—*मन एव सविता* (गोपथ ब्राह्मण १ १ ३३)। गीता के अव्यय अक्षर और क्षर क्रमश मन प्राण वाक् से जुड़े हैं।

सूक्ष्म होने के कारण मन असीम है तो स्थूल होने के कारण वाक् सीमित है *अपरिमिततरमिव हि मन परिमिततरेव हि वाक्* (शतपथ ब्राह्मण १ ४ ४-७)। सूक्ष्म से स्थूल पैदा होता है इसलिए मन से वाक् उत्पन्न होती है—*मनसो हि वाक् प्रजायते* (जैमिनीय ब्राह्मण १ ३२०)। मन पहले है वाक् बाद में—*मनो वै पूर्वम् अथ वाग्* (जैमिनीय ब्राह्मण १ १२८)। इस प्रकार वाक् और मन का मिथुन है—*वाक् च वै मनश्च देवाना मिथुनम्* (ऐतरेय ब्राह्मण ५ २३)। वाक् और मन का परस्पर इतना गहरा सम्बन्ध है कि जैमिनीय उपनिषद् में वाक् को ही मन कह दिया गया है—*वागिति मन*। स्थूल होने के कारण वाक् मन की अपेक्षा छोटी है—*वाग् वै मनसो ह्रसीयसी*। (शतपथ ब्राह्मण १ ४ ४-७)। वाक् यदि समुद्र है तो मन मानो उस समुद्र को देखने के लिए चक्षु है—*वाग् वै समुद्रो मन समुद्रस्य चक्षु* (ताण्ड्य ब्राह्मण ६ ४-७)।

प्राण मन की अपेक्षा वाक् के और भी निकट हैं क्योंकि वे इतने सूक्ष्म नहीं हैं जितना मन। शतपथब्राह्मण वाक् और प्राण का मिथुन बताता है—*वाक् च वै प्राणश्च मिथुनम्* (शतपथ ब्राह्मण १ ४ १ २)। जैमिनीयब्राह्मण वाक् और प्राण के इस मिथुन को दिव्यमिथुन बताता है—*तद् वै दिव्य मिथुन यद् वाक् च प्राणश्च* (जैमिनीय ब्राह्मण १ ३०६)। वस्तुत ऐतरेय आरण्यक का कहना है कि प्राण ही वाक् का जोड़ रहता है—*वाक् प्राणेन संहिता* (ऐतरेय आरण्यक ३ १ ६)। इसलिए जैमिनीय उपनिषद् में प्राणों को वाक् का रस बताया है—*तस्यै प्राणो एव रस* (जैमिनीय उपनिषद् १ १ १-७)। जिस प्रकार वाक् और मन के घनिष्ठ सम्बन्ध को देखकर मन को ही वाक्

कह दिया गया था उसी प्रकार प्राण और वाक् के घनिष्ठ सम्बन्ध को देखकर प्राण को ही वाक् कह दिया गया था—*प्राणो व वाक्* (मैत्रायणीसंहिता ३ २ ८) । प्राण वाक् का पति है—*प्राणो वाचस्पति* (शतपथ ब्राह्मण ६ ३१ १८) प्राण ही वाक् का विस्तार कर रहा है—*प्राणैर्वाक् सन्तता* (शतपथ ब्राह्मण ३ १ १८) । प्राण वाक् और मन को जोडने वाली कडी है—*वाक् पूर्वरूपम् मन उत्तररूपम् प्राण संहिता* (एतरय आरण्यक ३ १ १) । अभिप्राय यह है वाक् स्थूल है मन सूक्ष्म है प्राण न मन जितना सूक्ष्म है। न वाक् जितना स्थूल। इसलिए प्राण वाक् और मन दोनों का परस्पर जोडने में कडी का काम देता है। वाक् मानों गा है प्राण उसका गर्भ—*वागस्य जन्मना वशा सा प्राण गर्भमधत्त।* (तैत्तिरीय संहिता २ १३ १५) ।

प्रजापति वाक्

तैत्तिरीयब्राह्मण वाक् को प्रजापति बताता है—*प्रजापतिर्वाक्* (तैत्तिरीय ब्राह्मण १ ३ ४ ५) । जिस प्रकार प्रजापति दो प्रकार का है उसी प्रकार वाक् भी दो प्रकार की है—निरुक्त और अनिरुक्त। वस्तुत वाक् प्रजापति की ही तो महिमा है—*वाग्वा अस्य प्रजापति स्वो महिमा* (शतपथ ब्राह्मण (२ २ ४ ४) । सर्जन के लिए दो भी आवश्यक है पिता और माता। प्रजापति पिता है और वाक् माता है। *प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत्। तस्य वाग् द्वितीया आसीत् त मिथुन समभवत्। सा गर्भमधत्त।* (ताण्ड्य ब्राह्मण २० १४ २) । यदि प्रजापति सर्वव्यापक है—*सर्वं वै प्रजापति* (शतपथ ब्राह्मण १ ३ ५ १०) तो वाक् भी विराट है—*वाक् वै विराट* (शतपथ ब्राह्मण ३ ५ १ ३४) । जिसे परवर्ती दर्शन में पुरुष और प्रकृति युगल कहा गया है। वैदिक परिभाषा में वही प्रजापति और वाक् का मिथुन है। प्रकृति पञ्चभूतात्मक है। पञ्चभूतों में आकाश भौतिक होते हुए भी नित्य ब्रह्म के निकटतम है। आकाश का गुण होने के कारण शब्द आकाश में सर्वव्यापक है। कण्ठादि उच्चारणस्थानों के द्वारा वायु के संघर्षण में उत्पन्न होने वाला शब्द भी उसी शब्द की अभिव्यक्ति है जो परिमित है व्यक्त है मर्त्य है मूर्त है और अनित्य है। यही वाक् वेदान्तदर्शन की वह माया है जो असीम को ससीम बनाती है अव्यक्त को व्यक्त बनाती है अनिरुक्त को निरुक्त बनाती है। वाक् यदि व्यक्त है तो मन अव्यक्त है और प्राण व्यक्ताव्यक्त है। यही वाक् का त्रिवृत् रूप है—*त्रेधा विहिता हि वाक्* (शतपथ ब्राह्मण ६ ५ ३ ४) ।

जब भी दो मिलकर तीसरे को जन्म देते हैं तो उन दो को मिथुन कहा जाता है। इस दृष्टि से वाक् और प्राण भी मिथुन हैं वाक् और मन भी मिथुन हैं—*वाक्च वै प्राणश्च मिथुनम्* (शतपथ ब्राह्मण १ ४ १ २) *वाक्च वै मनश्च देवाना मिथुनम्* (ऐतरेय ब्राह्मण ५ २३) । षड्विंश ब्राह्मण वाक् को प्राण पत्नी बतलाते हैं। जब प्राण और वाक् मिथुन बनते हैं तो प्राण को ऋषभ वाक् को गा और मन को वत्स बताया जाता है—*प्राण ऋषभो मनो वत्स* (शतपथ ब्राह्मण १४ ८ ६ १) । इसी दृष्टि से वाक् को गा कहा गया है—*गौर्वै वाक्* (मैत्रायणी संहिता ९ २ १) ।

पञ्चपर्वों में वाक्

विश्व के प्रथम पर्व स्वयम्भू में यही वाक् नित्य है। मनु ने कहा है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा विश्व के दूसरे पर्व परमेष्ठी में यह वाक् परमेष्ठिनी वाक् कहलाती है (अथर्ववेद १६ ८ ३) । इस वाक् को महिषी तथा राष्ट्री भी कहते हैं। *महिषी हि वाक्* (शतपथ ब्राह्मण ६ ५ ३ ४) तथा *वाग् वै राष्ट्री* (ऐतरेय ब्राह्मण १ ६) । महिषी और राष्ट्री पर्यायवाची हैं। दोनों का ही अर्थ सम्राज्ञी है—इस परमेष्ठिनी वाक् में शब्द और अर्थ में भेद नहीं है इसलिए शब्द यहाँ स्वर और व्यंजन के रूप में अभी निरुक्त नहीं हुआ है। इसे ही एकाक्षरावाक् कहा जाता है—*एकाक्षरा वै वाक्* (जैमिनीय ब्राह्मण २ ३१२) । इस एकाक्षरा वाक् का उदाहरण बृहदारण्यक उपनिषद में प्रजापति के द्वारा 'द' अक्षर का तीन बार उच्चारण करना है जिसका अर्थ देव मनुष्य तथा असुरों ने अपने अपने अभिप्राय के अनुसार लिया था (बृहदारण्यकोपनिषद् ५ २ १ ३) । यह परमेष्ठिनी वाक् सारदेवा द्वारा सारी वाक् में बदल दी गयी—*दैवी वाचमजयन्त देवास्ता विश्वरूपा पशवो वदन्ति* (ऋग्वेद ८ १०० ११) ।

यह देवी वाक् ही इन्द्र पत्नी है जहाँ वाक् के चटतप इत्यादि वर्णों में व्याकृत हो जाता है इसलिए संस्कृत के वैयाकरण इन्द्र को प्रथम वैयाकरण कहते हैं। वाक् का यह रूप यज्ञ है—*वाग् वै यज्ञ* (ऐतरेय ब्राह्मण ५ २) । यह वाक् का सूर्य के साथ सम्बन्ध होने का फल है—*युञ्जामि वाचं सह सूर्येण* (ताण्ड्य ब्राह्मण १ ७ १) । यहाँ वाक् देवताओं की मनोता बन गया—*वाक् वै देवानां मनोता*। विश्व के चौथे पर्व चन्द्रमा में रहने वाली वाक् सुब्रह्मण्या कहलाती है—*वाग्घ चन्द्रमा* (शतपथ ब्राह्मण ८ २-७) तथा *वाग् वै सुब्रह्मण्या* (ऐतरेय ब्राह्मण ६ ३) । स्वयम्भू व सूर्य और पृथिवी की वाक् अग्निप्रधान होने से ब्रह्म है तथा परमेष्ठी और चन्द्रमा की वाक् साम प्रधान होने से सुब्रह्म है—*वाग् वै ब्रह्म सुब्रह्म चेति* (ऐतरेय ब्राह्मण ६ ३) । तीन अग्निप्रधान और दो साम प्रधान इन—पाँच वाक् का संकेत ऋग्वेद में हो है—*त्र्यस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्* (ऋग्वेद १० २७ २३) । पृथिवी की वाक् अनुष्टुप् कहलाती है—*वाग्वा अनुष्टुप्* (मैत्रायणी संहिता २ ३-७) ।

सर्वराज्ञी वाक्

इस प्रकार वाक् पञ्चपर्वा विश्व में व्याप्त होने के कारण समुद्र कहलाती है—*वाक् वै समुद्र* तथा *न वै वाक् क्षीयते न समुद्रः क्षीयते* (ऐतरेय ब्राह्मण ५ १६) । वाक् अपने शुद्ध रूप में शक्ति रूप है जिसे आपः अथवा शरीर कहा जाता है—*वाग् वै सरिरम्* (शतपथ ब्राह्मण ७ ५ २ ३) । इस आपः में जब क्षोभ होता है तब वह सरिर अथवा सलिल कहलाने लगता है। यही वाक् का सर्पण है जिसके कारण वाक् सर्पराज्ञी कहलाती है—*वाग् वै सर्पराज्ञी* (कौषीतकिब्राह्मण २७ ४) ।

साहस्री वाक्

निदानविद्या में वाक् को साहस्री कहा जाता है क्योंकि सहस्र अनन्त का वाचक है—*वाग् वा एषा निदानेन यत् साहस्री* (शतपथ ब्राह्मण ४ ५ ८ ४) । ऋग्वेद में तीन सहस्रों का उल्लेख है—*त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्* (ऋग्वेद ६ ६९ ८) । ऐतरेयब्राह्मण इन तीनों सहस्रों की व्याख्या करते हुए कहता है कि लोक वेद और वाक् ये तीन सहस्र हैं अर्थात् तीन पदार्थ अनन्त हैं—*तदाहु कि तत् सहस्रमितीमे लोका इमे वेदा अथो वागिति* (ऐतरेय ब्राह्मण ६ १५) ।

सुपर्णी वाक्

वाक् को पक्षी बताया गया है—*वागेव सुपर्णी* (शतपथ ब्राह्मण ३ ६ २ २) । सुपर्णी शब्द दो पंखों का वाचक है। प्राणों का आकुञ्चन और प्रसारण ही वाक् के दो पंख हैं—*प्राणा वै समञ्चनप्रसारणे* (शतपथ ब्राह्मण ८ १ ४ १०) । बिना आकुञ्चन प्रसारण के कोई वाक् अथवा पिण्ड नहीं रह सकता।

वेद की वाक् सम्बन्धी चर्चा का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

परवर्ती दार्शनिक साहित्य में परावाक् कही जाने वाली वाक् स्वयम्भू की नित्यावाक् है जबकि पश्यन्ती वाक् परमेष्ठिनी अथवा आम्भृणी वाक् है। मध्यमावाक् पश्यन्ती और वैखरी के बीच की स्थिति है। वैखरीवाक् का प्रयोग हम सब करते हैं। वैखरीवाक् आकाश में उत्पन्न होती है—*विशेषण खम् = आकाश राति = ददाति*। अलंकारकौस्तुभ में परावाक् का सम्बन्ध मूलाधार से पश्यन्ती का हृदय से मध्यमा का बुद्धि से और वैखरी का मुख से जोड़ा गया है। बाद में काव्यशास्त्रियों ने परा का सम्बन्ध रस से पश्यन्ती का अर्थ से मध्यमा का छन्द से और वैखरी का शब्द से सम्बन्ध बनाया। इसी भाव को लेकर रामचरितमानस में तुलसीदास ने *वर्णानामर्थसङ्घानां रसानां छन्दसामपि* लिखा।

अक्षरपुरुष

अक्षर पुरुष में बल का संयोग होने पर भी हृद्ग्रन्थिबन्धन नहीं होता इसलिए इसमें क्षरण नहीं होता। यही प्राण है। तैत्तिरीयोपनिषद् में इसे सत्यविज्ञान आदि अनेक नामों से व्यवहृत किया गया है (तैत्तिरीयोपनिषद् २ १ १) । मुण्डकोपनिषद् कहता है—

यथा सुदीप्तात्पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति॥

(मुण्डकोपनिषद् २ १ १)

अक्षरपुरुष के दो भेद हैं—पर और सामान्य। सामान्य अक्षर पर अक्षर से उदित होते हैं और उसमें ही विलीन हो जाते हैं। अक्षरपुरुष सर्वज्ञ तथा शक्तिमान् है। इस अक्षरपुरुष से यथा सुदीप्तात् पावकात् श्रुति के अनुसार अनन्तभाव उदित होते हैं। अक्षरपुरुष में कोई क्षरण नहीं होता किन्तु यह जगत् का कारण बनता है। अक्षर अव्यक्त है। यह जब घनभाव में आता है तो व्यक्ताक्षर बन जाता है। यह क्षर अवर है अव्यय पर है अक्षर परावर है। इसलिये अक्षर को सेतु कहा जाता है।

अक्षर क्योंकि सदैव एक रूप रहता है इसलिए इसे कूटस्थ भी कहा जाता है। अक्षर समर्थ होने के कारण ईश्वर कहलाता है। अक्षर भोक्ता नहीं है निष्काम है। जिस प्रकार गृहस्थ कर्म करते हुए भी कर्मफल का भोक्ता नहीं बनता वही स्थिति अक्षर की है।

अक्षर की पाँच कलायें

अक्षर की पाँच कलाए है—ब्रह्मा विष्णु अग्नि इन्द्र और सोम। ब्रह्मा विष्णु और इन्द्र हृदय है अग्नि और सोम पृष्ठय। ब्रह्मा प्रतिष्ठा है। इन्द्र विक्षपणशक्ति है विष्णु यज्ञशक्ति है। ये तीनों हृदय है। आहरण करने के कारण विष्णु है अवखण्डन के कारण इन्द्र है और प्रतिष्ठा के कारण ब्रह्मा यम है। अग्नि विस्तार है सोम सङ्कोच है। बाहर निकलने वाला तत्त्व अग्नि है भीतर प्रविष्ट होने वाला तत्त्व सोम है। अग्नि और सोम से पदार्थों में घनता तरलता आती है। सोम अन्न है अग्नि अन्नाद है। यदि अग्नि न हो तो पदार्थ सङ्कुचित होते होते, और सोम न हो तो विस्तृत होते होते नष्ट हो जाये। इसलिए *अग्नीषोमात्मक जगत्* कहा जाता है। आगति में स्थिति का गर्भित होना सङ्कोच तथा गति में स्थिति का गर्भित होना विकास है। अक्षरपुरुष की पाँच कलाओं में ब्रह्मा से वेद विष्णु से यज्ञ इन्द्र से प्रजा अग्नि से लोक और सोम से धर्म उत्पन्न होता है। ये पाँचों प्रत्येक पदार्थ में रहते हैं।

अक्षरपुरुष की ब्रह्मा विष्णु इन्द्र अग्नि और सोम नामक कलाओं के कारण ससार के पदार्थों की स्थिति बनी रहती है और उनमें परिवर्तन भी होता रहता है। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में लियाम सूत्र की व्याख्या करते समय आदान को स्त्यान और प्रदान को प्रसव कहा है। यह आदान प्रदान प्राणियों में तो भोजन ग्रहण और मलत्याग के रूप में होता ही है। वृक्षादि में भी जलग्रहण और पुष्पफल के विसर्जन के रूप में होता है तथा जड दीपक आदि में भी तैल का ग्रहण और प्रकाश का त्याग देखने में आता है।

इस आदान प्रदान के कारण ही पदार्थ में वृद्धि और क्षय होता है। अधिक ग्रहण और अल्पत्याग से वृद्धि होती है। अल्पग्रहण और अधिक त्याग से क्षय होता है। यह परिवर्तन प्रतिक्षण चलता है। इस परिवर्तन के होने पर भी जो पदार्थ की प्रत्यभिज्ञा होती है उसका कारण वह प्रतिष्ठा तत्त्व है जो ब्रह्माप्राण का कारण है। इसी प्रकार विष्णुप्राण के कारण पदार्थ में ग्रहण होता है तथा इन्द्रप्राण के कारण सक्रमण होता है। सङ्क्रमण के समय जो दीप्ति होती है वही इन्ध है। इसी इन्ध को करने के कारण इन्द्र को इन्द्र कहते हैं। लोहे को पत्थर पर रगडने से जो चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं उनमें इस क्रिया को स्पष्ट देखा जा सकता है।

उपाधि से उपहित आत्मा जीव कहलाता है। क्लेश कर्म और विपाक अविद्या—ये तीन जीव में रहते हैं। ईश्वर में ये तीनों नहीं है—*क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर* (योग सूत्र १ २४)। ईश्वर में अक्षरपुरुष का एक भाग अपने रूप में बना रहता है दूसरे भाग से भूतों का विकास होता है। इस क्षरपुरुष की भी ५ कलाए हैं—प्राण आप वाक् अन्नाद और अन्न। प्राण ऋषि है। प्राणों से आप की उत्पत्ति होती है। आधिदैविक स्तर पर क्षरपुरुष के भी वे ही पाँच कलाए हैं जो अक्षरपुरुष की हैं अर्थात् ब्रह्मा विष्णु इन्द्र अग्नि और सोम—इन्हीं ५ कलाओं से ५ मण्डल उत्पन्न होते हैं जो आधिभौतिक है जिन्हें स्वयम्भू परमेष्ठी सूर्य पृथ्वी और चन्द्र कहा जाता है। इनसे ५ आध्यात्मिक कलाए उत्पन्न होती हैं—प्राज चिति (कारण शरीर) देव चिति (सूक्ष्म शरीर) भूत चिति (स्थूल शरीर) प्रजा (सन्तति) और वित्त (सम्पत्ति)। इन पाँच पाँच

कलाओं का सम्बन्ध इस प्रकार है—

कला	आधिदैविक	आधिभौतिक	आध्यात्मिक
प्राण	ब्रह्मा	स्वयम्भू	बीज चिति (कारण शरीर।
आप	विष्णु	परमेष्ठी	देव चिति (सूक्ष्म शरीर)
वाक्	इन्द्र	सूर्य	भू चिति (स्थूल शरीर)
अन्नाद	अग्नि	पृथ्वी	प्रजा (सन्तति)
अन्न	सोम	चन्द्रमा	वित्त (सम्पत्ति)

हमारी दृष्टि में इनमें से वाक् से अन्न पर्यन्त केवल अन्तिम तीन ही आते हैं शेष दो सूक्ष्म है। अत उनका अनुमान ही करना पडता है।

माया की मितिकरणशक्ति के कारण शुद्धचैतन्य जब उपहित होता है तो वह ईश्वर कहलाता है। सर्वज्ञ सर्वेश्वर सर्वनियन्ता आदि विशेषणों से विशेषित यह ईश्वर ही जगत् का कारण है। जीव का कारण शरीर अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश नामक पाँच क्लेशों से युक्त है किन्तु ईश्वर उनसे मुक्त है। जीव अर्द्धवर्तुलरूप है इसलिए अल्पज्ञ है। ईश्वर पूर्णवर्तुलरूप है इसलिए सर्वज्ञ है। पञ्चपर्वाविश्व ही ईश्वर का शरीर है। ईश्वर परमेश्वर और जीव के बीच का सेतु है। यही सबका कारण है। ईश्वर ही उपासना का विषय है। उसकी बुद्धि अपरिमित है मन स्थिर है।

वेदान्त में ईश्वर और जीव के बीच तादात्म्यसम्बन्ध बहुत विस्तार से बताया गया है। वेद की सहायता से इस तादात्म्य को अच्छी प्रकार समझा जा सकता है। जीव का शरीर तो हमें दिख ही रहा है ईश्वर का शरीर विश्व है। विश्व में तीन त्रिलोकी हैं—रोदसी क्रन्दसी और सयनी। मनुष्य के शरीर में पैर से हृदय तक रोदसी है हृदय से तालुमूल तक क्रन्दसी है और तालुमूल से ब्रह्मरन्ध्र तक सयती है। इस प्रकार ईश्वर और जीव के बीच का तादात्म्य विश्व और शरीर के तादात्म्य की दृष्टि से भी स्पष्ट होता है।

सृष्टि का उपादानकारण क्षरपुरुष ही है। अक्षर अपरिणामी है क्षर परिणामी है। शतपथ ब्राह्मण कहता है कि सब कुछ जल में ओतप्रोत है—जल वायु में वायु आकाश में आकाश अन्तरिक्ष लोक में अन्तरिक्ष द्यौलोक में द्यौलोक आदित्यलोक में आदित्यलोक चन्द्रलोक में चन्द्रलोक नक्षत्रलोक में नक्षत्रलोक देवलोक में देवलोक गन्धर्वलोक में गन्धर्वलोक प्रजापतिलोक में तथा प्रजापतिलोक ब्रह्मलोक में स्थित है।

१ इदं सर्वमप्सु ओतं च प्रोतं च। आपो वायौ। वायुराकाशे। आकाशोऽन्तरिक्षलोकेषु। ते द्युलोके। ते आदित्यलोकेषु। ते चन्द्रलोकेषु। ते नक्षत्रलोकेषु। ते देवलोकेषु। ते गन्धर्वलोकेषु। प्रजापतिलोकेषु (शतपथ ब्राह्मण १४-५ ४ १) ।

ईश्वर के शरीर में जिन्हें हम चन्द्रमा पृथ्वी सूर्य परमेष्ठी और स्वयम्भू कहते हैं जीव के शरीर में वे ही क्रमश अन्न अन्नाद वाक् आप और प्राण कहे जाते हैं। इन पाँचों के तीन तीन विवर्त हैं। प्राण के तीन विवर्त हैं—विद्या काम और अविद्या। आप के तीन विवर्त हैं—तेज आप और अन्न। वाक् के तीन विवर्त हैं इन्द्र वायु और अग्नि। अन्न के तीन विवर्त हैं—यज्ञ मह और भाग। ये तीनों अग्निमय देव हैं। इनके परिग्रह में ज्ञान क्रिया और अर्थ बनते हैं। जिनमें प्रज्ञामात्रा प्राणमात्रा और भूतमात्रा का निर्माण होता है। तेज जल और अन्न अस्थि मूत्र और मल से जुड़े हैं। वाक् प्राण और मन मज्जा रक्त और मांस से जुड़े हैं। इस प्रकार स्थूलशरीर का निर्माण होता है। तेज आप और अन्न से सूक्ष्म मध्यम और स्थूल का निर्माण होता है। इस प्रकार प्रत्येक पुरुष में क्षर के समस्त रूप मिलते हैं।

ब्रह्मा विष्णु इन्द्र अग्नि और सोम—अक्षर की इन पाँच कलाओं को रखने वाला क्षर आत्मक्षर कहलाता है। इन्हीं का विकार क्रमश प्राण आप वाक् अन्नाद और अन्न है। दर्शन में पञ्चीकरण की प्रक्रिया प्रसिद्ध है। पञ्चीकरण का अर्थ है कि किन्हीं भी पाँच तत्त्वों में से किसी एक तत्त्व का आधा भाग तथा शेष आधे में बाकी बचे हुए चार तत्त्वों का बराबर बराबर भाग मिलाकर एक ऐसा रूप दे देना जिसमें पाँच तत्त्वों में से किसी एक तत्त्व का भाग सर्वाधिक रहे किन्तु न्यूनमात्रा में शेष चार तत्त्वों का भी भाग रहे। दर्शन में पञ्चतन्मात्राओं में पञ्चीकरण की प्रक्रिया से पञ्चभूतों की उत्पत्ति प्रसिद्ध है किन्तु वैदिक वाङ्मय पर दृष्टि डालने से यह पञ्चीकरण की प्रक्रिया बहुत विस्तार से समझ में आती है। यह पञ्चीकरण वस्तुत पाँच स्तरों पर होता है—गुणों के पञ्चीकरण से अणु अणु के पञ्चीकरण से रेणु रेणु के पञ्चीकरण से भूत और भूतों के पञ्चीकरण से महाभूत बनते हैं। ये महाभूत ही पञ्चपर्वा विश्व को बनाते हैं। गुण की स्थिति में क्षरब्रह्म की पाँच कलाएं हैं—प्राण वाक् आप् अन्न और अन्नाद। ये ही विश्वसृट् कहलाती हैं। ये विश्व का निर्माण करती हैं इसलिये इन्हें विश्वसृट् कहा जाता है—*विश्वसृज इदं विश्वमसृजन्त*। (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ १२ ९ ८) । इन पञ्च विश्वसृट् अथवा गुणों के पञ्चीकरण से पञ्च जन उत्पन्न होते हैं जिन्हें दर्शन में अणु कहा जाता है। ये पञ्चजन भी प्राण वाक् आप अन्न और अन्नाद नाम से ही जाने जाते हैं। इन पञ्चजनों में तीसरी बार पञ्चीकरण होता है उतनी बार मूलतत्त्व का अंश कम होता है और यौगिकता अधिक होती जाती है। यह यौगिकता ही सूक्ष्म को स्थूल बनाती है। अब इन पञ्चजनों के पञ्चीकरण से पाँच पुरञ्जन बनते हैं उनका नाम वेदपुरञ्जन लोकपुरञ्जन देवपुरञ्जन भूतपुरञ्जन तथा पशुपुरञ्जन है। प्राण से वेद आप से लोक् वाक से देव अन्नाद से भूत तथा अन्न से पशु बनना है। पुरञ्जन अवस्था में पदार्थ की झाई सी दिखाई देती है। जब इन पुरञ्जनों में भी पञ्चीकरण होता है तो भूत बनता है। भूत बनते ही तत्त्व स्थूलरूप ले लेता है। इन भूतों के पञ्चीकरण से पञ्चमहाभूत बनते हैं जिनका नाम पृथिवी जल अग्नि वायु और आकाश है। ये ही पञ्चमहाभूत पञ्चपर्वाविश्व को बनाते हैं। पञ्चजन तक ब्रह्म अव्यक्त है। पुरञ्जन से लेकर महाभूत तक व्यक्त है। पञ्चीकरण की इस प्रक्रिया को ही पुरुषसूक्त में सर्वहुतयज्ञ कहा गया है। विश्व के जो पाँच पर्व हैं उनमें क्रमश क्षर की ही पाँच कलाएं मुख्य हैं अर्थात् स्वयम्भूमण्डल प्राणमण्डल है परमेष्ठी आपोमण्डल सूर्य वाङ्मण्डल चन्द्र अन्नादमण्डल और पृथिवी अन्नमण्डल।

इन पाँचो पर्वों में स्रष्टा स्वयं प्रविष्ट है। इसे अग्नि प्रजापति इन्द्र अथवा प्राण भी कहते हैं। यह गुणों में परं पुरुषरूप में है अणुओं में अग्निरूप है रेणु में प्रजापति है भूतों में इन्द्र है और भौतिक पदार्थों में प्राण है—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ॥
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः ॥
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥

(मनुस्मृति १२/१२३/१२४)

घट का दृश्यपक्ष वाक् है वह क्षर है। घट की परिवर्तनशीलता प्राण है वह अक्षर है। घट का ज्ञान मन है वह अव्यय है। इस प्रकार तीनों पुरुष सब पदार्थों में रहते हैं। क्षर विश्व है अक्षर विश्वकर्ता है अव्यय विश्वसाक्षी है। प्रजापति का एक रूप अजायमान है अनिरुक्त है जिसका वर्णन यजुर्वेद में इस प्रकार है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥

(यजु संहिता ३१ १९)

यह प्रजापति सर्वव्यापक है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

(ऋग्वेद १० १२१ १०)

क्षर

अव्यय का अमृतभाग अक्षर है मर्त्यभाग क्षर है। क्षर सबका उपादान है। विकार तीन प्रकार के हैं—दिक् देश काल। संख्यादि भातिसिद्धविकार औपपादिक कहलाते हैं। शुक्र शोणित इत्यादि विकार जो दूसरे के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं आपसर्गिकविकार कहलाते हैं। दूध में मलाई लोहे में जंग इत्यादि स्वयं से उत्पन्न होने वाले विकार औपजनिकविकार कहलाते हैं। क्षर क्षीण होता है किन्तु नष्ट नहीं होता क्योंकि इसे अव्यय से सदा रस मिलता रहता है।

क्षरपुरुष

क्षर अन्न है अक्षर अन्नाद। अक्षर भोक्ता है क्षर भोग्य। क्षर अक्षर दोनों का आधार अव्यय है इसलिए इसे आवपन भी कहा जाता है। क्षर में और कुछ उत्पन्न नहीं होता क्षर ही उत्पन्न होता है। क्षर के पाँच विकार हैं—वार्जचिति दत्रचिति भूतचिति प्रजा और वित्त। इनका ही दूसरा नाम प्राण आप वाक् अन्नाद और अन्न है।

अक्षर प्राणरूप है उसमें विद्या और अविद्या दोनों समान मात्रा में है। इसी में जब बल

अक्षर पुरुष से गुणसृष्टि होती है जिसे देवसृष्टि तन्मात्रासृष्टि आदि कहा जाता है। दार्शनिक जिन्हें गुण अणु रेणु अथवा भूत कहते हैं वे सब इसी में समाविष्ट हैं। क्षर पुरुष से विकारसृष्टि होती है जिसे अर्थ सृष्टि भूत सृष्टि पशु सृष्टि मैथुनी सृष्टि आदि कहा जाता है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ (गीता १३/१९)

इनमें भावसृष्टि का स्वयम्भू, गुणसृष्टि का सूर्य तथा भूतसृष्टि की पृथ्वी अधिष्ठाता है। प्रथम पूर्ण सर्ग है द्वितीय प्राकृत सर्ग है तथा तृतीय वैकारिक सर्ग है। प्रथम से विभूति द्वितीय में योग तथा तृतीय में बन्ध सम्बन्ध है।

विराट् पुरुष

सृष्टि जिन दो पदार्थों के संसर्ग से होती है उन्हें परात्पर की स्थिति में रस तथा बल कहा जाता है। यही दोनों क्रमशः ब्रह्म के स्तर पर स्थिति और गति तथा मैथुनी सृष्टि के स्तर पर स्नेह और तेज कहलाते हैं। रस और स्थिति से सम्बन्धित स्नेह भृगु है बल और गति से सम्बन्धित तेज तत्त्व अङ्गिरा है।

आप वायु और सोम भृगु के घन तरल और विरल रूप हैं। अग्नि यम और आदित्य अग्नि के घन तरल और विरल रूप हैं। इनमें भृगु के कारण संकोच होता है और अंगिरा के कारण विकास रूप। इन दो के समन्वय से ही सृष्टि बनती है—*द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति शुष्कञ्चैव आर्द्रञ्च। यच्छुष्कं तदाग्नेयम्। यदार्द्रं तत्सौम्यम्* (शतपथ ब्राह्मण १/६/३/२३)।

विकास की ओर जाने वाले अग्नि यम और आदित्य हैं जहाँ तक परिधि होती है वहाँ तक विकास करते हैं। इसके अनन्तर इनका केन्द्र से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है इसलिए ये पुनः केन्द्राभिमुख होकर संकोचशील बनते हुए आप वायु और सोम बन जाते हैं। केन्द्र पर पहुँचकर जब ये संकोच की चरमावस्था में पहुँचते हैं तो केन्द्र में इनके लिए स्थान का अभाव हो जाता है और ये पुनः परिधि की ओर विकासशील हो जाते हैं। इस प्रकार अङ्गिरा भृगु में और भृगु अङ्गिरा में परिणत होता रहता है।

आप वायु और सोम नामक भृगु की तीन अवस्थाएँ अग्नि यम और आदित्य नामक अंगिरा की तीन अवस्थाएँ मिलकर अथर्वाङ्गिरस वेद बनाती हैं जिसे "सुब्रह्म" कहते हैं। यह ब्रह्म सोम और यजु की प्रथा में प्रवेश करता है। उपर्युक्त प्रश्नों में से यजु के यत् और जू भागों में बनने वाले से यह वेद चार में परिणत हो जाता है। इस प्रकार तीन भृगु और तीन अंगिरों से मिलकर इसी के चार रूप सूर्य के दस-दस कहलाते हैं।

अग्नि और जल के संयोग से ही इसकी पूर्णता बनी है। इस पूर्णता के आठ आवरण हैं। प्रथम आवरण आप है। उसमें वायु के प्रहार से फेन बनता है। जो स्निग्धस्थान है वही अग्नि के संयोग से क्रमशः मृत् सिकता शर्करा अश्मा अयः और हिरण्य बनता है। यही वर्णित सृष्टि है। इसके ये आठ आवरण हैं। पृथ्वी का दूसरा अग्नि है और अग्नि का दूसरा स्पर्श है। पृथ्वी

के आठ अवयव होने हैं इसलिए गायत्री छन्द के भी आठ ही अवयव होते हैं।

क्रतु

ज्ञानतन्त्र में तन्मूलक है प्राणतन्त्र में कुर्वद्रूप है और अर्थतन्त्र में निर्गच्छद्रूप है। जब तक मन और शरीर के बीच प्राण काम न करे मन की इच्छा पूरी नहीं हो पाती। प्राण का यह योगदान क्रतु कहलाता है। मन में ज्ञान और इच्छा होती है। प्राण उसे क्रतु रूप में परिणत करता है और यह क्रतु ही कर्म बन जाता है।

जीवाधिकरण में विश्व के पाँच पर्वों का समतुलन अध्यात्म के पाँच पर्वों के साथ करते समय विश्व के पाँच पर्वों की चर्चा हमने की है। अब यहां विश्वाधिकरण में विश्व के इन पाँच पर्वों की चर्चा विश्व की दृष्टि में रख कर लेना उचित होगा। वैसे ब्रह्माधिकरण में भी क्षर पुरुष की पाँच कलाओं के पाँच बार पञ्चीकरण को बतलाते समय इन पाँच पर्वों का नामोल्लेख हमने किया है। विषयप्रवेश में सप्तव्याहृति पञ्चपर्वा विश्व तथा तीन धामों के रूप में हमने विश्व को तीन प्रकार से विभक्त किया है।

षड्भाव विकार तथा विश्व के पाँच पर्व

ध्यान देने की बात है विश्व में चार पर्व अण्डाकार हैं। अण्डाकार को वैदिक भाषा में त्रिनाभिचक्र कहा गया है। अण्ड एक ऐसे वर्तुल के आकार का होता है जिसके तीन केन्द्र हैं। इसे दीर्घवृत्त भी कहते हैं। त्रिनाभिचक्र का भी यही अभिप्राय है। इन सभी पर्वों के तीन केन्द्र हैं मन प्राण और वाक्। स्वयम्भू मण्डल में अभी तीन केन्द्र नहीं बने इसलिये वह वर्तुलाकार ही है अण्डाकार नहीं। प्रथम मण्डल परमेष्ठी है जो अण्डाकार है जिसे अस्त्वण्ड कहा जाता है। स्वयम्भू ब्रह्म का अण्ड होने के कारण इसे ब्रह्माण्ड कहते हैं। यद्यपि षड्भाव विकारों में सर्वप्रथम जायते आता है किन्तु यह जीव की दृष्टि से है। ईश्वर की दृष्टि से सर्वप्रथम अस्ति ही आता है इसलिये प्रथम अण्ड परमेष्ठी मण्डल को अस्त्वण्ड कहा जाता है। स्वयम्भू तो अव्यक्त है परमेष्ठी व्यक्ताव्यक्त है। व्यक्त सृष्टि का प्रारम्भ सूर्य से ही होता है। यह सूर्य दूसरा भावविकार है जिसे जायते कहा जाता है। व्यक्त होने के कारण इस द्वितीय अण्ड को हिरण्मयाण्ड कहा जाता है। तीसरा वर्धते के भावविकार से जुड़ा भूपिण्ड है जो बढ़ने के कारण पाषाण्ड कहा जाता है। चौथा पृथिवी का महिमामण्डल है जो विपरिणमते से जुड़ा है जिसे यशो अण्ड कहते हैं तथा अन्तिम पाँचवां चन्द्रमा है जो अपक्षीयते से जुड़ा है जिसे रेतो अण्ड कहते हैं। इन पाँच पर्वों को ही विश्व कहा जाता है। इनका निर्माण करने वाला स्वयम्भू है। वह विश्वकर्मा है तथा इन पाँचों पिण्डों में प्रविष्ट है।

एक पेड़ के उदाहरण से इन पांच पर्वों को समझा जा सकता है। सृष्टिविद्या को अश्वत्थविद्या भी कहते हैं। बीज में वृक्ष का अव्यक्त रूप प्रथम अस्त्वण्ड रूप परमेष्ठी है। इसी का अङ्कुर के रूप में व्यक्त हो जाना द्वितीय हिरण्मयाण्ड है जिसका सम्बन्ध जायते से है। उस अङ्कुर का अपना फैलाव लेना तीसरा सोपान है जिसकी तुलना भूपिण्ड पाषाण्ड से की जाती है। चौथा अङ्कुर

का चारों तरफ फैल जाना वर्धते है जो यशा अण्ड है। यह बीज की महिमा है। यह भूपिण्ड का महिमामण्डल है। पाँचवा रूप वृक्ष में पुनः बीज का आ जाना है। इसे रेता अण्ड कहते हैं क्योंकि इसमें वह रेतस अथवा शक्ति है जो दूसरे वृक्ष को जन्म दे देती है। इसका सम्बन्ध चन्द्रमा से है।

परमेष्ठी भृगु और अंगिरामय है। सूर्य अग्नि और मरीचि रूप है। भूपिण्ड के आठ अवयव ऊपर बताए जा चुके हैं। पृथ्वी भूपिण्ड का ही महिमामण्डल है और चन्द्रमा भू पिण्ड का प्रवर्ग्य है। अग्नि विस्तार देकर पदार्थों को सूक्ष्म बनाता है। सोम संकोच द्वारा पदार्थों को घनीभूत करता है।

अक्षर की पाँच कलाओं में ब्रह्मा विष्णु और इन्द्र मध्य प्राण कहे जाते हैं। अग्नि और सोम पृष्ठ्य प्राण कहे जाते हैं। इन्द्र अग्नि और सोम महेश्वर नाम से विख्यात हैं। ये तीन शिव के नयन हैं। इन्द्र प्राण प्रधान सूर्य सोमप्रधान प्राण चन्द्र और अग्नि ये तीनों विश्व के तीन नयन हैं। ये तीनों ही ईश्वर हैं।

लोक धाम पर्व भावविकार तालिका

वेदों में सात लोकों की भी चर्चा है और यहां हमने पांच पिण्डों की चर्चा की है। इसके अतिरिक्त वेदों में तीन धामों की चर्चा भी है। वेद के इन सभी प्रमाणों को यदि एक तालिका में रखें तो समन्वित रूप इस प्रकार होगा—

सप्तलोक	तीन द्यावापृथिवी	तीन धाम	पाँच पिण्ड		
सत्यम्			स्वयम्भू	ब्रह्माण्डाधिष्ठाता	
तप	संयती	परम		भावविकार	अण्ड
जन			परमेष्ठी	अस्ति	अस्त्वण्ड
मह	क्रन्दसी	मध्यम			
स्व			सूर्य	जायते	हिरण्मयाण्ड
भुव	रोदसी	अवम	चन्द्र	अपक्षीयते	रेतोऽण्ड
भू			पृथिवी	विपरिणमते	यशोऽण्ड
			भू	वर्धते	पोषाण्ड

पाँच पर्वों के पाँच महिमामण्डल

जिन पाँच पिण्डों की हमने चर्चा की है वे वाङ्मय हैं। दूसरी भाषा में वे पिण्ड रूप हैं। उन पाँचों का ही प्राणमय रूप अथवा महिमामण्डल भी है। मनोमय रूप भी है। स्वयम्भू का महिमामण्डल अथवा प्राणमय रूप परमाकाश है तथा उसका अधिष्ठाता विश्वकर्मा है। परमेष्ठी का प्राणमय रूप महासमुद्र है तथा उसका अधिष्ठाता प्रजापति है। सूर्य का प्राणमय रूप संवत्सर है तथा उसका अधिष्ठाता हिरण्यगर्भ है। पृथ्वी का प्राणमय रूप आन्द है तथा उसका अधिष्ठाता सर्वभूतान्तरात्मा है। चन्द्रमा का प्राणमय रूप नक्षत्र है तथा उसका अधिष्ठाता भूतात्मा है। पिण्ड पद है प्राणमय रूप पुनःपद अथवा महिमामण्डल है और अधिष्ठाता अधिष्ठान है। पद का सम्बन्ध

क्षर पुरुष से है महिमा मण्डल का अक्षर पुरुष में और अधिष्ठान का अव्यय पुरुष में। इस प्रकार त्रिपुरुष का सम्पूर्ण सृष्टि से सम्बन्ध जुडा हुआ है। इनमें पिण्ड ही भू है और महिमा मण्डल ही द्यौ लोक है।

सात लोक

सात लोकों में प्रत्येक लोक के अलग अलग प्राण हैं। भू का अग्नि भुव का सुब्रह्म स्व का सविता मह का मित्र जन का वरुण तप का अर्यमा तथा सत्यम् का वेद प्राण है। प्राण ही देव है।

इन पाँच पर्वों में स्वयम्भू विश्व का शीर्ष है सूर्य अक्ष है और पृथ्वी पाद है जिनका संकेत पुरुष सूक्त के प्रथम मन्त्र की प्रथम पंक्ति में है—*सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात्*। ये तीनों मण्डल अग्नि रूप हैं सत्य रूप हैं। स्वयम्भू और सूर्य के बीच परमेष्ठी मण्डल ऋत रूप है तथा सूर्य और पृथ्वी के बीच चन्द्रमण्डल भी ऋत रूप है। इस प्रकार तीन अग्नि प्रधान मण्डलों के बीच दो सामप्रधान मण्डल हैं। अग्नि सत्य का प्रतिनिधि है ऋत सोम का प्रतिनिधि है। इन दो के सम्मिश्रण से ही सृष्टि बनी है इसलिये ऋग्वेद के अघमर्षण सूक्त में सर्वप्रथम ऋत और सत्य के उत्पन्न होने की चर्चा है।

ऋत सत्य

पुरुष के श्रम से तप द्वारा ऋत सत्य उत्पन्न हुआ। सत्य त्रयी ब्रह्म है ऋत सुब्रह्म है। सत्य स्वयंभू है। ऋत परमेष्ठी है। ऋत ने सत्य को अपने गर्भ में रख लिया। इस प्रकार परमेष्ठी प्रधान हो गया। इस ऋत परमेष्ठी से आपोमयी रात्रि का विकास हुआ। यही अर्णव समुद्र है। स्वयंभू का सत्य समुद्र भास्वान् है परमेष्ठी का रात्रि समुद्र सरस्वान् है। रोदसी त्रिलोकी का समुद्र अर्णव समुद्र है। अर्णव समुद्र से अग्नि मण्डल का विकास हुआ। यही संवत्सर है। तदनन्तर अहोरात्र बना और फिर तीन लोकों की सृष्टि हुई।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥
(ऋक् संहिता, १० १९० १ २ ३)

ऊपर हमने ऋत सत्य की चर्चा की है। हृदय सहित सशरीर पदार्थ सत्य है। हृदय रहित पिण्डावस्था शून्य पदार्थ ऋत है। सम्पूर्ण पिण्ड अग्नि से बनते हैं। सोम तरल पदार्थ है। वह भी अग्नि में आकर पिण्ड रूप में परिणत हो जाता है। अग्नि सत्य है सोम ऋत है।

सोम

पिण्ड म निकलन वाली रश्मियां नियत स्थान म विचलित नही होती। पूर्व दिशा की रश्मि पश्चिम दिशा म कभी नही जाती। इसलिय हम पिण्ड का सत्य कहत ह। इसक विपरीत ऋत बाधा आन पर अपना स्थान बदल लता ह। यदि पानी क आग हाथ लगा ल ना पानी लाटना नही बल्कि इधर उधर हाकर चला जाता ह। पानी वायु आर साम तीना ही ऋत की अवस्थाए ह। घन अवस्था पानी ह तरल अवस्था वायु ह विरल अवस्था साम ह। इनमें अग्नि प्राण कवल जल म है। इसलिय जल हमें दिखाई दता ह साम आर वायु अग्नि प्राण क अभाव में हम दिखाई नही दत। सूर्य म ३३ आग्नय दवता ह उन्ही म दवताओं की उत्पत्ति हाती ह। इसीलिय दवता सत्य मार्ग का ही अनुसरण करत हैं। मनुष्यों की उत्पत्ति सोम स हाती है। यह साम ही महान् ह। इस पर ही अव्यय पुरुष के चित् का प्रतिबिम्ब पडता ह। इसलिय मनुष्य म सोम भाव प्रधान ह। इसलिय वह सत्य का अनुसरण नहा कर सकता।

चन्द्र मण्डल का साम श्रद्धा ह। श्रद्धा स्नह से युक्त ह। मनुष्य का श्रद्धा भाव चान्द्र रस की आर झुक जाता ह। वह उसी स बध जाता है। इसी श्रद्धा की महिमा बतात हुए उपनिषद् कहता ह—

त यथायथापासते तथव भवति (छादाग्य उपनिषद्)

गीता भी इसी बात का प्रतिपादन करती ह—

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽय पुरुष यो यच्छ्रद्ध स एव स ॥ (गीता ३/३)

श्रद्धा स साम उत्पन्न हाता है। साम स वर्षा हाती है वर्षा से अन्न अन्न स रत और रत स पुरुष। इस प्रकार पुरुष में साम तत्व ही प्रधान है। इसलिय कहा गया है—*सत्यसहिता वै देवा अनृतसहिता मनुष्या*। जैसे प्राण म प्राण के अभाव के कारण उस असत् कहा जाता है वैसे ही ऋत क अभाव क कारण उसे अनृत कहा जाता है। मनुष्य सत्य नही बाल सकता क्योंकि वह अनृत रूप है। जब हम सत्य बोलने की बात कहत हैं ता वहा सत्य का अर्थ आखों से देखा हाता ह— *चक्षुर्वै सत्यम्*। इसी की व्याख्या है—*एतद् वै मनुष्येषु सत्य निहित यच्चक्षु*। प्रज्ञान आत्मा अथवा सर्वेन्द्रिय मन ऋत रूप है क्योकि इसमें चान्द्र सोम की प्रधानता है। विज्ञान सूर्य रूप है अत वह सत्य रूप ह। परमेष्ठी भी ऋत रूप ह। उसमें भृगु और अगिरा दो तत्व रहत हैं। ये दानों आप ह अत कहा जाता है *ऋतमेव परमेष्ठी*। जा स्थूल जल है वह परमेष्ठी क अम्भ नामक वायु रूप पानी आर पवमान क रासायनिक मिश्रण स उत्पन्न होता ह। अम्भ परमेष्ठी का जल ह मरीचि सूर्य का जल है श्रद्धा चन्द्रमा का जल ह। पार्थिव पानी को मर कहत हैं। आपोमय परमेष्ठी मण्डल में सूर्य एक बुदबुद क समान ह। आपोमय परमेष्ठी समुद्र का ही रूप आकाश की नीलिमा क रूप म दिखाई दता ह।

आप्य प्राण असुर हैं सौम्य प्राण पितृ हैं। आप्य प्राण सौर आग्नेय प्राण के शत्रु हैं। साम्य प्राण उपकारक हैं। परमेष्ठी मण्डल में असुर प्राणों की सत्ता है। वहां अन्धकार ही अन्धकार है। मन ऋत सामात्मक है। इसीलिये वह चचल है। ऋताग्नि और सोम के सम्बन्ध से ही ऋतु का निर्माण होता है।

विशुद्ध सत्य आत्मा है अमृत विश्व है। सत्य में भी अमृत और मर्त्य का समन्वय है। शतपथ कहता है—

आप एवेदमग्र आसु। ता आप सत्यमसृजन्त सत्य ब्रह्म प्रजापति प्रजापतिर्देवान्। ते देवा सत्यमित्युपासते। तदेतत त्र्यक्षरमिति। "स —इत्यकमक्षर "ती त्येकमक्षर "अम् इत्येकमक्षरम्। प्रथमोतमेक्षरे सत्य मध्यतोऽ नृतम्। तदेतदनृत सत्येन परिगृहीत सत्यभूयमव भवति नैव विद्वासमनृत हिनस्ति"—(शतपथ ब्राह्मण १४/८/६/२)

अंगिरा सत्य रूप है। यही अंगिराकण सूर्य रूप में परिणत होता है। *तद्यत् तत् सत्य असौ स आदित्य* (शत. १४/८/५) । *सत्य शब्द में विकार स्पष्ट नहीं है किन्तु सुनाई पडता है। यह* त्रिकार ही स्पष्ट विश्व है। यही मर्त्य रूप है। जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है—

"तस्य वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्य मिति। तानि वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतिय" मिति। तद्यत् "सत् तदमृतम्। अत्र यत् "ति तन्मर्त्यम्। अथ यत् "य" तेनोभे यच्छति। यदनेनोभे यच्छति तस्मात् य अहरहर्वा एववित् स्वर्ग लोकमेति।—(छान्दोग्य उपनिषद् ८/३/५)

अभिप्राय यह है कि अमृत और मृत्यु दोनों का समन्वय अभ्युदय का कारण है। सत्य सन् स्वरूप है ऋत असत् स्वरूप है। ऋत सत्य पर प्रतिष्ठित है किन्तु मौलिक रूप से सत्य का निकास ऋत से हुआ। परमेष्ठी इसी दृष्टि से सूर्य से भी परम स्थान पर है।

ऋतु

ऋताग्नि में साम की आहुति होने से अग्नीषोमात्मक जो अपूर्व भाव उत्पन्न होता है वही ऋतु कहलाता है। सोम स्नेह गुण वाला ऋत धरातल है। इसमें अग्नि के उद्‌भाव निभाव के तारतम्य से पाँच भाग होते हैं—वसन्त ग्रीष्म वर्षा शरद तथा हेमन्त। हेमन्त और शिशिर का एक में ही अन्तर्भाव हो जाता है। वसन्त और ग्रीष्म मिलकर ग्रीष्म कहलाते हैं। शरद और हेमन्त मिलकर शीत कहलाते हैं। इस प्रकार चार चार महीने के तीन विभाग हैं। ग्रीष्म का चौमासा अग्नि प्रधान है। वर्षा का चौमासा अग्नीषोमात्मक है तथा शीत काल का चौमासा साम प्रधान है। वर्षा में सभी ऋतुओं का समावेश हो जाता है। इसलिए सवत्सर को वर्ष कहा जाता है—

"स वै वर्षास्वाधीत। वर्षा वै सर्व ऋतव। अथादो वर्षकर्मादो वर्षकुर्म इति सम्वत्सरान् पश्यति। वर्षा ह त्वेव सर्वेषामृतूना रूपम्। उत हि तद्वर्षासु। भवति यदाहु ग्रीष्मऽइव वाऽद्य" इति। उतो तद्वर्षासु भवति यदाहु शिशिर इव वा अद्य इति वर्षादिद्वर्षा अथैतदेव परोक्ष_ तद्‌ग्रीष्मस्य। यद्वर्षति तद्वर्षाणाम्। यद्विद्योतते तच्छरद। यद्वृष्ट वा उदगृह्णाति तद्धेमन्तस्य। वर्षा सर्वऋतव। ऋतून् प्राविशत् (शतपथब्राह्मण २ २ ३ ७ ८)

सकेन्द्र का सत्य तथा केन्द्ररहित को ऋत कहा जाता है। पिण्ड के केन्द्र में जो प्रजापति कहलाता है पूरा पिण्ड आकृष्ट होता है। यह केन्द्र ही गर्भ कहलाता है। यह प्रजापति गर्भ में रहता हुआ अजायमान है। इसी पर हृदय अर्थात् गति आगति और स्थिति टिकी हुई है। यह हृदय अन्न रूप है। केन्द्र को पकड़ा नहीं जा सकता। केन्द्र परिवर्तित नहीं होता। पिण्ड परिवर्तित होता है। परिवर्तित होना ही बहुधा विजायते है। परिवर्तित न होना ही अजायमान है। केन्द्र यानि है। इसी में समस्त विश्व टिका हुआ है। जो पिण्ड के गर्भ में सत्य है वही ब्रह्माण्ड के बारे में सत्य है। सत्य अमृत और मृत्यु का समन्वय है। केन्द्र अमृत है। यह भी सत्य है। पिण्ड मृत्यु है। यह भी सत्य है। हृदय का सत्य *सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म* है। पिण्ड का सत्य *नित्य विज्ञानमानन्द ब्रह्म* है। पिण्ड में हृदय घिरा हुआ है। अमृत सत्य से घिरा है—

तदेतत् त्रय सदेकमयमात्मा। आत्मा उ एक सन्नेतत् त्रयम्। तदमृत सत्येन छन्नम् प्राणो वा अमृतम्। नामरूपे सत्यम्। ताभ्यामय प्राणश्छन्नः।—(शतपथ ब्राह्मण १४/४/४/३/)

पिण्ड नामरूपात्मक है केन्द्र पिण्ड की प्रतिष्ठा है। इसलिये उसे सत्य का सत्य कहा है। ज्ञान को ज्योतिसाम कहा है।

सत्य में ऋत की आहुति होती है। वह आहुत होकर सत्य रूप में ही परिणत हो जाता है। ऋत बलरूप है किन्तु वह सत्य रूप रस में जाकर ही सत्य बनता है। अग्नि और साम के ऋत और सत्य दो भाग हो जाते हैं। ऋत अग्नि और साम से संवत्सर का निर्माण होता है। सत्य अग्नि और सोम से विश्व का निर्माण होता है। सत्य अग्नि सूर्य है। सत्य साम चन्द्रमा है। सत्य सायतन है ऋत निरायतन है। सृष्टि होती है ऋताग्नि सोम से। उसकी प्रतिष्ठा बनता है सत्याग्नि सोम।

पिण्डो की गति

सत्य सूर्य के चारों ओर सत्य भू पिण्ड परिक्रमा लगा रहा है और सत्य भू पिण्ड के चारों ओर चन्द्रमा परिक्रमा लगा रहा है। परिस्थिति को देखने के तीन प्रकार हैं जिन्हें सृष्टि मूला स्थिति मूला और दृष्टि मूला कहा जाता है। सृष्टिमूलक विद्या के आधार पर स्वयम्भु को आधार माना जाता है। सूर्य को आधार मान कर स्थितिमूला विद्या चलती है और पृथ्वी का आधार मान कर दृष्टिमूला। सृष्टिविद्या के आधार पर पृथ्वी स्थिर है सूर्य चल रहा है। स्थितिमूला विद्या के आधार पर सूर्य स्थिर है किन्तु सृष्टि मूला विद्या के अनुसार सूर्य और पृथ्वी दोनों ही घूम रहे हैं। सूर्य के चलने का प्रमाण है—

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृत मर्त्यञ्च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥
(यजु संहिता ३३/४३)

किन्तु सूर्य के स्थिर रहने का भी स्पष्ट उल्लेख है—*अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेता। एकल एव मध्ये स्थाता। न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन। देवास्तेनाह सत्येन मा विराधिषि*

ब्रह्मणा। न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति। सकृद्दिवा हवास्मै भवति। (छान्दोग्योपनिषद् ३।११।३)।

पृथ्वी के चलन का स्पष्ट उल्लेख है—

साम पूषा च चेततुर्विश्वासा सुक्षितीनाम्।
देवत्रा रथ्योर्हिता(सामसंहिता पृ ६/१) ॥

यह भ्रमण क्यों हो रहा है? इसका उत्तर है—यज्ञ ने इन्द्र को बल प्रदान किया। उसी बल से सारे इन्द्र ने भूपिण्ड को ठोकर लगायी। उसी से पृथ्वी अब तक घूम रही है—

यज्ञ इन्द्रमवर्द्धयत्, यद् भूमिं व्यवर्त्तयत्।
चक्राण ओपशं दिवि(ऋक् संहिता ८/१४/५)

सृष्टिमूलक दृष्टि के अनुसार सूर्य भी परमेष्ठी के चारों ओर घूम रहा है। यह अयनवृत है जिस पर चलते हुए सूर्य अपनी परिक्रमा पच्चीस हजार वर्ष में पूरी करता है। इस परिक्रमा का आधार ध्रुव है। स्वयं परमेष्ठी भी आन्द नामक वृत पर स्वयंभू की परिक्रमा कर रहा है। स्वयंभू गतिमान् नहीं है विशुद्ध गतिरूप है। विशुद्ध गति ही स्थिति बन जाती है। चन्द्र भी दक्षवृत पर भूपिण्ड की परिक्रमा लगा रहा है भूपिण्ड क्रान्ति वृत पर सूर्य की परिक्रमा लगा रहा है सूर्य अयनवृत पर परमेष्ठी की परिक्रमा लगा रहा है तथा परमेष्ठी आन्दवृत पर स्वयंभू की परिक्रमा लगा रहा है। चन्द्रमा परज्योति है भूमि रूप ज्योति है। सूर्य स्वज्योति है परमेष्ठी ऋत पिण्ड है। स्वयंभू सत्यमूर्ति है। भू भूमि है। सूर्य स्व है। चन्द्रमा दोनों के बीच भुव है। परमेष्ठी जन है। स्वयंभू सत्य है। सूर्य और परमेष्ठी के बीच का स्थान मह है। स्वयंभू और परमेष्ठी के बीच का स्थान तप है। इस प्रकार पाँच के स्थान पर सात विवर्त हो जाते हैं। इनमें छः गतिशील हैं एक गतिरहित है—

अचिकित्वाँश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वियस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥
(ऋक् संहिता १/६/६/)

स्वयंभू परमेष्ठी परमधाम है। सूर्य मध्यम भाग है। चन्द्रमा और भू पिण्ड अवमधाम है। इन तीन धामों का उल्लेख ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ८१ वें सूक्त में हुआ है—

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥
(ऋक् १०/८१/३)

तत्वों की भाषा में स्वयंभू ब्रह्मा हैं परमेष्ठी विष्णु सूर्य इन्द्र पृथ्वी अग्नि और चन्द्रमा सोम। ये पाँच अक्षर हैं जिनसे पञ्च भौतिक क्षर संसार उत्पन्न हुआ। पाँच पर्वों की आधार भूमि अव्यय पुरुष है। अव्यय पुरुष की विद्या अश्वत्थ विद्या है। पञ्च पर्वा विश्व ब्रह्म वृक्ष की शाखा मात्र है। अश्वत्थ वृक्ष में ऐसी सहस्रों शाखाएं हैं। शाखा को वल्शा कहते हैं। वल्शा के पाँच पुण्डीर हैं।

प्रकृति, आकृति तथा अहङ्कृति

तीन धाम पाँच पर्व और सात लोकों के अतिरिक्त विश्व के अमृत मृत्युभेद से [illegible] पर्व भी बन जाते हैं। स्वयम्भू परमेष्ठी और सूर्य ये तीनों अमृतविश्व हैं। सूर्य चन्द्रमा और पिण्ड ये तीनों मर्त्य विश्व हैं। विश्व के बीच में स्थित सूर्य अमृत रूप भी है और मर्त्यरूप भी। परमेष्ठी में पितरप्राण हैं और अमृत सूर्य में देव प्राण हैं। पार्थिव पितर प्राण से आकृति चान्द्र देव प्राण से प्रकृति और ऋषिप्राण से अहङ्कृति बनती है।

आकृति से जाति का निर्माण होता है। प्रकृति से वर्ण बनता है और अहङ्कृति से गोत्र बनता है। आकृति के आधार पर मनुष्य जाति एक है क्योंकि जाति का ग्रहण आकृति से होता है किन्तु वर्ण के आधार पर प्रकृति के भेद होने के कारण मनुष्य जाति चार भागों में बंटी है। वर्ण का आधार शरीर की आकृति नहीं मन की प्रकृति है। अहङ्कृति का सम्बन्ध गोत्र से है। गोत्र और वर्ण को महत्त्व न देकर केवल जाति को महत्त्व देना मन और बुद्धि की उपेक्षा करके शरीर को महत्त्व देना है। एक ओर हम सभी मनुष्य आकृति की दृष्टि से एक ही मनुष्य जाति के हैं किन्तु मन और बुद्धि की विशेषता के कारण भिन्न भिन्न वर्ण और गोत्र के हैं किन्तु आकृति प्रकृति और अहङ्कृति तीनों से परे जो अव्ययात्मा है उस स्तर पर मनुष्य ही क्या प्राणिमात्र एक है क्योंकि उसका सम्बन्ध न आकृति से है न वर्ण से और न ही गोत्र से।

चतुर्थ अध्याय

कर्माधिकरण

ब्रह्माधिकरण में हमने ब्रह्मविज्ञान की चर्चा की और विश्वाधिकरण में भूत विज्ञान की। अब कर्माधिकरण में यज्ञ विज्ञान की चर्चा क्रम प्राप्त है क्योंकि भूत विज्ञान का आधार यज्ञविज्ञान है और यज्ञ विज्ञान का आधार ब्रह्म विज्ञान है। भूत विज्ञान का सम्बन्ध स्थूलशरीर से है यज्ञ विज्ञान का सम्बन्ध सूक्ष्मशरीर से है और ब्रह्म विज्ञान का सम्बन्ध कारणशरीर से है। भूतविज्ञान एक ओर ब्रह्म विज्ञान से नियन्त्रित होता है दूसरी ओर यज्ञ विज्ञान से। ब्रह्म विज्ञान से नियन्त्रित होने के कारण हमारे कर्म विवेकपूर्ण होते हैं और यज्ञ विज्ञान से नियन्त्रित होने पर हमारे मन की कामनाओं को पूरा करते हैं। कुल मिलाकर वैदिकदृष्टि से कर्म को ऐसा होना चाहिये कि वह विवेकपूर्ण भी हो और साथ ही हमारी कामनाओं की पूर्ति करने वाला भी हो।

कर्म विज्ञान

ज्ञान और क्रिया दोनों ही सर्वत्र व्याप्त हैं। इनमें ज्ञान का सम्बन्ध आत्मा से है। क्रिया का सम्बन्ध यज्ञ से है। वस्तुतः यज्ञ का ज्ञान ही विज्ञान है—*विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि च*। विज्ञान का अर्थ है—एक से अनेक हो जाना। यह यज्ञ द्वारा ही होता है इसलिए यज्ञ ही विज्ञान है। सृष्टि में एक महाक्रिया हो रही है जिसका आधार भी सत्ता है। इस महाक्रिया की आधार भूत सत्ता को ही ब्रह्म कहते हैं। सत्ता के दो प्रकार हैं—१ पारमार्थिक सत्ता वह है जिसके लिए किसी दूसरी सत्ता की आवश्यकता नहीं है। २ अनित्य सत्ता वह है जिसके लिए किसी अन्य सत्ता की आवश्यकता है। ज्ञान शक्ति पारमार्थिक सत्ता है क्रियाशक्ति अनित्यसत्ता है। एक क्रिया आती है दूसरी क्रिया चली जाती है। यही क्रियाशक्ति की अनित्यता है। वह धारारूप में प्रवहमान है। ज्ञान और क्रिया दोनों में मिथुनीभाव से सृष्टि बनी है। यही सृष्टि का मिथ्यात्व है।

क्रिया के विविध प्रकार

ज्ञान क्रिया में सहायक है क्रिया ज्ञान में सहायक है। इस प्रकार इन दोनों में परस्पर उपकार्य उपकारक भाव है। यदि हम संसार में उपलब्ध क्रियाओं पर ध्यान दें तो अनेक प्रकार की क्रियायें

उपलब्ध होंगी। उदाहरणत जब कुम्भकार चक्र को चलाता है तो अवयवी स्थिर रहता है उसके अवयव चलते हैं। इसके विपरीत यदि कुम्भकार चक्र को अपने सिर पर उठाकर ले जाय तो अवयवी चलेगा किन्तु अवयव स्थिर रहेंगे। जब घोडे रथ को खींचते हैं तो अवयवी चलता है और चक्र जो रथ के अवयव हैं वे भी चलते हैं किन्तु रथ के कुछ अवयव निष्क्रिय भी रहते हैं। अनेक क्षणिक क्रियाओं से मिलकर महाक्रिया बनती है इसलिए एक मत यह भी है कि क्रिया ही क्रिया का आधार है। दूसरा मत यह है कि क्रिया का आधार क्रिया नहीं हो सकता अपितु क्रिया का आधार प्रकृति है किन्तु पुरुष में कोई क्रिया नहीं होती समस्त क्रिया प्रकृति में ही होती है। कर्म और क्रिया में यह भेद है कि जब क्रिया ज्ञानविशिष्ट होती है तो कर्म कहलाता है। इसी प्रकार क्रिया से विशिष्ट ज्ञान ब्रह्म है। जिस प्रकार क्रिया के अनेक रूप हैं उसी प्रकार ज्ञान के भी तीन रूप हैं—विषय से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ब्रह्म है संस्कार से उत्पन्न होने वाला ज्ञान विद्या है शब्द से उत्पन्न होने वाला ज्ञान वेद है। ये तीनों ही ज्ञान हैं इनका भेद उपाधिकृत है। इसलिए इन तीनों को एक दूसरे के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त कर दिया जाता है।

निष्काम कर्म

वेद में तीन काण्ड हैं—कर्मकाण्ड उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। इनका सम्बन्ध क्रमश शरीर मन और आत्मा से है। प्रस्तुत अधिकरण में हमें कर्म का विवेचन करना है। कर्म शरीर में होता है। हमारा शरीर विराट का अग है। विराट अगी है। जैसे सभी अग अगी के लिए कर्म करते हैं उसी प्रकार हमें भी कर्म अपने लिए न करके विराट के सन्तोष के लिए करने चाहिये। इसे ही सामान्य भाषा में भगवान् की प्रसन्नता के लिए कर्म करना कहा जाता है। यही निष्काम कर्म का भी स्वरूप है। इसी अभिप्राय को लेकर यज्ञ के समय दी जाने वाली आहुति के बाद यह कहा जाता है कि यह आहुति अमुक देवता के लिए यह मेरी नहीं है—*इदन्न मम।*

यज्ञ का आधार

वेद का सिद्धान्त है कि जो देवताओं ने किया वही हम भी करें—*यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणि।* यज्ञ विज्ञान के आधार का भी यही सिद्धान्त है कि जैसा सृष्टि में चल रहा है उसी आधार पर वेद में यज्ञों का विधान है। प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण यज्ञ चल रहा है। वस्तुत कर्म मात्र यज्ञ है और यह कर्म प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण हो रहा है—*न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।* आज विज्ञान से यह सिद्ध हो गया है कि किसी परमाणु में भी कोई इलक्ट्रान या प्रोटान बिना गति के नहीं है। यदि गति न हो तो पदार्थ ही नष्ट हो जायें। क्वाण्टम सिद्धान्त के अनुसार समस्त विश्व क्वाण्टम अर्थात् ऊर्जा समूह से बना है। यह ऊर्जा समूह कभी स्थिर नहीं रहता। पदार्थों का नानात्व कर्म की विविधता के कारण ही है। इनमें जो अस्तित्व है वह प्रतिष्ठा है। उसे ही रस या ब्रह्म कहते हैं। उस अस्तित्व में जो उत्पत्ति स्थिति प्रलय हो रहा है वही कर्म है। कर्म ही यज्ञ है। *पाङ्क्तो वै यज्ञ* (शतपथ ब्राह्मण १ १ २ १६) के नियमानुसार यज्ञ के पाँच भेद हैं—आदान अर्पण उत्सर्ग भैषज्य और विकास।

आदानयज्ञ

जीवात्मा अपनी रक्षा के लिये जो दूसरी जीवात्मा से ग्रहण करता है वह आदान है। यह क्रिया केवल चेतन पदार्थों में ही नहीं जड पदार्थों में भी हो रही है। वनस्पति तो खाद और पानी के अभाव में मुरझा ही जाती है। सामान्यत जड समझे जाने वाले पदार्थ भी यदि उन्हें हवा और धूप न मिले तो जीर्ण होने लगते हैं। इससे यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि वे जड पदार्थ भी हवा और धूप में अन्न का ग्रहण करते हैं और उसी से अपनी सत्ता को सुरक्षित रख पाते हैं। जो धन वैभव और सम्पत्ति हमें मिलती है वह भी हमारी आत्मा को पुष्ट बनाती है। यह सब आदानयज्ञ का हिस्सा है।

अर्पण यज्ञ

जो कुछ हम दूसरे जीवात्मा को देते हैं, वह अर्पणयज्ञ है। जिस पदार्थ को हम दूसरे को दे देते हैं उस पर से अपना स्वत्व हटा लेते हैं और दूसरे का स्वत्व स्थापित कर देते हैं। जब हम अपना सर्वस्व दूसरे को अर्पित करते हैं तो उसे शरणागति कहते हैं। गीता में कहा है—

यत्करोपि यदश्नासि यज्जुहोपि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९ २७)

उत्सर्ग यज्ञ

अर्पण के समान उत्सर्ग में भी त्याग होता है किन्तु अर्पण में त्याग स्वेच्छा से किया जाता है उत्सर्ग पराधीन है। जैसे मल मूत्र का त्याग। उत्सर्ग की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें जो पदार्थ छोडा जाता है वह किसी को दिया नहीं जाता केवल उसका त्याग कर दिया जाता है। उत्सर्ग में ऐसे भी कार्य सम्मिलित किये जाते हैं जो किसी व्यक्ति विशेष के लिये न होकर सबके लिये होते हैं। उदाहरणत कुए तालाब बनवाना धर्मशाला बनवाना चिकित्सालय बनवाना आदि। जिस पदार्थ का अर्पण किया जाता है उसका भोग अर्पण करने वाला स्वय नही कर सकता। किन्तु उत्सर्ग के पदार्थ सार्वजनिक होते हैं उनका उपयोग हम स्वय भी कर सकते हैं। जैसे मेरे द्वारा बनवायी धर्मशाला में मैं स्वय भी ठहर सकता हूँ। इस प्रकार के कार्यों से विश्व समृद्ध होता है। नये आविष्कारों से भी विश्व को समृद्धि करना अथवा नये ग्रन्थ निर्माण से विश्व की ज्ञान वृद्धि करना उत्सर्गयज्ञ में ही आते हैं। स्त्री और पुरुष अपने शुक्र और शोणित का उत्सर्ग करके सन्तानोत्पत्ति द्वारा विश्व को समृद्ध बनाते हैं। यह भी उत्सर्ग यज्ञ का ही हिस्सा है।

भैषज्य यज्ञ

अन्न का आदान मुख्यत भैषज्य यज्ञ है किन्तु अन्न कवल मुख स भोजन करना ही नहीं है हम अनेक प्रकार से अन्न ग्रहण करते हैं। जब हम थके होते हैं और थकान मिटाने के लिये थोडी देर बैठ जाते हैं तो विश्राम कर लेने मात्र से हमारी थकान दूर हो जाती है क्योंकि हमारे चारों

ओर फैले हुए प्राण मण्डल से हम प्राण ग्रहण कर लेते हैं। यह भैषज्य यज्ञ है क्योंकि इससे हमारी थकावट की चिकित्सा हो जाती है। इस प्रक्रिया को भी यज्ञ कहा जाता है—

अन्योर्न्यप्राणानामन्योन्यपरिग्रहो यज्ञः।

विकास यज्ञ

किसी पिण्ड का महिमामण्डल निरन्तर उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। इसे विकास यज्ञ कहते हैं। उदाहरणतः पृथिवी का महिमामण्डल जो रथन्तर साम कहलाता है, वह पृथिवी का विकास यज्ञ है और सूर्य का महिमा मण्डल जो बृहत्साम कहलाता है उसका विकास यज्ञ है। इसी प्रकार बीज का अंकुर बनते हुए फूल फल की स्थिति में आना उसका विकासयज्ञ है। यह विकास महिमामण्डल तक होता है। पृथिवी के महिमामण्डल के तीन पृष्ठ हैं—रोदसी क्रन्दसी और सयती। यही बात प्रत्येक पिण्ड के सम्बन्ध में कही जा सकतीहै। इस महिमामण्डल के अन्तिम छोर तक पहुच जाना ही स्वर्ग है।

इन पाचों यज्ञों में आदानयज्ञ से अर्पण यज्ञ और अर्पणयज्ञ से भी उत्सर्ग यज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि अर्पण यज्ञ में एक व्यक्ति का ही भला होता है उत्सर्ग यज्ञ में सबका भला होता है। आदान यज्ञ अथवा भैषज्य यज्ञ में हम जो कुछ भी विश्व से लेते हैं वह हम पर ऋण है और उस ऋण को चुकाने के लिये ही ब्रह्मयज्ञ ऋषियज्ञ देवयज्ञ भूतयज्ञ तथा मनुष्ययज्ञ नामक पञ्च महायज्ञ शास्त्र में विहित हैं।

देव समष्टि से पदार्थ का निर्माण होता है। देव ऊर्जा है और ऊर्जा कर्म से पुष्ट होती है इसलिये यज्ञ को देवताओं का अन्न कहा गया है—*यज्ञो हि देवानामन्नम्*। इसलिये यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा है—*यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म।*

विकास का अर्थ—

इन पाँच यज्ञों की अवधारणा से विकास की वैदिक अवधारणा स्पष्ट हो जाती है। प्रथम तथ्य तो यह है कि विकास के लिये जितना आवश्यक ग्रहण करना है उतना ही आवश्यक देना भी है। इसी दृष्टि से तप और दान की भी महिमा है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक विकास एक सामा में ही होता है। जहाँ तक किसी पदार्थ या व्यक्ति का प्रभाव क्षेत्र हो नहीं है वहाँ उसका विकास नही हो सकता। अपने प्रभाव क्षेत्र के अन्तिम छोर तक पहुच जाना ही स्वर्ग है। अभ्युदय की यही चरम सीमा है।

यज्ञ से सृष्टि

वेद में बारम्बार यह कहा गया है कि यज्ञ से सृष्टि होती है। सृष्टि दो पदार्थों के मिलने से होती है। दो पदार्थों का मिलना ही यज्ञ है। सृष्टि का प्रथम पर्व स्वयम्भू सृष्टि का अङ्ग नही है। स्वयम्भू में ऋक् यजु और साम तीनों हैं। ये क्रमशः मन प्राण और वाक् हैं किन्तु इन तीनों का कोई परस्पर सम्बन्ध स्वयम्भू में नहीं होता।

गोसव यज्ञ

ऋक् यजु और साम में यजु यत् और जू दो तत्वों से बना है। यत् वायु है जू आकाश। इनमें वायु ही गतिशील है। वही सृष्टि का मूल कारण है वही प्राण है। यह प्राण परमेष्ठी में आकर यज्ञ करता है। इस यज्ञ से आप उत्पन्न होता है। परमेष्ठी के तीन मनोता हैं—भृगु अंगिरा और अत्रि। इनमें भृगु और अंगिरा का मिश्रण ही आप है। भृगु की घन तरल और विरल भेद से तीन अवस्थाएं हैं—आप वायु और साम। अंगिरा की भी तीन अवस्थाएं हैं—अग्नि वायु और आदित्य। भृगु और अंगिरा के ससर्ग से *अग्नीषोमात्मक जगत् बनता है*। परमेष्ठी में होने वाला यज्ञ ही गौ है—यज्ञो वै गौ (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ ९ ६) यह गोसव यज्ञ ही समस्त सृष्टि का मूल है। इसलिये सब कुछ गौ ही है—*गौर्वा इद सर्वम्* (शतपथ ब्राह्मण ३ १ २ १४) परमेष्ठी में इस होने वाले यज्ञ में मन प्राण और वाक् का परस्पर सम्बन्ध बनता है। यह सम्बन्ध ही गोसवयज्ञ है। परमेष्ठी से जब यह गौ सूर्य और पृथिवी में आती है तो सूर्य के तीन मनोताओं—ज्योति गौ और आयु—में से एक बनती है और इसी प्रकार पृथिवी के तीन मनोताओं—वाक् द्यौ और गौ—में से एक बनती है। सूर्य की ज्योति पृथिवी में द्यौ बन जाती है और सूर्य की आयु पृथिवी में वाक् बन जाती है। ये ही मन प्राण और वाक् हैं। मन की कामना प्राण का तप और वाक् का श्रम ही सृष्टि उत्पन्न करता है। इस प्रकार यज्ञ से ही समस्त सृष्टि बनती है। परमेष्ठी के गोसवयज्ञ का वर्णन ताण्डय ब्राह्मण में इस प्रकार है—*गोसव स्वाराज्यो वा एष यज्ञ* (ताण्ड्य ब्राह्मण १९ १३ १) । परमेष्ठी मण्डल विष्णु का लोक है। उसी विष्णु लोक में गौओं के होने का वर्णन यजुर्वेद में इस भाषा में है—

या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयास ।
अत्राह तदुरुगायस्य विष्णो परम पदमवभाति भूरि ॥
(यजुर्वेद ६ ३)

प्राक्सौमिकयज्ञ तथा सप्तसस्थ सोमयज्ञ

शतपथ ब्राह्मण का कहना है कि आहुति ही यज्ञ है—*आहुतिर्यज्ञ* (शतपथ ब्राह्मण ३ १ ४ १) । अग्नि में सोम की आहुति देना सोमयज्ञ है तथा अग्नि में अग्नि की आहुति देना चयनयज्ञ है। सोमयज्ञ से पूर्व या यज्ञ किये जाते हैं उन्हें प्राक्सौमिक यज्ञ कहते हैं। ये पाच हैं—अग्न्याधान अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य और पशुबन्ध। इन पाच के करने के अनन्तर जो सोमयज्ञ किया जाता है वह सात प्रकार का है—*अग्निष्टोम अत्यग्निष्टोम, उक्थ्यस्तोम* षोडशीस्तोम वाजपेयस्तोम अतिरात्रस्तोम और आप्तोर्यामस्तोम। ये सब ज्योतिष्टोम कहलाते हैं—*अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्य षोडशी वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्तोर्याम इति सस्था* (आश्वलायन श्रौतसूत्र ६।११।१) ।

इस ज्योतिष्टोम से ही स्वर्ग की प्राप्ति होना प्रसिद्ध है—*ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत*।

इन यज्ञों में अग्न्याधान से लेकर पशुबन्ध यज्ञ तक का सम्बन्ध काल से है। सक्षेप में वह सम्बन्ध इस प्रकार है—

कालखण्ड	कालावधि	सम्बद्ध यज्ञ
अहोरात्र	एकाह	अग्नि होत्र
शुक्ल कृष्ण पक्ष	अहीन (दश अहोरात्र)	दर्श पौर्णमास
ऋतु	रात्रिसत्र (सौअहोरात्र)	चातुर्मास्य
अयन	अयन सत्र (सहस्र अहोरात्र)	पशुबन्ध
सवत्सर	सोमयाग (द्वादशमास)	सोमयाग

उपर्युक्त पाँच प्राक्सौमिक यज्ञों का रूप थोडा विस्तार से जानना होगा किन्तु इससे पूर्व यह जान लेना चाहिये कि हमने जिन सात ज्योतिष्टोमों का उल्लेख किया है वे सवत्सर में वितत रहने वाली ज्योतिर्याग की सात सस्थाए हैं जिनमें अग्निष्टोम प्रथम है और आप्तोर्याम अन्तिम। इस सस्था का आप्तार्याम नाम इसलिये है कि इस सस्था में अग्नि अप्त अर्थात् सोम बन जाता है क्योंकि अग्नि ही अपनी चरम अवस्था में सोम और सोम ही अपनी चरम अवस्था में पहुचकर अग्नि बनता है। पृथिवी से इक्कीसवें अहर्गण तक जो अग्नि है वह चार स्तोमों में बटी है—*त्रिवृत्, पञ्चदश सप्तदश और एकविंश।* ये ही प्रसिद्ध चार ज्योतिष्टोम हैं जिन्हें चतुष्टोम कहा जाता है। ज्योतिष्टोम यज्ञ ही विष्णु है और य चतुष्टोम पौराणिक भाषा में यज्ञमूर्ति ज्योतिष्टोम विष्णु की चार भुजाए कहलाती हैं। इन चार ज्योतिष्टोमों को ही क्रमश अग्निष्टोम अत्यग्निष्टोम उक्थ्यस्तोम और षोडशीस्तोम कहा जाता है।

सवन

अग्नि में घृत की आहुति देने को जिस प्रकार हवन कहते हैं उसी प्रकार अग्नि में सोम की आहुति देने को सवन कहते हैं। प्रात कालीन मध्यकालीन और सायकालीन तीन सवन सोमयज्ञ अथवा सवयज्ञ में होते हैं। अग्नि में डाला हुआ सोम सुत कहलाता है।

यज्ञ से स्वर्ग

जहा तक ज्योतिष्टोम का सम्बन्ध है उसके लिये यह समझना आवश्यक है कि सूर्य के तीन मनाता हैं—ज्याति गौ आर आयु। इन्हें समझने के लिये इस रूप में समझा जा सकता है कि ज्योति से अध्यात्म क देवता गौ से भूत अर्थात् हाड मास इत्यादि और आयु से आत्मा बनता है। ये तीनों ही सूर्य के मनाता सूर्य अर्थात् स्वर्ग तक पहुचने के साधन बन सकते हैं। जब ज्योति को माध्यम बनाकर स्वर्ग प्राप्ति के लिए यज्ञ किया जाता है तो वह ज्योतिष्टोम कहलाता है। जब गौ अर्थात् भूत भाग का माध्यम बनाकर यज्ञ किया जाता है तो वह गोष्टोम यज्ञ कहलाता है और जब आयु अर्थात् आत्मा को माध्यम बनाकर यज्ञ किया जाता है तो वह आयुष्टोम में यज्ञ कहलाता है।

इन तीनों ही यज्ञों म जिस द्रव्य की आहुति दी जाती है वह सत्रहवें अहर्गण तक पहुच जाता है और उसी के माध्यम स अध्यात्म अग्नि भी सत्रहवें अहर्गण तक पहुच जाता है। यही ज्योतिष्टोम द्वारा स्वर्ग प्राप्त करने का अर्थ है।

यज्ञ आर काल

जहा तक प्राक्सौमिक और सोमयाग का प्रश्न है जैसा कि हम ऊपर बता चुके है इन सभी यज्ञा का सम्बन्ध काल स है। काल का मबसे बडा खण्ड सवत्सर है और सबसे छाटा खण्ड अहोरात्र को माना गया है। सोमयज्ञ तथा सोमयज्ञ क पूर्व सम्पादित किये जाने वाले इन सभी यज्ञों का प्रयाजन यह है कि यजमान सवत्सर की दिव्याग्नि का आत्मसात् कर सके किन्तु एक साथ सवत्सर की अग्नि का आत्मसात् करना सम्भव नही है। इसलिये सर्वप्रथम अग्निहोत्र द्वारा अहोरात्र की दिव्याग्नि का यजमान अपनी अध्यात्म अग्नि में स्थापित करता है। अहोरात्र क अनन्तर पक्ष की अग्नि दा चातुमास क द्वारा उत्तरायण और दक्षिणायन अग्नि को पशु बन्ध द्वारा और सवत्सर अग्नि का सोमयाग द्वारा आत्मसात् किया जाता है किन्तु इन सबसे पूर्व भी अध्यात्म की पार्थिव अग्नि में दिव्य अग्नि का आधान किया जाना आवश्यक है। पार्थिव अग्नि में इस दिव्य अग्नि के आधान को ही अग्न्याधान कहते हैं। जब तक अध्यात्म में दिव्याग्नि का आधान नहीं होगा तब तक अहोरात्र से लकर सवत्सर अग्निपर्यन्त किसी भी अग्नि का आधान अध्यात्म अग्नि में नही हो सकता। इसलिए जिसने अग्न्याधान नही किया वह अग्निहोत्र से लेकर सामयज्ञ तक किसी भी यज्ञ का अधिकारी नही है।

यहा यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि इन सभी यज्ञों में चातुर्मास्य यज्ञ दो प्रकार का है—ऋतुचातुर्मास्य और अन्नचातुर्मास्य। पुन ऋतुचातुर्मास्य भी तीन प्रकार का है—वसन्त ग्रीष्म और वर्षा। इसी प्रकार अन्न चातुर्मास्य भी तीन प्रकार है—व्रीहि यव और श्यामाक। अन्नचातुमास्य का आग्रायणेष्टि कहते हैं। शीत ऋतु में व्रीहि स की जाने वाली दृष्टि व्रीह्याग्रायणेष्टि कही जाती है। ग्रीष्म में यव से की जाने वाली इष्टि यवाग्रायणष्टि कही जाती है तथा वर्षा में श्यामाक से की जाने वाली दृष्टि श्यामाकाग्रायणेष्टि कही जाती है। इसी प्रकार ऋतुचातुर्मास्य भी तीन प्रकार का है—वैश्वदेव वरुणप्रधान और शाकमेध। अग्न्याधान सहित अग्निहोत्र दर्शपूर्ण मास आग्रायणचातुर्मास्य ऋतुचातुमास्य और आयन मे जो छ यज्ञ किये जाते हैं ये हविर्यज्ञ कहलाते हैं।

सप्त सस्या वाले ज्योतिष्टोम से स्वर्ग की प्राप्ति होती है—यह ऊपर कहा जा चुका है किन्तु सोमयज्ञ में इतनी शक्ति नहीं है कि वह मुक्ति की प्राप्ति करवा सके। जा मानुषात्मा सोमयज्ञ क बल से सूर्य तक जाती है यज्ञबन्न के नष्ट होने पर वह पुन पृथिवी पर लौट आती है। इसी सम्बन्ध में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि *क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति।*

यज्ञ से मुक्ति

मुक्ति के लिये सामयज्ञ न करके चयनयज्ञ करना हाता है। इस चयन यज्ञ क द्वारा पार्थिव अग्नि पर दिव्याग्नि की चिति की जाती है। वस्तुस्थिति यह है कि पार्थिव अग्नि में दिव्याग्नि प्राकृतिक रूप में आती रहती है जिसके परिणाम स्वरूप वैश्वानर अग्नि बनती है। ये दानों अग्नि परस्पर विरुद्ध दिशा से आकर जो घर्षण करती है उसी से वैश्वानर अग्नि उत्पन्न होती है जिसक

कारण शरीर में ताप रहता है। इस वैश्वानर अग्नि का आदित्यभाग प्राण पार्थिव भाग अपान और आन्तरिक्ष्य भाग व्यानप्राण का संचार करता है। आदित्य से आने वाला प्राण जब अन्तरिक्ष के व्यान से टकराकर वापिस लौटता है तो उसे उदान कहते हैं और पृथिवी से आने वाला प्राण जब अन्तरिक्ष के व्यान से टकराकर वापिस लौटता है तो उसे अपान कहते हैं। इस प्रकार तीन अग्नियों से पञ्चप्राण उत्पन्न होते हैं—यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। चयन यज्ञ के द्वारा जो दिव्याग्नि पार्थिव अग्नि पर आती है वह केवल आघात प्रत्याघात न करके यज्ञ की प्रक्रिया के कारण चिति को प्राप्त हो जाती है अर्थात् अग्नि की एक सतह पर दूसरी सतह जमने लगती है। इस प्रकार दिव्याग्नि की मात्रा बढ़ जाती है।

चयन यज्ञ से गर्भ निर्माण

प्रकृति में यह चितियज्ञ प्रत्येक प्राणी की उत्पत्ति का कारण बनता है। जब स्त्री पुरुष का संयोग होता है तो प्रथम चिति उनके शोणित और शुक्र के मिलने से होती है जिसे अन्नमय चिति कहा जाता है। स्त्री और पुरुष जो बल लगाते हैं वह दूसरी प्राणमय चिति है। उनका एक दूसरे के प्रति प्रेम अथवा काम मनोमय चिति करता है और उनका एक दूसरे के अभिप्राय को जानना विज्ञानमय चिति को बनाता है। दोनों का आनन्द पाचवी चिति आनन्दमय चिति बनाता है। इन पांच चितियों से ही गर्भ में बालक का निर्माण होता है। इनमें से यदि किसी एक चिति का भी अभाव रह जाय तो उस दशा में गर्भाधान हो नहीं होगा।

तीन शरीर

इन पाँच चितियों में से प्रथम दो—अन्न और प्राण—पर पुन तीन चितियाँ होती हैं जिन्हें पुनश्चिति कहा जाता है। ये पुनश्चिति तीन हैं—बीजचिति देवचिति और भूतचिति। बीजचिति का अर्थ है—जीवात्मा की गति का कारण। ये कारण तीन हैं—विद्या अविद्या और कर्म। केवल विद्या से मुक्ति मिलती है। विद्यायुक्त कर्म से स्वर्ग मिलता है और अविद्या युक्त कर्म से नरक। विद्या तीन प्रकार की है—निर्विकल्पज्ञान सविकल्पज्ञान और वास्तुज्ञान। अविद्या पाच प्रकार की है—अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश। कर्म दो प्रकार के हैं—पाप और पुण्य। कर्म फल तीन भागों में बटे हैं—जाति आयु और भोग।

जहा तक देवचिति का सम्बन्ध है—यह प्राणों से होती है और भूतचिति भूतों से। प्राण पाँच हैं—आकाश पर्जन्य सूर्य चन्द्र और पृथिवी। यहा पर्जन्य का अर्थ एक प्रकार की वायु है। ये पाँचों देवता प्राण हमारे शरीर में अन्तश्चर होकर धातुओं का निर्माण करते हैं तथा बहिश्चर होकर भौतिक पदार्थों के शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध को ग्रहण करके शरीर के अन्दर पहुचाते हैं। ये प्राण स्वर्गचर होकर देवताओं के रसों को हमारे शरीर के अन्दर पहुचाते हैं और उपास्य रूप में शरीर तथा आत्मा की पुष्टि करते हैं। जब ये पाँच देव अन्तश्चर होते हैं तो प्राण अपान समान उदान और व्यान इन नामों से जाने जाते हैं जब ये बहिश्चर होते हैं तो मन वाक् प्राण चक्षु और श्रोत्र नामों से जाने जाते हैं जब स्वर्गचर होते हैं तो आकाश पर्जन्य सूर्य सोम और अग्नि नाम से जाने जाते हैं और जब उपास्य होते हैं तो तेज अथवा श्री यश अथवा कीर्ति ओज

मह और ब्रह्मवर्चस नाम स जाने जाते हैं। यह देवचिति का विस्तार हुआ। जो इन पाच देवचितियों का भी ध्रुव निरञ्जन आधार है। वह ज्योतिरूप है। वही विज्ञानात्मा कहलाता है।

इन पाच देवचितियो का भूतभाग पाँच भूतचिति बनाता है। आकाश से आकाश पर्जन्य से वायु सूर्य स तेज चन्द्र से जल और पृथिवी से पृथिवी आकर हमारी आत्मा में सन्निविष्ट होते हैं।

इस प्रकार आनन्द विज्ञान मन प्राण और वाक् पॉच चितियों और बीजचिति देवचिति तथा भूतचिति इन तीन पुनश्चितियों से जो आत्मा का स्वरूप बनता है वही अन्न भोगता है। आत्मा के द्वारा अन्न का भोगा जाना भी यज्ञ का ही एक रूप है क्योंकि जो अन्न हम लेते हैं वह अग्नि में आहुति बनकर ही आत्मा का जीवन बनता है। द्यौ से आने वाले प्राण का जब पृथिवीस्थानीय प्राण से घर्षण होने पर वैश्वानर अग्नि उत्पन्न होती है तो भौतिक अन्न ही उस अग्नि में आहुति बनकर उसकी रक्षा करता है। भौतिक अन्न तो शरीर में चलने वाले यज्ञ का साधन है ही किन्तु दैविक अन्न भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। योगी इस दैविक अन्न के बल पर भौतिक अन्न के बिना भी शरीर की अग्नि को बनाये रखते हैं किन्तु साधारण मनुष्यों के लिये यह सम्भव नहीं है। उन्हें यदि भौतिक अन्न मिले तो उनके शरीर की अग्नि शान्त होने के कारण उनकी मृत्यु हो जाती है। स्वभावत मनुष्य के शरीर में दैविक अन्न १४४ या १०८ वर्ष तक आते रहना चाहिये और यही मनुष्य की स्वाभाविक आयु है।

अन्नयज्ञ

इसी दृष्टि से अन्न का यज्ञ नाम है। अन्न ही साम है। अन्न से ही समस्त शरीरों का निर्माण होता है। हमारे अन्नमयकोश के भीतर प्राणमय कोश हैं। प्राण भी देवता हैं। इन्हीं के कारण सब कुछ उत्पन्न होता है—*जायमानो वै जायते सर्वाभ्य एताभ्य एव देवताभ्य*। इसीलिये यज्ञ को देवताओं का अन्न कहा जाता है—*यज्ञो हि देवानामन्नम्*। यह यज्ञ प्रतिदिन चलता रहता है—*अहरहर्वा एष यज्ञस्तायते*। यह यज्ञ पदार्थ के महिमामण्डल तक जाता है। यह महिमा मण्डल ही स्वर्ग है। महिमामण्डल के तीन भाग हैं रोदसी क्रन्दसी और संयती। रोदसी का सम्बन्ध द्युलोक से है। यही सूर्य लोक है यही स्वर्ग लोक है। यहीं तक यज्ञ का वितान है। जिस अग्नि से पिण्ड बनता है वह अग्नि अन्न की आहुति से वर्धमान होकर इक्कीसवें अहर्गण तक जाता है क्योंकि कोई पदार्थ इस यज्ञ की प्रक्रिया से बहिर्भूत नहीं है। इसलिये जो यज्ञ करने वाला है वह स्वय भी यज्ञ है और जहां यज्ञ किया जाता है वह भी यज्ञ है। इस यज्ञ से ही यज्ञ होता है—*यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा*।

चित् और चिति

प्रश्न होता है कि चिति एक पर दूसरे की होती है तो प्रथम चिति का आधार क्या है? सब चितियों का आधार चित् है। चित् ही आत्मा है। चित् का अर्थ है जो चयन करे अथवा जिस पर चयन हो अथवा जिसका चयन हो। आत्मा ही आत्मा पर अपनी ही चिति बनती है। इसलिये

समस्त विस्तार आत्मा का ही है। यह चित् ही परात्पर है। इस दृष्टि से देखें तो *सर्वं खल्विदं ब्रह्म* ठीक प्रकार से समझ में आता है। चित् के बीजचिति रूप से कारण शरीर देवचिति रूप से सूक्ष्म शरीर और भूतचिति रूप से स्थूलशरीर बनता है। ये तीनों ढेर हैं इसलिये देह कहलाते हैं। समुच्चय हैं इसलिये काय कहलाते हैं और मुख्य आत्मा से शीर्ण हो जाते हैं इसलिये शरीर कहलाते हैं। आत्मा इन्हें विशेष रूप से ग्रहण करती है इसलिये विग्रह कहलाते हैं। ये आत्मा का विस्तार करते हैं इसलिये तनु कहलाते हैं। सीमित होने के कारण ये पुर कहलाते हैं तथा आत्मा इनमें रहने के कारण पुरुष कहलाता है।

माया तथा अविद्या

कारण शरीर में रहने वाली विद्या विद्या से अविद्या अविद्या से और कर्म कर्म से पुष्ट होता रहता है। भोगने से इनका क्षय भी होता है किन्तु इन तीनों के नये नये उत्पन्न होते रहने के कारण कारणशरीर मुक्तिपर्यन्त सदा ही बना रहता है। यदि जीव विद्या को बढ़ाकर अविद्या को कम कर दे तो वह ईश्वर रूप हो जाता है। इसे ही सगुण मुक्ति कहा जाता है। जीव के ईश्वर बन जाने का रहस्य यह है कि जीव में अविद्या और माया दोनों रहती हैं। अविद्या बन्धन का कारण है माया निर्माण का कारण है। ईश्वर माया के कारण निर्माण करता है किन्तु अविद्या के अभाव में बन्धन में नहीं बँधता। जीव माया के कारण निर्माण तो करता ही है अविद्या के कारण बन्धन में भी बँध जाता है। जैसे ही जीव अविद्या से छूटता है वैसे ही वह माया रहने पर भी ईश्वर से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। उसकी माया अभी नहीं छूटी इस कारण ही उसे सगुण रूप से ही मुक्त माना जाता है निर्गुण रूप से नहीं।

कारणशरीर में रहने वाले काम कर्म और शुक्र तीनों अविद्या से उत्पन्न हुए हैं। कामवश आत्मा सीमित हो जाता है और असीम होने के लिए व्याकुल हो जाता है। यही असीम होने की इच्छा प्रत्येक जीव में उद्विग्नता के रूप में दृष्टिगोचर होता है। काम जहां व्यक्ति को व्याकुल बनाता है ज्ञान व्यक्ति को तृप्त करता है। यह ज्ञान से मिलने वाली तृप्ति ही काम रूपी अविद्या को समाप्त कर सकती है। इस तृप्ति के दो साधन हैं—भक्ति और ज्ञान। निष्काम कर्म दोनों ही मार्गों में आवश्यक है। वस्तुतः काम ही हमारे पुनर्जन्म का कारण है।

कर्म विकर्म और अकर्म

अविद्या के सर्वथा समाप्त हो जाने पर तो मुक्ति हो जाती है किन्तु अविद्या से युक्त जीव काम कर्म और शुक्र से युक्त रहता है। इनमें जहां तक काम का सम्बन्ध है भक्ति अथवा ज्ञान से उत्पन्न होने वाली तुष्टि ही कामना में उत्पन्न होने वाली उद्विग्नता को समाप्त कर सकती है। जहाँ तक कर्मों का सम्बन्ध है ये चार प्रकार के हैं १ विद्यासापेक्ष २ विद्यानिरपेक्ष ३ विद्याविरोधी ४ निष्प्रयोजन। इन चार को गीता में तीन भागों में बांटा गया है विद्यासापेक्ष तथा विद्यानिरपेक्ष कर्म हैं विद्याविरोधी विकर्म है और निष्प्रयोजन अकर्म है। विद्यासापेक्ष कर्म में केवल शरीर और मन ही नहीं बुद्धि का भी सहयोग लिया जाता है। विद्या रूपी कर्म में केवल बुद्धि का सहयोग ही नहीं लिया जाता अपितु वह बुद्धि को उत्पन्न भी करता है। ऐसे कर्म से आत्मा का अभ्युदय

होता है। विद्यानिरपेक्ष कर्म से केवल शरीर और मन का सस्कार होता है। विद्याविरोधी कर्म रजोगुण और तमोगुण से मलिन बुद्धि से किये जाते हैं। इसलिये उन्हें विद्याविरोधी माना जाता है। ये आत्मा के पतन के कारण हैं। इसलिए इन्हें पाप कहा जाता है। निरर्थक कर्म मनोरजन के लिए किये जाते हैं किन्तु बुद्धि में बाधक हैं।

विद्यासापेक्ष कर्मों में दो प्रकार के कर्म आते हैं—ज्ञानविशेषक और दैवलौकिक। ज्ञानविशेषक कर्म वे हैं जिनसे ज्ञान उत्पन्न होता है। यह ज्ञान पाच प्रकार का है—नित्यविशुद्धब्रह्मज्ञान निर्गुणब्रह्मज्ञान सगुणब्रह्मज्ञान दिव्यज्ञान और इन्द्रियज्ञान। इनमें प्रथम दो ज्ञानों में कर्म का स्पर्श नही रहता है। इनमें नित्यविशुद्ध ब्रह्मज्ञान परब्रह्म का है निर्गुण ब्रह्मज्ञान जीव में ऐसे कर्मों से उत्पन्न होता है जिनसे कर्मों की निवृत्ति होती है। इससे जीव की परामुक्ति होती है। सगुण ब्रह्मज्ञान में गुण निवृत्त नहीं होते किन्तु अविद्या के बहुत से दोष निवृत्त होते हैं। इसे उपासना कहा जाता है। इससे अवर मुक्ति होती है। इस मुक्ति में स्वामी सेवक भाव बना रहता है। इसमें अपने प्रति हीनता का भाव तथा स्वामी के प्रति उत्कृष्टता का भाव बना रहता है। इसी कारण दुःख भी बना रहता है। इसलिए इसे अवर मुक्ति कहते हैं। कुछ कर्म ऐसे हैं जिनसे दिव्यज्ञान उत्पन्न होता है। दिव्यज्ञान के उत्पन्न होने पर अष्टसिद्धिया प्राप्त हो जाती है जो इस प्रकार है—१ अणिमा—छोटा शरीर धारण करने की शक्ति। २ महिमा—विशाल शरीर धारण करने की शक्ति। ३ लघिमा—हल्के होने की शक्ति। ४ गरिमा—भारी होने की शक्ति। ५ व्याप्ति—बहुत देश में व्यापक होने की शक्ति। ६ प्राकाम्य—इच्छासिद्धि। ७ ईशित्व—अनेक प्राणियों पर प्रभुत्व। ८ वशित्व—सर्वराक्षस आदि को वशीभूत कर लेना।

इन अष्टसिद्धियों के अतिरिक्त दिव्यज्ञान से निम्न शक्तिया भी प्राप्त हो जाती है जिन्हें तुष्टिया कहा जाता है १ भूतभविष्य का ज्ञान २ दूरदृष्टि ३ दूरश्रवण ४ परकायप्रवेश ५ कायव्यूह अर्थात् एक समय में अनेक रूप धारण करना। ६ जीवदान अर्थात् मृत को जीवित करना। ७ परजीव हरण अर्थात् जीवित को समाप्त कर देना। ८ सर्ग अर्थात् नयी सृष्टि करना। ९ सर्गहरण अर्थात् सहार करना।

पाचवा ज्ञान इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला ज्ञान है इसके लिए किसी कर्म की आवश्यकता नही है। इन पाचों ज्ञानों में पहले दो ज्ञानों के लिए ज्ञानपूर्वक कर्म आवश्यक है। इनमें दूसरे निर्गुण ब्रह्मज्ञान के लिए निवृत्ति कर्म सगुण ब्रह्मज्ञान के लिए उपासना कर्म और दिव्यज्ञान के लिए यागकर्म चाहिये। ये सभी कर्म विद्यासापेक्ष कहे जाते हैं।

विद्यासापेक्ष कर्मों में दूसरी कोटि दैवलौकिक कर्मों की है इसके द्वारा देवलोक अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति होती है। ये कर्म तीन हैं—यज्ञ तप और दान। मनुष्य में दो तत्त्वों का मिश्रण है—दैवात्मा और मानुषात्मा। मृत्यु के समय ये दोनों पृथक् हो जाती हैं। दैवात्मा सूर्य की ओर जाती है मानुषात्मा पृथिवी की ओर। यह मानुषात्मा ही हसात्मा कहलाती है। हसात्मा वायु प्रधान है जबकि दैवात्मा अग्निप्रधान है। दैवात्मा जब सूर्य की ओर जाना चाहता है तो कर्म बाधक बनते हैं। यज्ञ तप और दान ये तीन ऐसे कर्म हैं जो सूर्य विरोधी कर्म को निर्बल बनाते हैं और सूर्य की ओर जाने की शक्ति को बढाते हैं। इन्हीं तीन को हमने विद्यासापेक्षदैवलौकिककर्म कहा है। इनमें

१०.१२९.२) । आनीत् शब्द में प्र उपसर्ग नहीं है। यह ऊर्जा का स्थैतिक (potential) रूप है। इसी बात को अक्रिया सूचक "अवातम्" शब्द के प्रयोग द्वारा वेद ने स्पष्ट किया है। जब मन की कामना गति उत्पन्न करती है तो ऊर्जा का गतिक (kinetic) रूप प्राप्त होता है। ऊर्जा का यह गतिक रूप ही सृष्टि का निर्माण करता है। ऊर्जा का यह गतिक रूप प्रकृष्टता के कारण प्र+ अन= प्राण कहलाते है। इस प्राण के ही विविध रूप विविध देव हैं क्योंकि इस प्राण के माध्यम से ही पदार्थ मन में तथा मन पदार्थ में परिणत होता है अतः ऐसा कहा जाता है कि प्राण से यज्ञ निष्पन्न होता है—*प्राणैरु यज्ञस्तायते* (जैमिनीय ब्राह्मण २.४३१) । इसी प्रकार—*प्राणेन यज्ञः सन्ततः* (मैत्रायणी संहिता ४.६.२) ।

वाक् तथा मन के बीच की श्रृङ्खला प्राण की रज्जु

प्राण मन तथा पदार्थ के बीच की कड़ी है। प्राण मानों एक रस्सी है जिसके दो छोरों में से एक छोर से मन बंधा है दूसरे छोर से पदार्थ और इस प्रकार मन तथा पदार्थ का परस्पर सम्बन्ध हो जाता है। मन सूक्ष्म है पदार्थ स्थूल ये दोनों सीधे आपस में नहीं जुड सकते। प्राण जो कि न बहुत सूक्ष्म हैं न बहुत स्थूल मध्यवर्ती बनकर इन दोनों को जोड देता है—*प्राण एव रज्जुः। प्राणेन हि मनश्च वाक् चाभिहिते* (शतपथ ३.१.४.२) ।

मन की कामना प्राण की गति द्वारा अपूर्व की उत्पत्ति करती है

प्राण के माध्यम से मन का पदार्थ से जुडने का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है—मन की कामना प्राण को गति देती है तथा प्राण की गति वाक् अर्थात् पदार्थ का निर्माण करती है। मन की कामना यज्ञ की परिभाषा में सङ्कल्प है। प्राण में गति देवों की स्तुति से होती है तथा उसी गति से पदार्थ का निर्माण अपूर्वोत्पत्ति है। यजमान के सङ्कल्पानुकूल अपूर्वोत्पत्ति हो जाये इसी में यज्ञ की सफलता है। ऋत्विज यह जानता है कि किस सङ्कल्प की पूर्त्यर्थ किस प्राण अर्थात् देव की किस मन्त्र से स्तुति की जाये कि वह प्राण अथवा देव उस सङ्कल्पानुकूल गति करके अभीष्ट पदार्थ को दे दे। ऋत्विज का यही ज्ञान विज्ञान है। जिस ऋत्विज को इस यज्ञविज्ञान का समीचीन ज्ञान नहीं उसके द्वारा सम्पादित यज्ञ अभीष्ट फल नहीं देगा।

यज्ञ की सफलता के आठ हेतु

यज्ञ की सफलता के लिये शतपथ ब्राह्मण ने दीक्षा लेते समय यजमान से आठ पदार्थों की अपेक्षा की है—आकूति प्रयुक् मेधा मन दीक्षा तप सरस्वती तथा पूषा। इन आठ के बिना मानुषात्मा में दिव्यात्मा का आदान नहीं हो सकता। इन आठ के कारण हमारा प्राण ऊर्ध्वगामी होता है अतः ये औद्ग्रभण कहलाते हैं। आकूति का अर्थ है सङ्कल्प। सङ्कल्प का कार्य में परिणत होना प्रयुक्त है। सङ्कल्प और प्रयुक् ही क्रतु दक्ष अथवा मित्र वरुण भी कहलाते हैं। सङ्कल्प का स्मरण मेधा है। इस मेधा युक्त मन से ही दीक्षा सम्भव है। दीक्षा से प्राण व्यापृत होता है। यही तप है। तप के बाद सरस्वती अर्थात् मन्त्र के शुद्धोच्चारण का स्थान आता है। अन्त में पूषा अर्थात् यज्ञोपयोगी द्रव्य का स्थान है। ये आठ घटक यज्ञ की ही नहीं सभी कर्मों की सफलता की कुञ्जी

है। जहाँ य आठ हैं वहाँ असफलता नहीं हो सक्ती (शतपथ ब्राह्मण ३ १ ४ ६ ९) ।

यज्ञ मे मन का योगदान

मन की कामना हमारे प्राणों में एक ताप उत्पन्न कर देती है। यह ताप ही प्राणों का तप ह जिसके कारण गति उत्पन्न होती है। आधुनिक दर्शन की भाषा में मन सत्व है प्राण रजोगुण ह और वाक् तमोगुण है। मन की कामना प्राण के तप को उत्पन्न करती है। जब तक मन का सकल्प दृढ न हो तब तक यज्ञ नहीं किया जा सकता—*युक्तेन हि मनसा यज्ञस्तायते* (मत्रायणी सहिता ३ १ १) । मन का यह मनन ही घनीभूत होकर मानों मन्त्र बना गया है। इसलिए यज्ञ की कोई क्रिया बिना मन्त्र के नही हो सक्ती। मन में और मन्त्र में इतना गहरा सादृश्य है कि शतपथ ब्राह्मण में मन को यजुर्वेद बताया है—*मनो वै यजु* (शतपथ ब्राह्मण ७ ३ १ ४ ०) । काठक सकलन तो मन में ऋक् साम और यजु तीनों को ही प्रतिष्ठित बताता है—*यस्मिनृच सामयजूंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवारा* (काठक सकलन १ ३ ४ ९.१०) । प्रत्येक निर्माण के मूल में मन है। इसलिए मन को सामविधान ब्राह्मण के प्रारम्भ में ही प्रजापति कहा गया है—*मनो हि प्रजापति* (सामविधान ब्राह्मण १ १ ४) । पदार्थ सीमित हैं मन अपरिमित है—*अपरिमिततरमिव हि मन परिमिततरेव हि वाक्* (शतपथ ब्राह्मण १ ४ ४ ७) । चञ्चल चित्त स साधारण कार्य भी नहीं किया जा सकता—*न ह्ययुक्तेन मनसा किञ्चनसम्प्रति शक्नोति कर्तुम्* (माध्यन्दिनाय शतपथ ब्राह्मण ६ ३ १ १४) । फिर यज्ञ की तो बात ही क्या ? साधारण कार्य में हम पदार्थ का व्यवहार करते हैं अत यदि मन साथ न भी हो तो कार्य कदाचित् यान्त्रिक रूप से किया जा सकता है किन्तु यज्ञ में हमें प्राणों से व्यवहार करना है। प्राण अत्यन्त सूक्ष्म है। उससे अधिक सूक्ष्म कवल मन ही है। इसलिए बिना मन के यज्ञ कदापि फलदायी नही हो सकता। इसलिए शतपथ ब्राह्मण में मन को मैत्रावरुण बताया है—*मनो मैत्रावरुण* (शतपथ ब्राह्मण १२ ८ २ २३) । जैमिनीय ब्राह्मण में इस तथ्य को कि मन किस प्रकार पदाथ को नियन्त्रित करता है इस सुन्दर रूपक द्वारा अभिव्यक्त किया है कि पदार्थ गौ है मन बछडा है। जिस प्रकार गौ बछडे के पीछे चलती है उसी प्रकार पदार्थ मन का अनुसरण करता है—*तस्यै मन एव वत्स । मनसा वै वाच पृक्ता दुहे। वत्सेन वै मातर पृक्ता दुहे। तद्वा इद मन पूर्वम्। यत् पश्चा वागन्वेति तस्मात् वत्स पूर्व यन्त पश्चा मातान्वेति* (जैमिनीय ब्राह्मण, १ १९) । जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में मन को कामनाओं से भरा हुआ सरोवर कहा गया है—*स एष हृदय कामाना पूर्णो यन्मन* (जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण १ १८ ३ ३) ।सब सर्जन के मूल में यह कामना रहती है। यज्ञ क प्रारम्भ में जब हम सङ्कल्प करते हैं तो मन की इस कामना को ही अभिव्यक्त करते हैं।

प्राण ही देव हैं

मन में तो कामनाए सबक उत्पन्न होती हैं किन्तु सफल उन्हीं की कामना होती है जिनकी कामना प्राणशक्ति को उद्वेलित कर सके। यज्ञविद्या में इस प्राणशक्ति को ही देव कहा गया है—*तस्मात्प्राणा देवा* (शतपथ ब्राह्मण ७ ५ १ २१) । दवताओं की प्राण होने की बात इतनी

महत्त्वपूर्ण है कि ब्राह्मण ग्रन्थों ने इसको बार बार दोहराया है—*प्राणा वै देवा* (मैत्रायणी संहिता ३ २ १ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ ८.१७ ५ माध्यन्दिनीय शतपथ ब्राह्मण ७ १ १ २४ तैत्तिरीय संहिता ६ १ ४ ५, काठकसंहिता २७ १ जैमिनीय ब्राह्मण २ ३०१ ३४७) । इतना ही नही लगभग सभी देवताओं को प्राण बताकर ब्राह्मण ग्रन्थों ने इस बात की पुष्टि कर दी है कि देवता और कुछ नही प्राण ही हैं। अग्नि भी प्राण है (शतपथ ब्राह्मण ६ ३ १ २१) । वायु भी प्राण है (तैत्तिरीय संहिता ७ ५ २ ५ १) । सोम भी प्राण है (कौषितकि ब्राह्मण ९ ६) । यह वक्तव्य इसी प्रकार का है जैसे कोई कहे कि प्रकाश भी ऊर्जा है गति भी ऊर्जा है ताप भी ऊर्जा है।

मन प्राण का प्रेरणा-स्रोत

ये प्राण अथवा देव मन से जुडे हैं—*एते वै देवा मनोजाता मनोयुजो यदिमे प्राणा* (मैत्रायणी संहिता ३ ६ ९) । ये देवप्राण मनुष्य के मन को जान लेते हैं। यज्ञ को प्राणविद्या कहें या देवविद्या एक ही बात है। यह यज्ञ ही देवताओं की सम्पत्ति है—*यज्ञमु ह वा व देवाना श्री* (जैमिनीय ब्राह्मण २ १३९) । यज्ञ ही देवताओं की आत्मा है—*यज्ञ उ देवानामात्मा* (शतपथ ब्राह्मण ८ ६ १ १०) । ये प्राण जब मन से जुडते हैं तो इन प्राणों का कर्म (क्रतु) दक्ष (कुशल) हो जाता है। वह कुशल कर्म ही यज्ञ है—*इमे वै प्राणा । मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतव* (शतपथ ब्राह्मण ३ २ २ १३) । मन और प्राण का यह सम्बन्ध इतना गहरा है कि षडिंवशब्राह्मण में मन को प्राण का आधा भागीदार बताया गया —*अर्धभाग् वै मन प्राणानाम्* (षडविंशब्राह्मण १ ५ ५) । पदार्थ स्वय गति नही कर सकता। प्राण ही उस गति देता है इसलिए प्राण ही पदार्थ का सार है—*एतद्वै वाच सत्य यत्प्राण* (जैमिनीय ब्राह्मण २ ४२५) । यदि यह जानना हो कि एक देवता कौन सा है तो उत्तर होगा प्राण—*कतमैका देवतेति प्राण इति* (जैमिनीय ब्राह्मण २ ७७) । यज्ञ इन प्राणों को ही ढालने की प्रक्रिया है—*प्राणो यज्ञेन कल्पताम्* (तैत्तिरीय संहिता १ ७ ९ १ २) । प्राण सब भूतों को नियन्त्रित करता है। प्राण का भूत से इतना गहरा सम्बन्ध है कि प्राण को वाक् भी कह दिया गया है—*प्राणो वै वाक्* (मैत्रायणी संहिता ३ २ ८) । प्राण मन का अनुसरण करते हैं—*मनो वा अनु प्राण* (जैमिनीय ब्राह्मण १ १६) । मन ने ही प्राणों को धारण किया है—*मनसा हि प्राणो धृत* (काठक संहिता २७ १) । मन प्राणों का अधिपति है मन में समस्त प्राण प्रतिष्ठित हैं—*मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणा प्रतिष्ठिता* (शतपथ ब्राह्मण १४.३ २ ३) । अत मन से ही व्यक्ति प्राणों को वश में कर सकता है—*मनसैव प्राणमाप्नोति* (मैत्रायणी संहिता ४.५.५) ।

प्राण का वाक् से सम्बन्ध

प्राण जहाँ एक ओर मन से जुडा है वहाँ दूसरी ओर वाक् से जुडा है। शब्द आकाश का गुण है अत शब्द उपलक्षण से पञ्चभूत को बताता है। जहा एक ओर *मनोयुजा यदिमे प्राणा* कहा गया वहाँ दूसरी ओर प्राणों को वाक् का जोडीदार बताया गया है—*वाक् च वै प्राणश्च मिथुनम्* (शतपथ ब्राह्मण १ ४ १ २) । इतना ही नहीं जैमिनीय ब्राह्मण ने इस मिथुन को दिव्य बताया है—*तद्वै दैव्य मिथुन यद्वाक् च प्राणश्च* (जैमिनीय ब्राह्मण १ ३०६) । इसी बात को ऐतरेय ने दूसरी तरह से कहा है—*वाक् प्राणेन सहिता* (ऐतरेय आरण्यक ३ १ ६) । जैमिनीय

उपनिषद् में प्राण को वाक् का रस बताया गया है—*तस्या उ प्राण एव रस* (जैमिनीयोपनिषद् १ १ ७) । प्राण और वाक् के इस गहरे सम्बन्ध को देखकर मैत्रायणी संहिता ने दोनों का तादात्म्य मान लिया है—*प्राणो वै वाक्* (मैत्रायणी संहिता ३ २ ८) । शतपथ ब्राह्मण में प्राणों को वाक् का पति बताया गया है—*प्राणो वाचस्पति* (शतपथ ब्राह्मण ६ ३ ७ १९) । जैमिनीय ब्राह्मण का कहना है कि प्राण ही वाक् का विस्तार करता है—*प्राणैर्वाक् सन्तता* (जैमिनीय ब्राह्मण ३ ११९) । ऐतरेय आरण्यक में स्थूल होने के कारण वाक् को पूर्व रूप और मन का उत्तर रूप बताया है तथा प्राण का इन दोनों का जोड़ने वाला बताया गया है—*वाक् पूर्वरूप मन उत्तररूप प्राण संहिता* (ऐतरेय आरण्यक ३ १ १) ।

सबका देवमयत्व

उपर्युक्त समस्त उद्धरणों से प्राण का वाक् से और मन से घनिष्ठ सम्बन्ध असन्दिग्ध रूप में प्रमाणित हो जाता है। साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्राण ही देवता है। मन्त्र अर्थात् मन के मनन बल से यह प्राण देव वाक् अर्थात् भूत को नियन्त्रित करते हैं। भूत प्रत्यक्ष है प्राण परोक्ष है मन अतिपरोक्ष है। यज्ञ का सम्बन्ध प्राण से है। यज्ञ में उलूखल मूसल आदि पदार्थों की उपासना उनमें निहित प्राणतत्व की उपासना है। इसलिए उलूखल मूसल इत्यादि भी वहा देवता ही हैं।

यज्ञ की सकामता

इन सब स्तुतियों के पीछे कामना अवश्य रहती है। तैत्तिरीय संहिता कहती है कि यज्ञ कामनाओं की पूर्ति के लिए ही किया जाता है—*सर्वेभ्यो हि कामेभ्यो यज्ञ प्रयुज्यते* (तैत्तिरीय संहिता २ ४ ११ २) । यास्काचार्य ने इसी परम्परा का सवर्धन करते हुए कहा—*यत्काम ऋषिर्यस्या देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद् दैवत स मन्त्रो भवति* (निरुक्त ७ १) । वस्तुस्थिति यह है कि सृष्टि का आदि मूल बीज काम है—*कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत प्रथम यदासीत्* (ऋग्वेद १० १२९ ४) ।

प्राण तथा क्वाण्टम सिद्धान्त

आधुनिक विज्ञान परमाणुवाद के स्थान पर क्वाण्टम सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। परमाणुवाद का मानना था कि पदार्थ ऐसे ठोस परमाणुओं से मिलकर बने हैं जो परमाणु निरंश अवयव रहित तथा अविभाज्य हैं। क्वाण्टम सिद्धान्त में परमाणु का स्थान ऊर्जा राशि ने ले लिया है। यह ऊर्जा राशि गतिशील है। परमाणुवाद जहाँ हमें भूत सिद्धान्त की ओर ले जाता है वहाँ क्वाण्टम सिद्धान्त हमें प्राण विज्ञान की ओर ले जा रहा है क्योंकि गतिशीलता प्राण का ही काम है। यज्ञ विज्ञान का कहना है कि यह निरन्तर गतिशीलता मन की कामना से आई है। इस गतिशीलता को ही नासदीय सूक्त में "*तिरश्चीन वितत रश्मिरेषाम् अध स्विदासीत् उपरि स्विदासीत्*" (ऋग्वेद १० १२९ ५) कहकर प्रकट किया है। उल्लेखनीय है कि रश्मि शब्द का

अर्थ तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्राण किया गया है—*प्राणा रश्मय* ।(तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ २ ५.२) । स्पष्ट है कि ऋग्वेद प्राणों की तीन प्रकार की गति का उल्लेख कर रहा है—*तिरछी निम्नगा और ऊर्ध्वमुख ।*

गति से पञ्चभूतोत्पत्ति

तन्त्र में गति से पञ्चभूतों की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण किया है । गति पाँच प्रकार की है इसलिए भूत भी पाँच हैं । *निम्नगा गति जल को जन्म देती है ऊर्ध्वमुख गति अग्नि को, तिर्यक् गति वायु* को केन्द्राभिमुख गति पृथिवी को जन्म देती है और उसके विपरीत गति आकाश का जन्म देता है । सक्षेप में प्राणतत्त्व के भूत में परिणत होने की यही प्रक्रिया है । इन पाँच गतियों में से ही प्रथम तीन गतियों का उल्लेख नासदीय सूक्त में हुआ है । नासदीय सूक्त ने भूत जगत् को दो भागों में बाट दिया है भोग्य और भोक्ता—*स्वधा अवस्तात् प्रयति परस्तात्* (ऋग्वेद १० १२९ ५) । इन्हें ही ब्राह्मण ग्रन्थ में अन्न तथा अन्नाद कहा है । सक्षेप में मन की अन्न में परिणत होने की यही कथा है जिसे ऐतरेय आरण्यक ने यज्ञ नाम दिया है ।

वाक् से वित्त

ऐतरेय आरण्यक ने चित्त को वाक् या अन्न में परिणत होन को यज्ञ कहा है किन्तु साथ ही यह भी कहा है कि वाक् का चित्त में परिणत होना भी यज्ञ है । मन का प्राण में परिणत होना अधिदैव यज्ञ है । प्राण का भूत में परिणत होना अधिभूत यज्ञ है किन्तु अन्न अथवा वाक् का मन में परिणत होना अध्यात्मयज्ञ है । यज्ञ के इसी स्वरूप को ध्यान में रखकर यज्ञ की एक दूसरी परिभाषा दी गई है—*अन्नोर्क्प्राणानामन्योन्यपरिग्रहो यज्ञ* (शतपथ ब्राह्मण के पण्डित मोतीलाल शास्त्रीकृत विज्ञानभाष्य प्रथम खण्ड पृष्ठ ३६८ पर उद्धृत) अर्थात् अन्न का ऊर्क् और प्राण में परिणत होना यज्ञ है । ऊर्क् का अर्थ है रस । अन्न रस में परिणत होता है और रस प्राण में । इसी प्रक्रिया का विस्तार आयुर्वेद में किया गया है —*रसाद्रक्त ततो मास मासान्मेदस्ततोऽस्थि च । अस्थ्नो मज्जा तत शुक्र शुक्राद्गर्भ प्रसादज* (चरक १५/१४) ।

अन्नमय मन

अन्न का जो भाग आत्मसात् हो जाता है वही रस है जो भाग आत्मसात् नहीं हो पाता वह मल है । अन्न का जो भाग आत्मसात् होता है उसमें भी रस और मल दोनों रहते हैं रसभाग मास और मलभाग असृक् है । मास में रस और मल दोनों है मेद मल भाग है रस भाग अस्थि है । अस्थि का मल भाग मज्जा है । मज्जा का रस भाग शुक्र है । इस प्रकार रस असृक् मास मेद अस्थि मज्जा और शुक्र इन सात अवस्थाओं में अन्न परिणत होता है । ये सातों अवस्थाएं पार्थिव हैं । अभी अन्न ने अपना वाक् रूप छोडा नही है किन्तु जब यह शुक्र ओज का रूप धारण करता है जिसका प्रत्यक्ष हम महापुरुषों के मुखमण्डल पर विराजमान दिव्य कान्ति में कर सकते हैं तो यह ओज वाक् से प्राण में परिणत हो जाता है । ओज भौतिक नहीं है उसका स्थान पृथिवी नही अन्तरिक्ष है इसलिए यह मनुष्य के भौतिक शरीर से बाहर अन्तरिक्ष में रहता है । यही ओज वाक् का प्राण में परिणत हो जाना है । इस ओज को ही ऊर्क कहा गया है । इस प्राण का रस मन है ।

शुक्र पर्यन्त सात धातुएं पार्थिव हैं आज अन्तरिक्ष है किन्तु मन दिव्य है। मन प्राण का रस है इसीलिए वह प्राण से कई गुना अधिक गतिवाला है। इस प्रकार अन्न अथवा वाक् प्राण के माध्यम से मन में परिणत होता है। इसलिए मन को अन्नमय कहा गया है—*अन्नमय हि सौम्य ! मन* (छान्दोग्योपनिषद् ६ ५ ४) । इस अध्यात्मयज्ञ की प्रक्रिया में रस से लेकर मन पर्यन्त सबकी आहुति वैश्वानर अग्नि में होती है जिससे प्रत्येक पदार्थ रस और मल में विभक्त होता चला जाता है। स्पष्ट है कि यह प्रक्रिया भी अग्नि में आहुति रूप होने के कारण यज्ञ कहलायेगी।

सकाम कर्म

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यज्ञ से हमारे मन की कामनायें पूरी होती हैं। प्रश्न होता है कि कामना की तो शास्त्रों में निन्दा है। फिर कामना की पूर्ति के साधक यज्ञ को श्रेष्ठ कैसे कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में मनु का कहना है कि कामात्मता प्रशस्त नहीं है किन्तु ससार में अकामता भी देखने में नही आती अत हमें अपनी कामनाओं को एक दिशा देनी होती है और वह दिशा यह है कि हम वेदज्ञान और वेद में प्रतिपादित कर्मयोग की कामना करें—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगम कर्मयोगश्च वैदिक ॥ (मनुस्मृति २ २)

वेदाधिगम का सम्बन्ध ज्ञानशक्ति से है। वैदिक कर्मयोग का सम्बन्ध क्रियाशक्ति से है। वेदज्ञान के बिना वैदिक कर्मयोग का भी पालन नहीं हो सकता क्योंकि कर्म को ज्ञान ही दिशा देता है। इस दृष्टि से वेद को सब धर्मों का मूल कहा गया है—*वेदोऽखिलो धर्ममूलम्* (मनुस्मृति २ ६) । वैदिक कर्मयोग ही धर्म है। धर्म का अर्थ कर्तव्य है।

कर्त्तव्य बोध

कर्त्तव्य का प्रश्न न पशु पक्षियों के लिए है न असुर देवों के लिए। यह प्रश्न केवल मनुष्य के लिए है। मनुष्य के सम्बन्ध में एक विशेषता की हमने पहले चर्चा की है। प्रकृति की दृष्टि से देव अपनी ऋद्धि सिद्धि के कारण मनुष्य से आगे हैं किन्तु गुणातीत पुरुष की अभिव्यक्ति की दृष्टि से सम्पूर्ण सृष्टि में केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसके केन्द्र में आत्मा है और इसलिए जो प्रकृति से ऊपर उठ सकता है वह सामर्थ्य देवों में भी नही है पशु पक्षियों की तो बात ही क्या है ? इसी दृष्टि से मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है—*नहि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित्*। इसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम चर्चा को आगे बढ़ाते हुए एक नये तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहेंगे।

समष्टि में जो सर्वज्ञ हिरण्यगर्भ और विराट है व्यष्टि में वही प्राज्ञ तैजस और वैश्वानर है। इन तीनों का समूह आत्मा है। बुद्धि कारणशरीर है मन सूक्ष्मशरीर है और शरीर को स्थूलशरीर कहते हैं। लौकिक दृष्टि मे बुद्धि मुख्य है इसलिए ब्राह्मण भी क्षत्रिय के अधीन हो जाता है। व्यष्टि पुरुष है। इन दोनों की समानता के कारण ही पुरुष को प्रजापति के निकटतम बताया गया है—*पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्*। वस्तुस्थिति यह है कि पुरुष प्रजापति के समान तो है ही उसमें कुछ ऐसी

विशेषता भी है जो ईश्वर में भी नही ह। पुरुष में अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश नामक क्लेश हैं। वह कर्मफल भोगता है उसमें अच्छे बुरे सस्कार हैं। ईश्वर में न क्लेश हैं न सस्कार। इसलिए ईश्वर में नैतिकता के लिए कोई अवकाश नही है। वहाँ कोई अन्तर्द्वन्द्व ही नहीं है जो नैतिकता की मूलभूत अपेक्षा है। पशु पक्षी और देव असुरा में क्लेश कर्मफल और सस्कार हैं किन्तु उनमें बुद्धि का वह सात्विक स्वरूप नहीं है जिसे ज्ञान ऐश्वर्य वैराग्य और धर्म कहा जाता ह। य चार केवल मनुष्य में ही सम्भव ह। इसलिए मनुष्य में ही ज्ञान का अविद्या स ऐश्वर्य का अस्मिता से राग द्वेष का वैराग्य स तथा धर्म का अभिनिवश से सघर्ष हाता है। इस सघर्ष स ही कर्तव्य मीमासा का प्रश्न उत्पन्न होता है। ज्ञान अविद्या का दूर करता है या अविद्या ज्ञान को अभिभूत कर लेती है—यह विकल्प केवल मनुष्य को उपलब्ध है। पशु और देवों में जितनी अविद्या जिस रूप में है उसी रूप में रहती है। इसलिए वे जो कुछ करत हैं उसमें अन्यथा नहीं कर सकते। उनके जीवन का मार्ग बँधा बँधाया है। मनुष्य बँधे बँधाये मार्ग से हटकर चल सकता है। इसीलिए उसके जीवन में जो महती सम्भावना ह वह देवयानि में भी नही है। ब्राह्मण ग्रन्थों न इस तथ्य को इस रूप में कि प्रजापति क आदश का उल्लघन न दव करते हैं न पितर न पशु न असुर। केवल मनुष्य ही प्रजापति के भी आदेश का अतिक्रमण कर सकता है। इसका अभिप्राय यही है कि शष सब योनियों के लिए एक ही बँधा बँधाया माग है जा प्रकृति न उनके लिए निर्धारित कर दिया किन्तु मनुष्य के लिए कोई एक बँधा बँधाया मार्ग निर्धारित इसलिए नहीं किया जा सकता कि वह अन्तर्द्वन्द्व में जीता है।

यह अन्तर्द्वन्द्व नैतिक है। ज्ञान से अविद्या का सघर्ष है। ऐश्वर्य से अस्मिता का सघर्ष है क्योंकि ऐश्वर्य आत्मविकास है और अस्मिता सकोच है। विकास स्मित है अस्मिता स्मित का अभाव है। अस्मिता के कारण मनुष्य अपने का अपूर्ण मानता है। एश्वर्य भूमा का भाव है। तीसरा सघर्ष राग द्वेष से वैराग्य का है। चौथा सघर्ष अभिनिवेश से धर्म का है। यह चतुर्विध सघर्ष ही मनुष्य जीवन की कहानी है।

वैदिक जीवनदृष्टि की सर्वाङ्गीणता

जन साधारण में यह धारणा प्रचलित हो जाना कि वैदिक कर्म बन्धन का कारण है और ज्ञान की अपक्षा हेय है। वस्तुस्थिति यह है कि ज्ञान और कर्म के बीच यह विरोध उस खण्डित दृष्टि का परिणाम है जा आत्मा और शरीर को खण्ड खण्ड करके देखता है और उनमें स एक को माह्य तथा दूसरे को हेय मानता है।

वैदिक जीवन दृष्टि की विशेषता है कि वह वेद न इहलौकिक की उपेक्षा करता है न पारलौकिक की। उसकी दृष्टि से न शरीर उपेक्षणीय है न आत्मा। वैदिक दृष्टि ठोस धरातल पर उतनी ही दृढता से खडी है जितने लाघव स आकाश में ऊँची उडान ले सकती है। वैदिक जीवन दृष्टि की ऐसी सर्वव्यापकता का आधार है—समग्र दृष्टि। वेद जीवन का अखण्ड मानते हैं। उसे शरीर और आत्मा लोक और परलोक से तोडकर नही देखते। हम अब तक ही यही प्रतिपादित करत रहे हैं कि विश्व विश्वचर और विश्वातीत में मौलिक भेद नही है। एक ही तत्त्व अपने क्षर

अक्षर और अव्यय रूप में तीनों में ओतप्रोत है। आधिदैविक स्तर पर अग्नि वायु और आदित्य एक ही तत्त्व के घन तरल और विरल रूप हैं आधिभौतिक स्तर पर एक ही विश्व अधोभाग मध्य भाग और ऊर्ध्वभाग की दृष्टि से पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्यौ बन गया है तथा अध्यात्म के क्षेत्र में शरीर मन और बुद्धि एक ही प्रकृति के तीन गुण सत्त्व रजस् और तमस् की परिणति है। वाक् प्राण और मन का परस्पर अविनाभावसम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में कर्म और ज्ञान के बीच जो विरोध परवर्ती चिन्तकों ने दिखाने का प्रयत्न किया उसके लिए वैदिक जीवन दृष्टि में कोई स्थान नहीं है। यजुर्वेद की तो स्पष्ट घोषणा है कि जो कर्म और ज्ञान की साथ साथ उपासना करता है वह कर्म द्वारा मृत्यु को पारकर के ज्ञान द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करता है। वैदिक जीवनदृष्टि में मृत्यु और अमृत अन्योन्याश्रित हैं। अमृत का अर्थ है स्थिरता मृत्यु का अर्थ है परिवर्तनशीलता। इन्हें ही रस और बल भी कहते हैं।

खण्ड खण्ड करके देखने वाली दृष्टि जड और चेतन में मौलिक अन्तर मानती है किन्तु वेद की अखण्डतापरक समग्र दृष्टि से जड और चेतन में क्रमश इन्द्रियों के व्यक्त न होने तथा इन्द्रियों के व्यक्त होने का भेद है मौलिक भेद नहीं है। परवर्ती दर्शन में एक भेद पुरुष और प्रकृति के बीच किया गया है किन्तु वैदिक दृष्टि भूत को भी क्षर ब्रह्म कहकर प्रकृति और पुरुष के बीच कोई मौलिक भेद नहीं करती। ईश्वर और जीव के बीच भी कोई मौलिक भेद वैदिक दृष्टि में नहीं है। इस मूलभूत एकता को ही वेद ब्रह्म कहता है।

पुरुषार्थचतुष्टय

व्यक्तित्व के चार अङ्ग—शरीर मन बुद्धि और आत्मा है। उनसे जुडे चार पुरुषार्थ हैं—अर्थ काम धर्म और मोक्ष। इस चतुष्टय की अपेक्षा से जीवन दृष्टि के भी चार ही पक्ष हो जाते हैं। प्रथम पक्ष शारीरिक है जिसे जीवन का बाह्यपक्ष कहा जा सकता है। जिसे हम भौतिकवाद कहते हैं उसका सम्बन्ध मुख्यत इसी पक्ष से है। प्रत्यक्षवादी के लिये यह पक्ष प्रमुख है। जो राजनीति के क्षेत्र में धर्म निरपेक्षता की बात करते हैं तो उनका अभिप्राय यह होता है कि राजनीति को धर्म से कुछ लेना देना नहीं है क्योंकि उनकी दृष्टि में धर्म आन्तरिक जीवन से जुडा हुआ है और राजनीति आन्तरिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं कर सकती। यह दृष्टि जीवन को खण्ड खण्ड करके देखने की दृष्टि है। वस्तुस्थिति यह है कि जीवन अखण्ड है इसलिये बाह्य जीवन और आन्तरिक जीवन जैसे दोनों एक दूसरे से नितान्त असम्बद्ध खण्ड नहीं हैं प्रत्युत दोनों में एक दूसरे से जुडा रहने का भाव है।

जीवन का दूसरा पक्ष काम पुरुषार्थ है जिसका सम्बन्ध मन से है। शरीर की अपेक्षा मन सूक्ष्म है आन्तरिक है किन्तु बुद्धि की अपेक्षा मन स्थूल है बाह्य है। इसलिये मन शरीर और बुद्धि के मध्य में है। अर्थ हमारे जीवन की अपेक्षाओं को पूरा करता है। काम हमारे मन को तृप्त करता है। काम भी प्रत्यक्ष जीवन का ही अङ्ग है। इसलिये इसे भी हम भौतिक पक्ष के अन्तर्गत ले सकते हैं।

बुद्धि जीवन दृष्टि का तीसरा पक्ष है। यह बुद्धि विवेक द्वारा शरीर और मन का नियन्त्रित

करती है। यह नियंत्रित करने का कार्य ही धर्म कहलाता है। यदि धर्म का अंकुश न हो तो अनियन्त्रित अर्थ और काम अव्यवस्था का कारण बनते हैं। इसीलिए धर्म को समाज का धारक माना जाता है। अर्थ और काम हमारे स्वार्थ पर टिके हैं। बुद्धि हमें यह विवेक देती है कि हमें अपने स्वार्थ के अतिरिक्त दूसरों के स्वार्थ का भी ध्यान रखना है।

शरीर मन और बुद्धि तीनों ही एक दूसरे की अपेक्षा सूक्ष्म होने पर भी हमारे प्रत्यक्ष जीवन से ही जुड़े हैं। इसलिये कोई ऐसी संस्कृति नहीं है जो अर्थ काम और धर्म पर विचार न करे। साम्यवाद जैसी विचारधारा भी यद्यपि अपने आपको धर्म निरपेक्ष कहती है किन्तु वह वस्तुतः धर्म की विवेचना पर ही टिकी है। साम्यवादी जब शोषण का विरोध करता है धन के समान वितरण की बात करता है भोग को नियंत्रित करने की बात करता है तो वह धर्म की बात कर रहा है। जिस अर्थ में साम्यवादी धर्म को नकारता है धर्म का वह अर्थ भले ही पश्चिम मानता हो भारत नहीं मानता। हमारे लिये धर्म परलोक का ही विषय नहीं है इस लोक का भी विषय है। इसलिये अर्थ काम और धर्म तीनों का एक अलग वर्ग है जिसे त्रिवर्ग कहा जाता है।

परमपुरुषार्थ

यह त्रिवर्ग पुरुष के जीवन की समग्रता नहीं है उसके लिये चौथा पुरुषार्थ मोक्ष भी आवश्यक है। जहां धर्म अर्थ और काम गुणमयी प्रकृति के क्षेत्र हैं वहां मोक्ष गुणातीत अध्यात्म का क्षेत्र है। इसलिये अर्थ काम और धर्म को हम वस्तुतः पुरुषार्थ न कह कर प्रकृत्यर्थ कहते हैं। वास्तविक पुरुषार्थ तो मोक्ष ही है। जब त्रिवर्ग को भी पुरुषार्थ शब्द से कहा जाता है तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि प्रकृति की साधना भी आत्मा की प्राप्ति का ही साधन है इसलिये साधन के रूप में त्रिवर्ग भी पुरुषार्थ है किन्तु साध्य तो मोक्ष ही है। इसलिये मोक्ष को परमपुरुषार्थ कहा जाता है।

वर्णाश्रमचतुष्टयी

उपर्युक्त चार पुरुषार्थों के साथ ही चार आश्रम जुड़े हैं। श्रम वाक् का धर्म है। वाक् में शरीर और मन दोनों शामिल हैं क्योंकि दोनों का निर्माण अन्न से होता है। आश्रम मन और शरीर के साथ आत्मा को भी लेकर चलता है और इस प्रकार आश्रम में श्रम समाविष्ट है किन्तु श्रम मात्र ही आश्रम नहीं है आश्रम श्रम के माध्यम से आत्मा तक पहुंचने की सीढ़ी है। अर्थ पुरुषार्थ के अर्जन के योग्य शरीर की शक्ति मन का संयम तथा बुद्धि का विकास ब्रह्मचर्य्य आश्रम में होता है। मन की तीन कामनाएं हैं—लोकैषणा वित्तैषणा तथा पुत्रैषणा। इन तीनों की तृप्ति गृहस्थाश्रम में होती है। मर्यादित इच्छाओं की पूर्ति के अनन्तर वानप्रस्थ आश्रम में मुख्यतः धर्म की साधना की जाती है। धर्म की साधना का अर्थ है—विवेक का जागरण। इस विवेक की चरम सीमा है—आत्मोपलब्धि जो अन्तिम आश्रम सन्यासाश्रम में सिद्ध होती है। सभी आश्रमों में सभी पुरुषार्थों की साधना की जाती है किन्तु मुख्यता की अपेक्षा हम एक एक पुरुषार्थ को एक एक आश्रम से जोड़ सकते हैं।

इसी प्रकार मुख्यता की अपेक्षा एक एक पुरुषार्थ को एक एक वर्ण से भी जोड़ा जा सकता

है। शूद्र वर्ण शारीरिक श्रम द्वारा अर्थ की सृष्टि से राष्ट्र को समृद्ध करता है। आर्थिक समृद्धि शारीरिक श्रम क ही आधीन है। अधिक उत्पादन का अर्थ है अधिक श्रम। साम्यवादी व्यवस्था श्रमिक को सर्वोपरि मानती है क्योंकि साम्यवादी व्यवस्था म आर्थिक समृद्धि हा सर्वोपरि है।

अर्थ का उपार्जन होने के बाद उसका उपयुक्त वितरण व्यापारी अर्थात् वैश्य करता है। उसी से हमारे काम पुरुषार्थ की तृप्ति होती है। जो मन की पटुता से उत्पादन को बाजार में बच सकता है वह वस्तुत उत्पादन करने वाले श्रमिक से अधिक समृद्ध होता है। उसका कारण यह है कि उसके पुरुषार्थ का आधार शरीर का श्रम नहीं अपितु मन की पटुता है। जिस प्रकार शरीर से मन सूक्ष्म है और बलवत्तर है उसी प्रकार अर्थ की अपक्षा काम सूक्ष्म है और बलवत्तर है। समाज की कामनाओं को केन्द्र में रखन वाला वैश्य अर्थ का उत्पादन करने वाले शूद्र से अधिक शक्तिशाली होता है। बुद्धि द्वारा विवेक पूर्वक अर्थ और काम पर सामञ्जस्य पूर्ण नियन्त्रण करने का काम प्रशासक का है। यही क्षत्रिय वर्ण है। शूद्र और वैश्य इसकी आधीनता स्वीकार करते हैं क्योंकि यह उन्हें सुरक्षा प्रदान करता है। आन्तरिक दृष्टि से न्याय की स्थापना करके समाज को विशृङ्खलित हाने से बचाना तथा बाह्य आक्रमण से राष्ट्र को सुरक्षा प्रदान करना क्षत्रिय का धर्म है। यह रक्षा करता है इसलिए वर्म अर्थात् कवच कहलाता है। शास्त्र की आज्ञानुसार क्षत्रियों को अपने अपने नाम क आगे वर्मा लिखना चाहिये। वैश्य उनके द्वारा सुरक्षित होता है इसलिए वह अपने नाम के आगे गुप्त लगाता है।

चरम पुरुषार्थ मोक्ष है। यह ब्रह्मज्ञान के बिना सम्भव नही है। जो ब्रह्म को जानता है वह ब्राह्मण है इसलिए ब्राह्मण का मुख्य धर्म मोक्ष है। क्षत्रिय बाह्य खतरों से रक्षा करता है इसलिए वह वर्मा अर्थात् कवच है। ब्राह्मण आन्तरिक खतरों स रक्षा करता है इसलिये वह शर्म अर्थात् चर्म है। कवच बाहर से हाने वाले आक्रमणों से हमें बचाता है जबकि चर्म हमारे शरीर में रहने वाले मास मज्जा रक्तादि को बिखरने से रोक कर हमें विशीर्ण नही होने देता। क्षत्रिय अपना धर्म शस्त्र द्वारा सम्पादित करता है ब्राह्मण शास्त्र द्वारा।

इस प्रकार चार वर्ण चार आश्रम तथा चार पुरुषार्थ द्वारा हमारा शारीरिक मानसिक बौद्धिक तथा आत्मिक विकास करके हमें सर्वाङ्गीण बनाते हैं।

वैदिक साहित्य में जीवन दृष्टि की यह चतुर्मुखता चार वेदों से जोडी गयी है। संस्कृति का आर्थिक तथा शारीरिक अभ्युदयपक्ष मूर्तपक्ष है। समस्त मूर्त ऋग्वेद से उत्पन्न हुआ है इसलिए मूर्तपक्ष ऋग्वेद है। ऋग्वेद का देवता अग्नि है। अग्नि ऊर्जा है। उसके बिना कोई श्रम या कर्म सम्भव नहीं है। हमारे शरीर का स्वाभाविक झुकाव विश्राम की ओर होता है। इस प्रवृत्ति का कारण तमोगुण है। यह तमोगुण शरीर को निकम्मा बनाता है और अर्थ के उत्पादन में बाधक होता है। कोई व्यक्ति या समाज बिना श्रमशीलता और कर्मठता के आगे नही बढ सकते। इस कर्मठता और श्रमशीलता का मूल ऊर्जा है जिसे आधिदैविक क्षेत्र में अग्नि कहा जाता है अध्यात्म क क्षेत्र में यही वाणी है। आधिभौतिक क्षेत्र में इसे देश कहते हैं क्योंकि देश ही श्रम और कर्म का आधार है।

संस्कृति के मूर्तपक्ष का वैदिक साहित्य में एक संश्लिष्ट विवरण है। ऋक् से मूर्ति उत्पन्न होती है—*ऋग्भ्यो जाता सर्वशो मूर्तिमाहु* (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/१२/९/१) । स्वयं ऋक् अग्नि से उत्पन्न होता है—*सोऽग्नेरेवर्च* (शाङ्खायन ब्राह्मण ६/१०) । इधर ऋचा का वाक् से सम्बन्ध है—*ऋचं वाचं प्रपद्ये* (यजुर्वेद ३६/१) । अग्नि का सम्बन्ध शरीर से भी है—*तनूपा अग्नेऽसि* (यजुर्वेद ३/१७) और सम्पन्नता से भी—*अग्निना रयिमश्नवत्*(ऋग्वेद १/१/३) । सारे कर्म और श्रम का आधारभूमि है और वास्तविक भूमिपुत्र शूद्र है इसलिए दोनों की उत्पत्ति पुरुषसूक्त में पाँव से बतायी है—*पद्भ्यां भूमि* (ऋग्वेद १०/९०/१२) *पद्भ्यां शूद्र* (ऋग्वेद १०/९०/१४) । समाज के समस्त मूर्त अभ्युदय का मूल श्रम है। ब्रह्मचारी अपने श्रम और तप से समस्त लोकों को तृप्त करता है—*ब्रह्मचारी श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति* (अथर्ववेद ११/५/४) । शूद्र का निर्माण भी तपस्या के लिए हुआ है—*तपसे शूद्रम्*(यजुर्वेद ३०/५) ।

यहाँ दो बात ध्यान देने योग्य है—वैदिक परम्परा के अनुसार ब्रह्मचारी किसी भी वर्ण का क्यों न हो श्रमपूर्ण जीवन व्यतीत करता है। उसे राजसी ठाठ बाठ की अनुमति नहीं है। शूद्र का जीवन भी श्रमपूर्ण है। इस दृष्टि से दोनों समकक्ष हैं। जो ब्रह्मचारी शारीरिक श्रम में ही रम जाता है वह शारीरिक श्रम को अपनी आजीविका का साधन बना लेता है। यह प्रथम आश्रम है। जब ब्रह्मचारी तपस्या से मुँह मोड़ लेता है तब समाज समृद्ध नहीं हो पाता। कर्मठता और श्रमशीलता मानों समाजपुरुष के पाँव हैं। जैसे हमारे पूरे शरीर के भार को पाँव सम्भालता है उसी प्रकार समाज श्रम पर टिका है।

संस्कृति का दूसरा पक्ष मानसिक पटुता का है। यह मानसिक पटुता ही उपासना कहलाती है। तमोगुण को अभिभूत करके कर्मठता आती है। शरीर का शत्रु तमोगुण है तो मन का शत्रु रजोगुण है। रजोगुण को उपासना द्वारा ही नियंत्रित किया जा सकता है। रजोगुण के नियन्त्रित करने का अर्थ गतिहीनता नहीं है गतिहीनता तो तमोगुण है। उपासना मन को उच्छृङ्खलता से बचाकर रचनात्मक गतिशीलता प्रदान करती है। यह गतिशीलता जहाँ एक ओर व्यापार को जन्म देती है वहीं दूसरी ओर दान की प्रवृत्ति के द्वारा भी धन का वितरण करती है।

गति का सम्बन्ध यजु से है *सर्वा गति र्याजुषी हैव शश्वत्*(तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ ।१२/९/१) । यजु का सम्बन्ध एक ओर वायु से है—*वायोर्यजूंषि* (शाङ्खायन ब्राह्मण ६/१०) । दूसरी ओर मन से—*मनो यजुः प्रपद्ये* (यजुर्वेद ३६/१) । यह मन ही गृहस्थ के रथ के पहिये की धुरी है—*मनोऽस्या अन आसीत्*(ऋग्वेद १०/५८/१०) । गृहस्थों में भी वैश्य व्यापार द्वारा सर्वाधिक धनोपार्जन करता है—*इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि धनदा अस्तु मह्यम्*(अथर्ववेद ३/१५/१) । इसके लिए उसे दिशाओं में भ्रमण करना होता है—

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥
(अथर्ववेद ३/१५/२)

इस प्रकार संस्कृति का दूसरा अङ्ग उपासना द्वारा वायु की सी गति वाले मन को नियन्त्रित

करके एक ओर व्यापार से तथा दूसरी ओर दान से पदार्थों का वितरण करता है।

ये अर्थ और काम समाज की आवश्यकता पूरी करते हैं किन्तु धर्म के नियन्त्रण के बिना अर्थ और काम अनियन्त्रित होकर समाज में अव्यवस्था फैलाते हैं इसलिए वस्तुत समाज को धारण धर्म ही करता है। धर्म का यह व्रत धारण करने वाला वर्ण क्षत्रिय है—*धृतव्रता क्षत्रिया* (ऋग्वेद १०/६६/८३)।

एतदर्थ क्षत्रिय को तेज धारण करना पडता है। यह तेज सामवेद से जुडा है—*सर्वं तेज सामरूप्य हैव शश्वत्* (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/१२/९/१)। साम का सम्बन्ध आदित्य से है—*आदित्यात् सामानि* (शाङ्खायन ब्राह्मण ६/१०) आदित्य का सम्बन्ध प्राण से भी है—*साम प्राण प्रपद्ये* (यजुर्वेद ३६/१)। आदित्य काल का जनक है इसलिए काल को परमतेज कहा जाता है—*तस्मात् वै नान्यत् परमस्ति तेज* (अथर्ववेद १९/५३/४)। एक ओर क्षत्रिय का तेज समाज की रक्षा करता है दूसरी वानप्रस्थ का तप समाज को विशृङ्खलित होने से बचाता है। यह वानप्रस्थ तप के कारण अनाधृष्य है—*तपसा ये अनाधृष्या* (ऋग्वेद १०/१५४/२)। ज्ञान इन वानप्रस्थियों का मुख्य साधन है। इस प्रकार वानप्रस्थ और क्षत्रिय मिलकर समाज के अर्थ और काम का धर्म द्वारा अनुशासित करते हैं। इसके विपरीत यदि धर्म और काम धर्म और मोक्ष पर हावी हो जावें तो समाज विशृङ्खलित राष्ट्र असुरक्षित और व्यक्ति उच्छृङ्खल हो जाता है।

संस्कृति के उपर्युक्त तीन पक्ष ऋक् यजु और साम से जुडे हैं। यह त्रयी है। इसमें ब्रह्मवेद अथर्ववेद समाविष्ट नहीं है। इस त्रयी की अपनी एक अलग कोटि है क्योंकि ये तीनों इन्द्रिय मन और बुद्धि के गोचर पक्ष का निरूपण करते हैं। इसे ही उपनिषद् में अपरा विद्या कहा गया है। आज की भाषा में उसे विज्ञान कह सकते हैं। शरीर से जुडी चिकित्सा आदि विद्याएं हो या पदार्थ से जुडे भौतिक विज्ञान हो मन से जुडा मनोविज्ञान हो या बुद्धि से जुडा तर्कशास्त्र ये सभी अपरा विद्या के अङ्ग हैं।

संस्कृति का चतुर्थ पाद पराविद्या से जुडा है। अपरा का विषय दिक्‌देशकालावच्छिन्न है परा का विषय दिक्‌देशकालानवच्छिन्न है। एक वाणी मन और बुद्धि का विषय है दूसरा अवाङ्मनस् अगोचर है। एक विज्ञान है दूसरा ज्ञान है। एक बल है दूसरा रस। दोनों का मिथुनीभाव है मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का अर्थ अलीक नहीं है। जगत् मिथ्या इस अर्थ में है कि उसमें रस और बल के मिथुन का भाव है। ऊपर हमने विज्ञान पक्ष का उल्लेख किया जिसके तीन विवर्त हैं—शरीर मन और बुद्धि। इनके तीन देवता हैं—अग्नि वायु और आदित्य। ये अग्नि वायु और आदित्य वस्तुत अग्नि के ही तीन रूप हैं अत इन तीनों को ही अग्नि मानें तो दूसरा देवता सोम ज्ञान पक्ष का अधिष्ठाता कहलायेगा। विज्ञान का अधिष्ठाता अग्नि और ज्ञान का अधिष्ठाता सोम मिलकर ही जगत् को पूर्ण बनाते हैं।

सोम का सम्बन्ध अथर्ववेद से है। अथर्ववेद ब्रह्मवेद है। ब्रह्म में सब देवताओं का समावेश है।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा।

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ (यजुर्वेद ३२/१)

यह ब्रह्म समस्त सृष्टि का जनक है। *सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्* तै.ब्रा. ३/१२/९/१। जो इस ब्रह्म को जानता है वही ब्राह्मण है। *ब्राह्मणा स ब्रह्म कर्णवन्त* ऋग्वेद ७/१०३/८। आत्मा का उपासक यह ब्राह्मण बुद्धि केन्द्रित क्षत्रिय के नियन्त्रण से भी ऊपर है इसलिए सोम ही उसका राजा है—*सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा* (यजुर्वेद ३६/१) । यह सोम अमृत तत्त्व का प्रतीक है। *अपा सोमममृता अभूम* (ऋग्वेद ८/४८/३) । यह अमृत तत्त्व ही रस है जिसमें कहीं कोई न्यूनता नहीं है। *रसेन तृप्तो न कुतश्चनो नः* (अथर्ववेद १०/८/८४) । इसलिए ब्रह्मवित् को त्यागपूर्वक ही भोग उचित है। *तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा* (यजुर्वेद ४०/१) । त्यागपूर्वक यह भोग ही यज्ञ है। यही पुरुष का रूप है—*पुरुषो यज्ञः* (शतपथ ब्राह्मण ११/१/६/३६) । यह आत्मतत्त्व दिक्कालाद्यवच्छिन्न है। *त्वं हि विश्वतो मुखं विश्वतः परिभूरसि* (यजुर्वेद ३२/४) । त्रिगुणों से आवृत्त यह नवद्वार देह मृत्यु के पाश से आबद्ध है। *पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणभिरावृतम्* (अथर्ववेद १०/८/४३) । जो आत्मतत्त्व को जानता है, वही मृत्यु के भय से मुक्त होता है। *तमेव विद्वान् न विभाय मृत्यो* (अथर्ववेद १०/८/४४) ।

पञ्चम अध्याय

देवताधिकरण

वैदिक साहित्य का विश्लेषण करने वाली कृतियों में बाहुल्येन देवों का ही विवरण रहता है। मैक्डॉनल्ड जैसे विद्वान् वैदिक माइथालॉजी जैसे ग्रन्थ में वैदिक देवों का विस्तृत परिचय देते हैं। देवों के इस परिचय में वे वैदिक संहिताओं में दिये गये विवरण का ही संक्षेप करते हैं। किस देव का कैसा आकार है? कैसे वस्त्राभूषण हैं? कैसे वाहन तथा अस्त्र शस्त्र हैं? यही वर्णन विशेष रूप से रहता है।

देव सौर प्राण

ब्राह्मण ग्रन्थों में देवों का विश्लेषण इस दृष्टि से किया गया कि देव प्राण हैं। ऋषि प्राण स्वयम्भू में रहते हैं पितृ प्राण परमेष्ठी में रहते हैं तो देव प्राण सौर प्राण हैं। इसी प्रकार चन्द्रमण्डल में गन्धर्व प्राण हैं तथा पृथ्वी मण्डल में असुर प्राण हैं। इसलिये मनु ने कहा कि ऋषियों से पितर और पितरों से देव उत्पन्न हुए तथा देवों से समस्त जगत्—*ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः। देवेभ्यश्च जगत्सर्वम्।*

देव और देवता

प्राण के रूप में यदि ऋषि प्राण बारह हैं पितृ प्राण सात हैं गन्धर्व प्राण सत्ताईस हैं और असुर प्राण निन्यानवें हैं तो देव प्राण तैंतीस हैं। ये सभी प्राण देवता कहलाते हैं। देवता शब्द व्यापक है और इससे सभी प्राणों का बोध होता है जो प्राण जिस स्थान का या कर्म का अधिष्ठाता होता है वही उस स्थान अथवा कर्म का देवता कहलाता है। इस प्रकार से ऋषि पितर और असुर भी देवता तो हैं किन्तु देव शब्द का प्रयोग केवल सौर प्राणों के लिए होता है। देव प्राण हों या अन्य देवता प्राण वे सब पूरे विश्व में भी व्याप्त हैं और प्रत्येक पिण्ड में भी व्याप्त हैं। *जायमानो वै जायते सर्वाभ्य एताभ्य एव देवताभ्यः*। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की इस समानता के कारण यह कहा जाता है—*यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे* इस तथ्य को प्रकट करने वाले और भी अनेक वाक्य हैं—"*यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह*" "*योऽसौ सोऽहम्*" *इत्यादि*। देवता प्राणों के अतिरिक्त पाँच

पशु प्राण हैं जिन्हें प्रवर्ग्य प्राण कहा जाता है। प्रवर्ग्य का अर्थ है बचा हुआ। अभिप्राय यह है कि प्राण का जो अङ्ग देवताओं के निर्माण में लगने के बाद बचता है उससे पशुओं का निर्माण होता है। प्राण से ही सता सत्तावान् बनती है इसलिए प्राण के बिना कुछ भी नही है। प्राण का विषय सूक्ष्म है इसलिये प्राणों के नाम कभी कभी नाम भ्रामक हो सकते हैं। उदाहरणत बृहस्पति देव का भी नाम है पितर का भी है और ऋषि का भी। यहाँ तीन अलग अलग प्राण समझने चाहिये। केवल उनके नाम में समानता है। इन्द्र जैसे देवता जब स्वय बोलते हैं तो उनकी ऋषि सज्ञा हो जाती है।

देवताओ की सख्या

प्राणों का नाम देवता है और प्राणों का विभाजन अनेक प्रकार से होता है इसलिए देवताओं का भी विभाजन अनेक प्रकार से होता है। जब हम एक देवता की चर्चा करते हैं तो उसका अर्थ प्राण है दो देवता कहने पर प्राण और अन्न समझना चाहिये तीन देवता अग्नि वायु और आदित्य हैं। अग्नि पृथ्वीस्थानीय है वायु या इन्द्र अन्तरिक्षस्थानीय सूर्य द्यु स्थानीय। ये सभी प्राण हैं इनमें अग्नि का कार्य पदार्थ को दृष्टिगोचर बना देना है। इन्द्र का कर्म बल है और आदित्य का काम प्रहयता है। अन्तरिक्ष म इन्द्र का कार्य विद्युत् आदि कभी कभी ही दिखाई देता है इसलिये विकल्प में सदा जिसका कार्य दिखायी देता है उस वायु को अन्तरिक्ष देवता मान लिया। इनके भेद करने पर ३३ देवता हो जाते हैं—आठ वसु एकादश रुद्र द्वादश आदित्य इन्द्र और प्रजापति।

अग्नि प्रथमो वसुभिर्नो अव्यात्सोमो रुद्रेभिरभिरक्षतु त्मना।
इन्द्रो मरुद्भिरृतुधा कृणोत्वादित्यैर्नो वरुण शर्म सयत्॥
—आश्वलायनश्रौत सूत्र २/११

इस प्रकार कुल मिलाकर तैंतीस देवता हो जाते हैं—*इति स्तुतासा असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिशच्च। मनोर्देवा यज्ञियास*।—ऋग्वेद ८/३०/२।

यज्ञ तथा देवता

देवताओं का सम्बन्ध यज्ञ स है किन्तु यज्ञ विज्ञान ब्रह्म विज्ञान पर टिका है और ब्रह्म विज्ञान आत्म विज्ञान पर। इस प्रकार प्रजापति के तीन विवर्त्त हो जाते हैं—आत्मा ब्रह्म और यज्ञ। आत्मा विश्वातीत है शब्दातीत है यह उपनिषद् का मुख्य विषय है। इस आत्मतत्त्व पर ब्रह्मविज्ञान टिका है। ब्रह्म मौलिक तत्त्व है। यह सहिता भाग का मुख्य विषय है। ब्रह्म विज्ञान पर यज्ञ विज्ञान टिका है। ब्रह्म यदि मौलिक तत्त्व है तो यज्ञ यौगिक तत्त्व है और वह ब्राह्मणग्रन्थों का मुख्य विषय है। ब्रह्म मूल है यज्ञ तूल है। इस प्रकार सहिता भाग में जिन देवों का उल्लेख है उन्हें ब्राह्मणग्रन्थों की सहायता स ज्यादा अच्छा तरह समझा जा सकता है।

क्या देव पुरुषविध है ?

एक जिज्ञासा यह होती है कि ये देव किस प्रकार के हैं ? क्या इनका पुरुषों जैसा आकार है अथवा इनका आकार पुरुषों जैसा नही है ? यास्काचार्य ने निरुक्त में इस विषय का विस्तृत

विवेचन किया है। उनका कहना है कि कुछ लोग देवताओं को पुरुष के समान ही समझते हैं। ऐसा मानने वालों की युक्ति यह है कि वेद देवताओं की स्तुति उसी प्रकार करता है जिस प्रकार पुरुषों की स्तुति की जाती है। वेद में देवताओं के सवाद प्राप्त होत हैं। देवताओं क अश्व रथ आदि उपकरण बताये गये हैं तथा उनका भोजन आदि करना भी कहा गया है। इस मत के विपरीत कुछ विद्वानों का मत है कि वेदों में यह सब बातें ता वनस्पति पत्थर आदि ऐसे पदार्थों के सम्बन्ध म भा कहा गयी हैं जो स्पष्टत पुरुष के आकार के नही हैं। उदाहरणत औषधियों स कहा गया है कि हे औषधियों। आप रक्षा करें। औषध त्रायस्व। इसी प्रकार छुरे स कहा गया है कि इसे मारो मत। स्वधिते मैन हिंसी। पत्थरों से कहा जाता है कि पत्थरों सुनो—शृणोत ग्रावाण। स्पष्ट है कि औषधि छुर या पत्थरों का आकार पुरुष जैसा नही होता। अत यह कहना कि देव पुरुषाकार हैं पूर्णत ठीक नही। यही नही वेद में नदियों के भी रथ बताये गये हैं—*सुख रथ युयुजे सिन्धुरश्विनम्*—ऋग्वेद संहिता ८/३/८४। क्या इस आधार पर हम नदी को पुरुष के समान मान लेंगे? वेद में यह भी कहा गया है कि पत्थर बोलते हैं—*एते वदन्ति शतवत् सहस्रवत्* इस आधार पर पत्थरों का पुरुष के समान नहीं माना जा सकता। इन दानों प्रकार के विचारों के बीच यास्क का कहना है कि देवता दोनों प्रकार के हैं—पुरुष रूप भी और अपुरुष रूप भी।

देवताओ के आठ प्रकार

पण्डित मोतीलाल जी शास्त्री ने इस समस्या का समाधान यह कह कर किया कि दवता ८ प्रकार के बताये गये हैं जिनमें कुछ पुरुषविध हैं कुछ पुरुषविध नही है—

१ पुरुषविध चेतन अनित्य मनुष्यदेवता—प्रत्यक्ष

२ पुरुषविध चेतन नित्य चान्द्रदेवता—अप्रत्यक्ष

३ अपुरुषविध अचेतन नित्य सौर प्राणदेवता—अप्रत्यक्ष

४ अपुरुषविध अचेतन भूतमय देवता—प्रत्यक्ष

५ अभिमानी देवता—अप्रत्यक्ष

६ मन्त्रदेवता—अप्रत्यक्ष

७ आत्मदेवता—स्वानुभवैकगम्य

८ कर्मदेवता—कर्मसाक्षी

पहले कहा जा चुका है कि इन आठों में देव शब्द तृतीय स्थान पर परिगणित सौर प्राणों के लिये ही प्रयोग में आता है। ये सौर प्राण रूप रस गन्ध शब्द और स्पर्श से रहित हैं तथा अधामच्छद हैं अर्थात् स्थान नही राकते। ये सौर प्राण नित्य हैं। सूर्य पिण्ड इन्ही के आधार पर प्रतिष्ठित है।

तैंतीस देव

स्वयम्भू प्राण नित्य है। इसी का स्थानान्तरण अन्य प्राणों में होता है। इसलिये सभी प्राण नित्य हैं। इसीलिये देवों को भी अजर अमर कहा जाता है। इन प्राणों का इन्द्रियों से ग्रहण नहीं

हो सकता क्योंकि इनमें रूप रस गन्ध स्पर्श तथा शब्द नहीं है। इन प्राणों की तीन अवस्थाएं हैं घन अवस्था अग्नि है तरल अवस्था वायु है और विरल अवस्था आदित्य है। इन तीनों के बीच में दो सन्धि प्राण हैं। इस प्रकार पाँच प्राण हो जाते हैं। इन पाँच प्राणों में भी अग्नि प्राण ८ हैं—१ ध्रुव २ धर ३ सोम ४ आप ५ वायु ६ अग्नि ७ प्रत्यूष ८ प्रभास। एकादश रुद्रों के नाम हैं—१ गार्हपत्याग्नि २ आहवनीयाग्नि ३ विभु ४ वह्नि ५ प्रचेता ६ विश्ववेदा,७ कवि ८ बम्भारि ९ दुवस्वानु १० शुन्ध्यु ११ नैर्ऋत्याग्नि। आदित्य के १२ प्रकार हैं—१ इन्द्र,२ धाता ३ भग ४ पूषा ५ मित्र ६ वरुण ७ अर्यमा ८ अंशु ९ विवस्वान १० त्वष्टा ११ सविता १२ विष्णु। इनमें अग्नि सम्बन्धी ८ देवता वसु कहलाते हैं।

इन (८ वसु + ११ रुद्र + १२ आदित्य =)३१ देवताओं के अतिरिक्त २ देवता और हैं। वसु और रुद्र के मध्य एक देवता है तथा रुद्र और आदित्य के बीच दूसरा देवता है। इन देवताओं को नासत्य तथा दस्र कहा जाता है। इन्हीं का नाम अश्विना कुमार है। यदि ये दो न हों तो वसु रुद्र आदित्य का स्वरूप अपने में प्रतिष्ठित न रहे। इसलिये अश्विना कुमारों को देवताओं का वैद्य कहा जाता है। जिन दो मनुष्य वैद्यों में अश्विनी प्राण की प्रधानता थी वे भी अश्विनीकुमार कहलाये। उन्होंने ही सुकन्या के पति महर्षि च्यवन को च्यवनप्राश देकर युवावस्था प्रदान की थी। इन दो देवताओं के स्थान पर कुछ लोग प्रजापति और वषटकार को तथा कुछ लोग इन्द्र तथा वषटकार को मानते हैं। यह ध्यान रखना चाहिये कि देवताओं की ३३ कोटियाँ हैं न कि ३३ करोड़ देवता हैं। जिस प्रकार प्राण असङख्य हैं। उस प्रकार देवता भी असङख्य कहे जाते हैं। यजुर्वेद रुद्र को असङख्य बतलाता है—*असङख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्।* किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से देवताओं की ३३ ही कोटियाँ हैं।—*कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या त एकत्रिंशत्। इन्द्रश्च वै प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंश इति।* शतपथ १४/६/९/३। आठ वसुओं में पहला वसु अग्नि है तथा बारह आदित्यों में अन्तिम विष्णु है। इस प्रकार अग्नि से विष्णु पर्यन्त ३३ समाविष्ट हो जाते हैं—*अग्निर्वै देवानामवमं विष्णुः परमः तदन्तरेण सर्वा अन्या देवता*—ऐतरेय ब्राह्मण १/११। अग्नि और इन्द्र में अग्नि का धर्म ताप है इन्द्र का धर्म प्रकाश है। प्रकाश देवता का सूचक है अन्धकार असुरों का सूचक है। पृथ्वी का जो भाग सूर्य की ओर प्रकाशमय रहता है अदिति कहलाता है जो भाग अन्धकार की ओर रहता है वह दिति कहलाता है। अदिति के पुत्र समस्त देवता हैं। पृथ्वी में क्योंकि प्रकाश और अन्धकार दोनों हैं इसलिये पृथ्वी अदिति भी है और दिति भी—*इयं वै पृथिवी अदितिः इयं वै पृथिवी दितिः।*

देवासुरसङ्ग्राम

परज्योति एवं रूप ज्योति में स्वज्योति सूर्य है परज्योति चन्द्रमा है और रूपज्योति पृथ्वी है। ये तीनों भूत ज्योति हैं। एक चौथी ज्ञान ज्योति है जिसे ज्योतियों की ज्योति कहा जाता है। इनमें स्वज्योति सूर्य में सदा प्रकाश रहता है इसलिये उसमें देव और असुर दो भाग नहीं होते न देवासुर सङग्राम होता है—

न त्व युयुत्से कतमच्च नाहर्न ते मित्रो मघवन् कश्चनस्ति।
मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाध शत्रुर्न पुरा युयुत्से॥
—शतपथ ब्राह्मण ६/१/६/१९।

किन्तु परज्योति चन्द्रमा में और रूपज्योति पृथ्वी में अन्धकार और प्रकाश का दवासुर सङ्ग्राम चलता रहता है—*देवाश्च वाऽसुराश्च उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे*—(शतपथ ब्राह्मण १ २ ५ १)

तीन देवो की तीन शक्तियाँ

अग्नि का सम्बन्ध अर्थशक्ति से वायु का क्रियाशक्ति से आदित्य का ज्ञानशक्ति से है। पृथ्वी से जुड हुए औषधि वनस्पति कृमि कीट पशु पक्षी मनुष्य आदि का प्रधान बल अर्थशक्ति है। अन्तरिक्ष लोक से जुडे हुए गन्धर्व यक्ष राक्षस पिशाच आदि का प्रधान बल क्रियाशक्ति है। द्युलोक से जुडे पितृ ऐन्द्र प्राजापत्य तथा ब्रह्म का प्रधान बल ज्ञानशक्ति है।

भौम देवता

जिन देवताओं का हमने अभी वर्णन किया व सौर देवता हैं। वे पुरुषविध नही हैं और प्राण रूप होने के कारण अप्रत्यक्ष हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य देवता भी होते हैं जो पुरुष के समान ही हैं। जिन इन्द्र आदि से अर्जुन आदि राजाओं के मिलने का उल्लेख है वे इन्द्र मनुष्यविध दवता थे। प्राचीन भूगोल के अनुसार सुमेरु पर्वत के दक्षिण में ६ वर्ष उत्तर में ६ वर्ष पूर्व में भद्राश्व वर्ष एव पश्चिम में केतुमाल वर्ष है। हिमालय भारतवर्ष। इन वर्षों के मध्य में सुमेरु है। यह सुमेरु ही भौम स्वर्ग है। इसी सुमेरु पर रहन वाले मनुष्यदेवता कहलाते थे। महाभारत के युद्ध के समय इस स्वर्ग में १४वें इन्द्र का राज्य था जिसका नाम हरिवाहन था। अब ये मनुष्यदेवता सोमवल्ली सूर्य सदन नाम से प्रसिद्ध विज्ञान भवन यज्ञ और धनु इन चार देव बलों के नष्ट हो जाने स समाप्त हो चुके हैं।

बहुदेववाद तथा एकेश्वरवाद

वेदों में बारम्बार एक ही देवता को सब दवता कह दिया जाता है। पश्चिम के विद्वानों न इस विशेषता को रेखाङ्कित किया है। भारत में भी बहुदेववाद के स्थान पर एकेश्वरवाद की स्थापना करने वाले विद्वानों ने इस प्रवृत्ति का बारम्बार उल्लेख किया है। पूरा विश्व ब्रह्म ही है। इस दृष्टि से एकेश्वरवाद सत्य है। किन्तु सृष्टि में वह एक ब्रह्म अनेक रूप में परिणत हो गया है। इसलिये बहुदववाद भी निराधार नहीं है। वैज्ञानिक स्थिति यह है कि यद्यपि किसी प्राण की प्रधानता कहीं एक स्थान पर रहती है किन्तु गौण रूप में वहाँ दूसरे प्राण भी रहते हैं। इसलिय किसी एक प्राण में सब प्राण समाहित हैं—यह कहना गलत नहीं है। पृथ्वी अग्नि प्रधान है अग्नि में सब देवता हैं। *अग्नि सर्वा देवता*। अन्तरिक्ष वायु प्रधान है वायु में सब देवता है। *वायु सर्वा देवता*। द्युलोक में इन्द्र प्रधान है इन्द्र में सब देवता हैं। *इन्द्र सर्वा देवता*। साम ही इन सब दवताओं का अन्न है जिसस उन देवताओं का स्वरूप बनता है। इसलिय साम सर्वा देवता कहा जाता है।

अग्नि सोम का सम्बन्ध विष्णु रूप यज्ञ के द्वारा स्थापित होता है इसलिये "*विष्णु सर्वा देवता* कहा जाता है।

१४ प्रकार की सृष्टि

साङ्ख्य मत में आठ प्रकार की सत्वगुण प्रधान देव सृष्टि है। रजोगुण प्रधान मनुष्य सृष्टि एक है तथा तमोगुण प्रधान तिर्यक् सृष्टि पाँच हैं—स्थावर कृमि कीट पशु तथा पक्षी। (साङ्ख्यकारिका ५३ ५४)। द्यावा पृथिवी को निमित्त बनाकर अव्यक्त प्रकृति इस चौदह प्रकार की सृष्टि का निर्माण करती है।

सृष्टि के विकासक्रम मे देव

वनस्पति क पाँव नहीं हैं। वे स्वय ही पादप हैं। मनुष्य सृष्टि के पाँव हैं वे सपाद हैं। चेतन सृष्टि में भी (देव सृष्टि में) पाँव नही है इसे अपाद कहा जाता है। जैसे जैस सौर अश बढता है जीव पृथिवी से ऊपर उठता है। छोटी लट पूरी पृथिवी से छूती है ये कृमि सृष्टि है। कीट सृष्टि में सर्प है जिनके पाँव भीतर की ओर रहते हैं। ये कृमि से अधिक तेज चल सकते हैं। फिर सहस्रपाद कीट आते हैं मक्खी क छ पाँव रहते हैं दो पख बन जाते हैं। चींटी के छ पाँव हैं। अधिक विकसित कीडों के चार ही पाँव और दो पख रहते हैं। मनुष्य के केवल दो पाँव रह जाते हैं। वानर अर्थात् अर्द्धमनुष्य दा पाँव को दो हाथ की तरह प्रयोग में ला सकते हं। यह जीवों के विकास का क्रम है किन्तु विकास यही समाप्त नहीं होता। मनुष्य में ग्यारह इन्द्रियाँ हैं जबकि देवों में आठ सिद्धि और नौ तुष्टियाँ मिलाकर सत्रह इन्द्रियाँ और हैं। इन्हीं अट्ठाईस इन्द्रियों वाले जीवों को देव कहते हैं। ये सब चान्द्रदव कहलाते हैं।

अन्य देवता

चौथे देवता भूतदव हैं जो पृथिवी आदि रूप में हमें दिखायी दे रहे हैं। इन भूतों में जो प्राण अश है वही देव तत्त्व है। यह प्राण सूर्य रूप है। *प्राण प्रजानामुदयत्येष सूर्य*—प्रश्नोपनिषद् १/८। इस सौर प्राण से जिसे बृहती प्राण भी कहते हैं समस्त विश्व व्याप्त है —

"सोऽयमाकाश प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध
तद्यथायमाकाश प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध
एव सर्वाणि भूतान्यापिपीलिकाभ्य प्राणेन
बृहत्या विष्टब्धानीत्येव विद्यात्
—ऐतरेय आरण्यक २/१/६

पाँचवें देवता अभिमानी देवता हैं जिन्हें आत्म देवता कहा जाता है। ये अभिमानी देवता ही अक्षर हैं। ये अभिमानी देवता अन्तर्यामी और सर्वव्यापक हैं। *स ते अन्तर्यामी अमृत*—शतपथ ब्राह्मण १४/६/८। पृथिवी जल इत्यादि इसके शरीर हैं। छठा देवता मन्त्र देवता है। छन्द के कारण देवों के स्वरूप में भेद आता है इसलिए छन्द भी दवता है। ये छन्द देवता ही मन्त्र देवता हैं। सातवा

जीवात्मा आत्म देवता है। आठवाँ कर्म देवता है। जिस कर्म का जो देवता प्रधान है वह कर्म देवता कहलाता है।

यहाँ यह भी दख लेना चाहिये कि ब्राह्मण ग्रन्थ देवों के सम्बन्ध में क्या कहते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में देव शब्द का सम्बन्ध द्यु अथवा दिव स जोडा गया है—*तद्देवाना देवत्व यद् दिवमभिपद्या सृज्यन्त*। (शतपथ ब्राह्मण ११ १ ६ ७) ।

मैत्रायणी सहिता में दिन से देवताओं का सम्बन्ध बतलाया है—*तस्मै पितृ न् स सृजनाय दिवाभवत् तेन देवानसृजत तद् देवाना देवत्वम्*। मैत्रायणी सहिता ४ २ १ अपि च तैत्तिरीय सहिता २ ३ ८.३। सम्भवत दिन से जुडे होने क कारण ही दवताओं का रूप शुक्ल माना जाता है—*देवा एकरूपा सर्वे शुक्ला*—जैमिनीय ब्राह्मण १ २७८। शतपथ ब्राह्मण में दिन को ही देवता कहा है—*अहरेव देवा*।—(शतपथ ब्राह्मण २ १ ३ १) दिन का सम्बन्ध देवताओं से है तो रात्रि का असुरों से—*अहरेव वै देवा आश्रयन्त रात्रिमसुरा*। (एतरेय ब्राह्मण ४ ५) ।

सभी देवता व्रतों का पालन करते हैं। उनमें सत्य प्रमुख है—*एक ह वै देवा व्रत चरन्ति यत्सत्यम्*। (शतपथ ब्राह्मण १४ १ १ ३३) देवताओं ने श्रम तप और व्रत से ही असुर और राक्षसों को जीता—(जमिनीय ब्राह्मण ३ ३५२) ।

कर्म की दृष्टि से देवता अनक हैं किन्तु वस्तुत वे एक ही हैं। *कतम एको देव इति प्राण इति*। (वही, २ ७७ अपि च शतपथ ७ ५ १ २१) सभी देवताओं का परस्पर एसा तादात्म्य है कि किसी एक देव को सर्वदेव कह दिया जाता है—अग्नयो वै सर्वे दवा। प्राय दवताओं का तीन भागों में विभाजन रहता है—*अग्निर्वायुरादित्य एतानि ह तानि देवाना हृदयानि*।—(शतपथ ब्राह्मण १ ३ ४ १२) इनमें वसु आठ हैं रुद्र एकादश और आदित्य द्वादश—*अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादश आदित्या*।

देवता अमर हैं—*अथ ह वै स एव देव सोऽमर्त्य* (जैमिनीय ब्राह्मण १ ९६) उन्हें पाप स्पर्श नहीं कर सकता न वे सोते हैं—*अपहत पाप्मानो वै देवा ते न स्वपन्ति*। (जमिनीय ब्राह्मण ३ ३५४) देवता मनुष्यों से छिपे रहते हैं—*तिर इव वै दवा मनुष्येभ्य* (शतपथ ब्राह्मण ३ १ १ ८) देवता कभी दुखी नहीं होते (मैत्रायणी सहिता २ १ १०) दवता किमी क आगे झुकते नहीं—*न हि नमस्कारमति देवा*। (शाख्यायनारण्यक, १ ५) ।

देवता स्वय परोक्ष हैं—*परोक्ष वै देवा*। (शतपथ ब्राह्मण ३ १ ३ २५) वे पराक्ष को ही कामना करते हैं—*परोक्षकामा हि देवा* (शतपथ ब्राह्मण ६ १ १ २) वे न केवल परोक्षप्रिय हैं अपितु प्रत्यक्ष से द्वेष भी करते हैं—*परोक्ष प्रिय इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विष*। (गोपथ ब्राह्मण १/२/२१) ।

प्रजापति ने देवताओं का उत्पन्न किया *एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजत*। (ताण्ड्य ब्राह्मण ६ ९ १५) मनुष्य और दव दोनों ही प्रजापति है—*उभय वै तत् प्रजापतिर्यच्च देवा यच्च मनुष्या* (शतपथ ब्राह्मण ६ ८.१ ४) इसलिए देव और मनुष्य साथी हैं—*उभय ह वा इदमग्रे स आसुर्देवाश्च मनुष्याश्च*। (शतपथ ब्राह्मण २ ३ ४.४) ।

यज्ञ देवताओं का अपराजय आयतन है—*एतद्वै देवानामपराजितमायतनं यद्यज्ञ* (तैत्तिरीय संहिता ३ ३ ७ ७) यज्ञ दवताओं की आत्मा है—*सर्वेषा वा एष भूताना सर्वेषा देवानामात्मा यद्यज्ञ* (शतपथ ब्राह्मण १४ ३ २ १) ।

देवताओं का छन्द एक अक्षर से सात अक्षर तक है असुरों का छन्द नौ अक्षर से लेकर पन्द्रह अक्षरों तक है—*एकाक्षर वै देवानामवम छन्द आसीत्सप्ताक्षर परमन्नवाक्षरमसुराणामवम छन्द पञ्चदशाक्षर परमम्* (ताण्ड्य ब्राह्मण १२ १३ २७) देवता आनन्द रूप हैं—*आनन्दात्मानो हैव सर्वे देवा* । (शतपथ ब्राह्मण १० ३ ५.१३) पितरों के आनन्द से आजानज देवों का आनन्द आजानज दवों क आनन्द स कर्म देवों का आनन्द और कर्म देवों क आनन्द स दवों का आनन्द सौ गुना है—*ते ये शत पितृ णा चिरलोकलोकानामानन्दा । स एक आजानजाना देवानामनन्द_ते ये शतमाजानजाना देवानामानन्दा । स एक कर्मदेवाना देवानामानन्द । ये कर्मणा देवानपि यतन्ति_ते ये शत कर्मदेवानामानन्दा । स एको देवानामानन्द* (तैत्तिरीयारण्यक ८.८.२ १ अपि च तैत्तिरीयोपनिषद् २ ८.२ ३) ।

देवों का असुरों के साथ भी सहोदर सम्बन्ध ह दोनों प्रजापति के पुत्र हैं—*द्वया उ ह वा अमे प्राजापत्या आसुर देवाश्चैवासुराश्च* । (जैमिनीय ब्राह्मण २ १५०) विद्वान् मनुष्य भी देव हैं—*अथ ये ब्राह्मणा शुश्रुवासोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवा* (शतपथ ब्राह्मण २ २ २ ६) सूर्य से जुडे होने के कारण देवताओं की दिशा पूर्व मानी गई है—*प्राची हि देवाना दिक्* (शतपथ ब्राह्मण १ २ ५.१७) ।

कहा जा चुका है कि प्राण ही दवता है । दवता प्राण से ही अन्न खाते हैं—*प्राणेन वै देवा अन्नमदन्ति अग्निरु देवाना प्राण* । (शतपथ ब्राह्मण १० १ ४ १२) प्राण से ही देवता ढके हैं । जिससे वे ढके हैं उसे वयोनाध या छन्द करते हैं—*प्राणा वै देवा वयोनाधा प्राणैर्हीद सर्वं वयुन नद्धमथो छन्दासि वै देवा वयोनाधाश्छन्दोभिर्हीद सर्वं वयुन नद्धम्* । (शतपथ ब्राह्मण ८.२ २ ८) गोपथ ब्राह्मण में मन को ही देव बताया है—*मनो देव* (शतपथ ब्राह्मण १ २ १०) दूसरी ओर जैमिनीयोपनिषद् में वाक् को ही सब देवता कहा है—*वागिति सर्वे देवा* । (जैमिनीयोपनिषद् १ २ २ २) देवताओं के सब कर्म यज्ञ मे ही होते हैं—*यदुह किञ्चद् देवा कुर्वते स्तोमेनैव तत्कुर्वते यज्ञो वै स्तोम* । (शतपथ ब्राह्मण २ ४ ३ २) पहले दवता भी मरणधर्मा थे । वे यज्ञ से ही अमृतत्व को प्राप्त हुए—*मर्त्या ह वाग्रे देवा आसु स यदेव ते सवत्सरमापुरथाऽमृता आसु* । (शतपथ ब्राह्मण ११ १ २ १२) यज्ञ देवताओं का अन्न है—*यज्ञ उ देवानामन्नम्* । (शतपथ ब्राह्मण ८.१ २ १०) यज्ञ दवों की आत्मा है—*यज्ञ उ देवानामात्मा* । (शतपथ ब्राह्मण ८ ६ १ १०) ।

अपेक्षा से किसी भी दव को सर्वोपरि कह दिया जाता ह । कहीं अग्नि के लिये सर्वप्रथम यजन करने का विधान है—*अग्नि देवताना प्रथम यजेत* (कपिष्ठल कठ संहिता ४८.१६) तो कहा रुद्र को देवताओ में सबस अधिक बलवान् माना गया है—*रुद्रो देवानामोजिष्ठ* (काठक संहिता २४.४) वस्तुत श्रद्धा ही दवों में देवत्व उत्पन्न करती ह—*श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते* । यज्ञ करक हम दवताओं के ऋण से उऋण होते ह—*तेन देवेभ्य ऋण जायते तद्धयेभ्य एतत्करोति यदनान्यजते यदेभ्यो जुहोति* । (शतपथ ब्राह्मण १ ७ २ २)

देवों के सम्बन्ध में इस सामान्य जानकारी के अनन्तर अग्नि वायु इन्द्र तथा आदित्य के सम्बन्ध म विशप जानकारी देना उचित हाणा।

आठ वसु

पृथिवी का दवता अग्नि है। ये आठ वसु रूप हैं। पुराणों में आठ वसुओं का गिनती अनेक प्रकार से है। एक सूची के अनुसार सूर्य प्रभात यज्ञात्मा प्रत्यूष द्यौ ध्रुव धर और धारा ये आठ वसु हैं। दूसरी सूची के अनुसार ध्रुव धर सोम आप वायु अग्नि प्रत्यूष और प्रभात ये आठ वसु हैं। तीसरी सूची के अनुसार पञ्चभूत सूर्य साम और प्रत्यूष आठ वसु हैं। चौथी सूची के अनुसार पञ्चभूत सूर्य चन्द्र और यजमान आठ वसु हैं। पाँचवीं सूची के अनुसार पृथ्वी अन्तरिक्ष द्यु तथा आप य चार लोक तथा अग्नि वायु सूर्य और चन्द्र ये चार देव मिल कर आठ वसु बनते हैं।

अग्नि की पाँच चिति

अग्नि की पाँच चिति हैं। प्रथम तृतीय और पञ्चमचिति अग्नि वायु और आदित्य की है दूसरी और चौथी चिति देव और ऋषियों की है।

एक मत है कि प्रथम चिति अग्नि वायु है दूसरी दवता चिति है तीसरी इन्द्र अग्नि और विश्वकर्मा है चौथी आत्रयी है पाँचवी परमेष्ठी है। यह क्षर अग्नि का विवरण हुआ।

अक्षर अग्नि

अक्षर अग्नि का काम पिण्ड और मूर्ति को जन्म देना है। पिण्ड का निर्माण प्राण के द्वारा प्रेरित मन के परस्पर आघात स होता है। जब मन का परस्पर प्रपीडन हाता है तो वह मूर्छित हो जाता है और मूर्ति का निर्माण होता है। इस मूर्ति के चारों आर हृदय स उठा हुआ रस व्याप्त हो जाता है। इसे अग्नि कहते हं।

अग्नि का सर्वदेवत्व

प्राण के बल से वाक् में विकार होता है। उसस दा प्रकार की वृत्तियाँ पैदा होती हैं उनमें बहिर्वृत्ति अग्नि है अन्तर्मुखवृत्ति साम। अग्नि का जो स्वरूप सोम से मिलता है वह सृष्टि का निर्माण करता है। वह यज्ञ स्वरूप है। अग्नि का जो स्वरूप सोम विरोधी है उसे यम कहते हैं। यम के कारण अग्नि और साम का वियाग हा जाता है आर अग्नि बुझ जाती है। अग्नि से जलन वाला सोम है किन्तु अग्नि स न जलकर प्रबल हान पर अग्नि को ही बुझा देने वाला आप कहलाता है। इस प्रकार अग्नि और यम सोम और आप मिलकर सृष्टि बनाते हैं। अग्नि का लोक पृथ्वी है यम का लोक सूर्य है साम का लोक चन्द्रमा है आप का लोक समुद्र। अग्नि में दवता सोम में पितर यम में भी पितर तथा आप में असुर प्रतिष्ठित हैं। २१ अहर्गण तक अग्नि है। ९ १५ आर २१ स्तोमों में जो विष्णु के तीन विक्रम हैं व अग्निस्वरूप हो हैं। विष्णु जब अग्नि के आगे जल पर विक्रमण करता है तो स्वयं भी साम में मिल जाता है।

ऋक् यजु और साम में प्राण नामक अग्नि है। जल वायु और सोम के तीन भृगुओं में अथर्वाग्नि है। आदित्य यम और अग्नि की तीन अङ्गिराओं के रहने वाली अग्नि ही अग्नि कहलाती है। ऋक् में महोक्थ साम में महाव्रत और यजु में पुरुष नामक महाग्नि है। जल में वरुण वायु में शिव और साम में पवमान नामक अग्नि है। इस प्रकार अग्नि ही सर्व व्यापक है। विष्णु के तीन विक्रम तीन उर्क् कहलाते है। इक्कीसवं अहर्गण तक अग्नि तैंतीसवें तक आप और चौतीसवें तक प्राण है। अग्नि को तीन त्रिवृत् कहते हैं क्योंकि प्रात सवन गायत्री अग्नि और वसु रूप में त्रिधा विभक्त है माध्यन्दिन सवन त्रिष्टुप्, इन्द्र और इद रूप में त्रिधा विभक्त है। तृतीय सवन जगती वैश्वदेव्य और आदित्य रूप से त्रिधा विभक्त है। प्रात सवन पृथ्वीलोक से, माध्यन्दिन अन्तरिक्ष से और तृतीय सवन द्युलोक से सम्बद्ध है। इस प्रकार अग्नि ही सब देवता है।

अग्नि सोम

अग्नि १ज्ञ का आवश्यक अङ्ग है। अग्नि में सोम का आहुत होना यज्ञ है। अग्नि तेज है सोम स्नेह है, अग्नि विशक्लन करता है सोम सङ्कोच अग्नि गतिधर्मा है सोम स्थितिधर्मा है। स्थिति से पदार्थ का निर्माण होता है और गति उसमें विकीर्णता लाती है। ईशोपनिषद् में इसे ही सम्भूति और विनाश कहा है। सम्भूति सोम से होती है और विनाश अग्नि से। इस प्रकार अग्नि और सोम ससार के सभी पदार्थों में व्याप्त है—अग्नीषोमात्मक जगत्। अग्नि की इस सर्वव्यापकता को समझने के बाद उसके अनेक भेद भी समझे जा सकते हैं।

त्रिविध अग्नि

सौर अग्नि को ही आहवनीय अग्नि कहा जाता है। इसके विपरीत पृथ्वी की अपनी अग्नि गार्हपत्याग्नि कहलाती है क्योंकि वह पृथ्वी रूपी ग्रह का पति है। दक्षिण भाग में रहने वाली अग्नि औषधियों को पकाती है। इसे ऋताग्नि अथवा श्रपणाग्नि कहते हैं।

स्तोमों में विभाजन की दृष्टि से भूपिण्ड से त्रिवृत्स्तोम पर्यन्त पृथ्वीलोक है। अत यहाँ तक गार्हपत्य अग्नि है। पञ्चदश स्तोम पर्यन्त दक्षिणाग्नि है तथा एकविंशस्तोम पर्यन्त आहवनीयाग्नि है। आहवनीयाग्नि सप्तदशस्तोम पर्यन्त ही है किन्तु सोमाहुति के प्रभाव से यह एकविंश स्तोमपर्यन्त व्याप्त हो जाता है।

अग्नि यज्ञ का मूल है। अग्नि के सात प्रकार हैं। उसी के आधार पर ज्योतिष्टोम नाम के अग्नि यज्ञ के भी सात रूप हो जाते हैं—अग्निष्टोम अत्यग्निष्टोम उक्थ्यस्तोम षोडशीस्तोम अतिरात्रस्तोम वाजपेयस्तोम आप्तोर्यामस्तोम। जिस प्रकार अग्नि सात प्रकार का है उसी प्रकार जिस सोम की आहुति अग्नि में पडती है वह सोम भी सात ही प्रकार का है। ऊपर हमने पृथ्वी लोक की गार्हपत्य अग्नि का वर्णन किया यह प्राणाग्नि है यही अपान है। दक्षिणाग्नि तरल है यह वायु है यही व्यान है। आहवनीय अग्नि विरल है यह आदित्य है यही प्राण है। इस प्रकार एक ही अग्नि घन तरल तथा विरल होकर अग्नि वायु और आदित्य नाम से तीनों लोकों में व्याप्त हो जाती है। प्राण के रूप में इसमें न ताप है और न ऊष्मा। किन्तु पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्यौ इन

तीन विश्वों के अग्नि वायु और आदित्य इन तीन नरों के सयोग से उत्पन्न वैश्वानर में ताप उत्पन्न होता है। इस वैश्वानर में ही सोम की आहुति होती है। इसे ही वैश्वानर यज्ञ कहा जाता है। यही सवत्सर यज्ञ है।

अध्यात्म में अग्नि

अध्यात्म में भी अग्नि का स्वरूप समझ लेना चाहिये। नाभि के नीचे का भाग गार्हपत्य है। कण्ठ स ऊपर सिर तक आहवनीय अग्नि है। नाभि से ऊपर और कण्ठ से नीचे का भाग वेदि है। दक्षिण भाग में श्रपणीय अग्नि है। कोष्ठ में वैश्वानर अग्नि है। देवप्राण में ग्रन्थिबन्धन होने पर देवात्मा होता है पृथ्वी प्राण से ग्रन्थिबन्धन होने पर मानुषात्मा होता है। इस प्रकार शरीर में सदा ही सोम यज्ञ चलता रहता है। ब्रह्मरन्ध्र इसकी महावेदी है। मूलाधार से नाभि तक गार्हपत्य पार्थिव यज्ञ है। ललाट के उत्तर भाग में आहवनीय है। भ्रुवों और नासिका की सन्धि सप्तदशाह सोम यज्ञ है। इस यज्ञ से देवात्मा का उदय होता है।

अग्नि के अन्य भेद

पृथ्वी को अग्निगर्भा कहा जाता है क्योंकि भूपिण्ड में अग्नि प्रधान है। पार्थिव अग्नि की तीन अवस्थाए हैं वारुणाग्नि प्रवर्ग्याग्नि ब्रह्मौदनाग्नि। वारुणाग्नि "आप्या नामक जलीय अग्नि से भू पिण्ड का निर्माण करती है। यही अग्नि अपने तेजोभाव से अप् तत्त्व को परिपक्व बनाकर क्रमश आठ रूपों में परिणत कर देता है। आप फेन मृत् सिकता शर्करा अश्मा अय हिरण्य। इस आप्य प्राण को असुर कहा जाता है। इसी के कारण औषधियों का परिपाक होता है। शरीर में अन्न को पचाने के कारण यही आमात् भी कहलाता है। प्रवर्ग्याग्नि वह है जो भूपिण्ड के अग्नि द्वारा मल बनाकर बाहर फेंका जाता है। यह प्रवर्ग्याग्नि प्राण रसहीन पदार्थों का भक्षण करता रहता है। निर्ऋतिदेवता इसी पर प्रतिष्ठित है। यह शव अन्न का भक्षक है। इसे क्रव्यात् अग्नि कहते हैं। तीसरा अग्नि हव्यवाट है जो देवताओं के लिए सोम रस का वहन करता है। यह हव्यवाट् अग्नि ही यज्ञ का अग्नि है। भस्म से आवृत ज्वालाशून्य अग्नि सहरक्षा है। सहरक्षा असुरों का दूत है—*सहरक्षा वै असुराणा दूत आस*। जब इस भस्म को हटाया जाता है तभी यह अग्नि देवताओं से पुरोडाश सङ्गमन कराता है।

अङ्गार का जो भाग भूमि पर रहता है वायु का प्रवेश न होने के कारण वह भाग प्रज्वलित नहीं होता है। इसलिये उसे आसुरप्राण का अधिष्ठाता माना जाता है।—*यद्वै वातो नाभिवाति तत् सर्वं वरुणादैवत्यम्*—कौषीतकि ब्राह्मण।

ऊपर हमने घन तरल और विरल तीन अवस्थाओं का दर्शन किया इन्हें ही ब्राह्मण ग्रन्थों में ध्रुव धरुण धर्त्र कहा जाता है। उदाहरणत कर्पूर घन अवस्था में है। वह अग्नि के ताप से पिघलकर तरल अवस्था में आ जाता है तथा उड जाने पर वही विरल अवस्था में आ जाता है।

अग्नि के कार्य

अग्नि का एक नाम अन्नाद है साम का नाम अन्न है। इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध है।

अग्नि विकास धर्मा तैजस तत्व है सोम सङ्कोच धर्मा स्नेह तत्व है। स्नेह का सम्बन्ध सङ्ग्रह से है और तेज का सम्बन्ध त्याग से ह। ये दोनों परस्पर जुड़ हुए हैं। त्याग के लिए सङ्ग्रह आर सङग्रह के लिये त्याग किया जाना है। त्याग द्वारा हम नवीन पदार्थ का ग्रहण करन के लिये स्थान बनाते हैं। अत त्याग भी सङग्रह का साधन बनता है। सङग्रह यदि त्याग से रहित हो तो वह जड बनकर स्वरूप को ढक लेता है। अत सङग्रह के साथ त्याग भाव आवश्यक है।

यम और अग्नि के प्राणों के मेल से वायु के परमाणु बनते हैं। सोम और अग्नि के मेल से जल के परमाणु बनते हैं। यम अग्नि और सोम तीनों प्राणों के सयोग से मृतिका के परमाणु बनते हैं।

वेदों के पाँच देवताओं में अग्नि अन्यतम है—ये पाँच देवता हैं—ब्रह्मा विष्णु इन्द्र अग्नि और सोम। इनमें प्रथम तीन—ब्रह्मा विष्णु और इन्द्र—पदार्थ के केन्द्र का निर्माण करते हैं। ब्रह्मा स्थिति है विष्णु आगति है और इन्द्र गति है। अग्नि और सोम पदार्थ के पृष्ठ भाग का निर्माण करते हैं। अग्नि गति है और सोम आगति है किन्तु इन गति और आगति के साथ स्थिति मिली हुई है।

अग्नि को ज्योति के रूप में देखें तो हम विश्व के पाँच पर्वों में इस ज्योति को देख सकते हैं। स्वयम्भू परम ज्योति है। इसका सम्बन्ध ब्रह्मा से है। परमेष्ठी अव्यक्त ज्योति है। इसका सम्बन्ध विष्णु से है। सूर्य स्व ज्योति है। इसका सम्बन्ध इन्द्र से है। चन्द्रमा पर ज्योति है। इसका सम्बन्ध सोम से है। पृथ्वी रूप ज्योति है। इसका सम्बन्ध अग्नि से है।

अग्नि को अपने कार्य में जल से सहायता मिलती है। रसरूप पानी के बिना आषधियों का परिपाक नही हो सकता। नया मकान पानी से भिगोया जाता है ताकि सूर्य के ताप से वह दृढ हो जाये। इसका कारण यह है कि अग्नि को अन्तर्याम सम्बन्ध से पानी ही पकड सकता है। जठर में भी पानी के बिना अन्न नहीं पच पाता। इस प्रकार पानी अग्नि की प्रतिष्ठा है।

अग्नि के अन्य भेद

वाक् तत्व भी अग्नि है। वाक् तत्व को वेदाग्नि कहा जाता है। यही सत्याग्नि भी है। अप तत्व ऋताग्नि कहलाता है। यही सुब्रह्म अग्नि है। अग्नि रस है वायु रसतर है और आदित्य रसतम है। यही तीन तत्व हमारे भोजन में तीन रूपों में मिलते हैं—दधि घृत और मधु। इनमें दधि पार्थिव है घृत अन्तरिक्ष से जुडा है और मधु द्युलोक से जुडा है। ये तीनों ही अन्न को सरस बनात ह। वर्षा का जल घृत रूप ही है। घृत भी एक प्रकार का अग्नि है। वह अग्नि इन्द्र से प्रतिमूर्छित है। अग्नि के चार भेद है—पौरुषाग्नि प्राकृताग्नि विराडग्नि और सवत्सर अग्नि। अक्षर पुरुष की पाँच कलाओं में जो अग्नि है वह पौरुषाग्नि है। वस्तु के स्वरूप को बनाने वाली अग्नि प्राकृताग्नि है। ऋषि प्राण की समष्टि रूप अग्नि विराडग्नि है। यज्ञ की सौर अग्नि सवत्सर अग्नि ह।

प्रकारान्तर से अग्नि पुन चार प्रकार की है—ब्रह्म सुब्रह्म शुक्र तथा भूत। ब्रह्म अग्नि का सम्बन्ध स्वयम्भू से है परमेष्ठी की अग्नि सुब्रह्म अग्नि है। इन दोनों क सयोग से उत्पन्न होने

वाली शुक्र अग्नि है। जिसे हम स्थूल अग्नि के रूप में देखते हैं वह भूताग्नि है। अग्नि के अन्य चार भेद हैं—रसाग्नि आर्तवाग्नि छन्दस्याग्नि और सावित्राग्नि। रसाग्नि पदार्थों में दधि घृत और मधु के रूप में रस उत्पन्न करती है। यही हव्यवाट् कहलाती है। आर्तवाग्नि दक्षिण से उत्तर की ओर जानेवाली अग्नि है जो वनस्पतियों का परिपाक करती है। छन्दस्याग्नि वाक् अग्नि है और सावित्राग्नि सौर अग्नि है।

अग्नि सोम

पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्यौ से घनाग्नि तरलाग्नि और विरलाग्नि दधि घृत और मधु का सञ्चार अन्न में करते हैं। इनमें दधि अश्मासोम है जो अस्थि का निर्माण करता है। अश्मा सोम से युक्त प्राण को दध्यङ कहते हैं। ऋषि प्राण का नाम है अतः इसे दध्यङ् ऋषि कहा जाता है। पुराणों में यही दधीचि बन गया। इसी दधीचि की अस्थि के वज्र से इन्द्र ने असुरों को मारा। अश्मासोम दाह्य है और सावित्राग्नि दाहक है। अश्मासोम की सौर अग्नि में आहुति होती है और अन्धकार का नाश होता है। यही असुरों का नाश है। *इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्य प्रतिस्कुतः। जघान नवतीर्नव*।—ऋक् संहिता १/८४/१३। अग्नि अङ्गिरा है तो आप भृगु है। भृगु का धर्म स्नेह है अग्नि का तेजोधर्म है। इन दोनों के संयोग से भू पिण्ड का निर्माण होता है।

सोम और अग्नि के युग्म को स्त्री पुरुष के माध्यम से भी समझा जा सकता है। दक्षिण में स्त्री सौम्या है। इसलिए चरक ने शैय्या पर चढते समय पुरुष को पहले दाहिना पैर और स्त्री को बाया पैर रखने की सलाह दी है। हमारे शरीर में भी दाहिना भाग अग्नि से बना है तथा बाया भाग सोम से बना है। इसलिए दाहिना हाथ अधिक सबल होता है बाया हाथ निर्बल होता है।

वषट्कार

शरीर का अग्नि वायु के आघात से वाक् बन जाता है इसलिए वाक् को भी अग्नि कहा जाता है। "*अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्*" मौन से वाक् का व्यय नहीं होता इसलिए मौन शक्ति की रक्षा करता है। किसी भी पदार्थ के मण्डल को तैंतीस भागों में बाटे तो इन तैंतीस विभागों के छ विभाग होते हैं—नौ अहर्गणों का पहला विभाग पन्द्रह का दूसरा सत्रह का तीसरा इक्कीस का चौथा सत्ताईस का पाँचवा और तैंतीस का छठा। ये छहों विभाग वाक् के हैं इसलिए इन्हें वषट्कार कहते हैं। इनमें इक्कीसवें अहर्गण तक अग्नि रहता है।

अग्नि हमारे शरीर में अनेक कार्य करती है। जो अन्न हम लेते हैं उसका मल भाग आत्मा का विरोधी है। रस भाग आत्मा का अवरोधी है। रस भाग को आत्मा रख लेता है मल भाग केश लोम बन जाता है। हमारे शरीर में अग्नि से प्राण का वायु से शरीर का और आदित्य से रूप का विकास होता है।

अग्नि के सम्बन्ध मे मतभेद

अग्नि के स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक विषयों के अनेक मत थे। शाकायनि के अनुसार वायु ही अग्नि है,क्योंकि अग्नि का काम विकास है और विकास गति से होता है तथा गति वायु

का विशेष धर्म है। यह वायु ही सङ्घात रूप आदित्य अग्नि प्रथमज है किन्तु शाध्यायनि का मत है कि पार्थिव चित्याग्नि ही मुख्य है। वस्तुस्थिति यह है कि तीनों अग्नियों का जनक सवत्स अग्नि है। पार्थिव अग्नि उसकी वाक् है वायु उसका प्राण है। आदित्य उसका चक्षु है। स्थिति रूप में यही घनाग्नि है। गति रूप में यही तरल रूप तथा विरल अग्नि है। शाट्यायनि का मत है—*सवत्सर एवाग्नि*। अग्नि का एक स्वरूप ऋताग्नि भी है। यह केन्द्र विच्युत प्रवर्ग्याग्नि है जिसे सोमात्मक अग्नि कहा जाता है। यह अग्नि अन्नाद न होकर अन्न रूप है चन्द्रमा अग्नि का ऐसा ही रूप है।

ब्रह्माग्नि रूप स्वयम्भू का देवता ऋषि है देवाग्नि रूप सूर्य का देवता देव है तथा भूताग्नि रूप भूपिण्ड का देवता भूत है। द्युलोक इन्द्र प्रधान है पार्थिव सस्था अग्नि प्रधान है। इन्द्र क्षत्र है अग्नि ब्रह्म है। उनके परस्पर सहयोग से ही सृष्टि बनती है।

अथेन्द्राग्नी वा असृज्येताम्। ब्रह्म च क्षत्र च।
अग्निरेव ब्रह्मेन्द्र क्षत्रम् तौ सृष्टौ नानेवास्ताम्।
तावब्रूता न वा इत्थ सन्तौ शक्ष्याव प्रजा प्रजनयितुम्।
एका रूपमुभावसावेति। तावेक रूपमुभावभवताम्।
—(शतपथ ब्राह्मण १०/४/१/५)

ब्राह्मण ग्रन्थो में अग्नि

ब्राह्मणग्रन्थों में अग्नि का विस्तार से वर्णन है। शतपथ कहता है कि सब देवताओं में प्रथम अग्नि का जन्म हुआ इसलिए इसे अग्नि कहा जाता है। जैसा कि वैदिक भाषा की प्रवृत्ति है मूल शब्द को रूपान्तरित करके प्रयोग किया जाता है। जिसे ब्राह्मण ग्रन्थ परोक्ष शैली कहते हैं। उसी शैली के अनुसार अग्नि अग्नि हो गया—*स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोऽक्षम्*। शतपथ ब्राह्मण ६ १ १ ११। इसलिए देवताओं में अग्नि को प्रथम स्थान दिया गया है—*सोऽग्निमेवाग्रे असृजत्*—काठक सहिता ७ ५। इसलिए अग्नि को सर्वप्रथम आहुति दी जाती है—*अग्नि प्रथम इज्यते*। मैत्रायणी सहिता ३ ८ १। अपि च *अग्नि देवतानां प्रथम यजेत्*—कपिष्ठल कठ सहिता ४८.१६।

वस्तुत अग्नि को ही सब देवता बताया गया है—*अग्निर्वै सर्वा देवता*। मैत्रायणी सहिता १ ४ १३। अग्नि को सब देवताओं की आत्मा बताया गया है—*अग्निर्वै सर्वेषा देवानामात्मा*—शतपथ १४ ३ २ ५। वस्तुत सब देवता प्राण हैं तो अग्नि भी प्राण ही है—*प्राणा अग्नि*—शतपथ ब्राह्मण २ २ ९। अग्नि को सब देवता बताने का अर्थ है कि अग्नि वह मूल प्राण है जो अन्य देवप्राणों में परिवर्तित होता है। अग्नि अन्य देवताओं में परिवर्तित होता है। अग्नि के अन्य देवताओं में परिणत होने की प्रक्रिया शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार दी गई है। जब अग्नि प्रथम समृद्ध होता है और इसमें उष्णता आती है तो वह रुद्र होता है। जब यह और भी अधिक प्रदीप्त होता है तो वरुण हो जाता है और जब यह अत्यन्त तीव्र रूप में प्रज्वलित होता है तो इन्द्र हो जाता है। जब इसकी किरणें तिरछी होने लगती है और यह शान्त होने लगता है तो मित्र हो जाता है

और जब अङ्गारा बन जाता है तो ब्रह्म हो जाता है—

अथ यत्रैतत्प्रथम समिद्धो भवति धूप्यत एव तर्हि हैष भवति रुद्र । अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति तर्हि हैष भवति वरुण । अथ यत्रैतत्प्रदीप्तो भवति उर्ध्वैर्धूम परमया जूत्या बल्बलीति तर्हि हैष भवतीन्द्र । अथ यत्रैतत्प्रतितरामिव तिरश्चीवार्चि संशाम्यतो भवति तर्हि हैष भवति मित्र । अथ यत्रैतदङ्गाराश्चाकारयन्त इव । तर्हि हैष भवति ब्रह्म—शतपथ ब्राह्मण २ ३ २ ९ १३ ।

जब अग्नि बढता है और घटता है तो वह उसका मैत्रावरुण रूप है—*अथ यदुच्च ह्रस्यति तदस्य मैत्रावरुण रूपम्*—एतरेय ब्राह्मण ३ ४ । काण्व शतपथ ब्राह्मण में माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण की सरणि से थोडा हटकर अग्नि का सर्वदेवमयत्व इस रूप में कहा गया है कि अग्नि जब प्रथम प्रज्वलित होता है तो वरुण होता है । जब और बढ जाता है तो रुद्र हो जाता है और जब सबसे अधिक बढ जाता है तो इन्द्र हो जाता है । केवल किरणें मित्र हैं और अङ्गारे ब्रह्म हैं—*स यत्र ह वा एष प्रथम सप्रधूप्य प्रज्वलति तद्ध वरुणो भवत्यथ यत्र समज्वलितो भवत्यथरेणेव वर्षिमाण तद्ध रुद्रो भवत्यथ यत्र वर्षिष्ठ ज्वलति तद्धेन्द्रो भवत्यथ यत्र नितरामर्चयो भवन्ति तद्ध मित्रो भवत्यथ यत्राङ्गारा मल्मलायन्तीव तद्ध ब्रह्म भवन्ति*—काण्वशतपथ ३ १ १ १ ।

यद्यपि अग्नि का सम्बन्ध सब देवताओं से है पर स्वय अग्नि पृथिवी स्थानीय देवता है । वैदिक त्रैतवाद में तीन देव, तीन लोक तीन वेद तथा आत्मा के तीन मनोताओं का सम्बन्ध इस प्रकार है—

देव	लोक	वद	आत्मा के मनोता
अग्नि	भू	ऋग्वेद	वाक्
वायु	भुव	यजुर्वेद	प्राण
आदित्य	स्व	सामवेद	मन

अग्नि से भू अथवा पृथिवी का सम्बन्ध बतलाते हुए कहा गया है—*अय वा अग्निर्लोक*। शतपथ ब्राह्मण ६ ६ ३ १५ *अपि च अय वै लोको अग्नि*—शतपथ ब्राह्मण १४.१ ९ १४ । तैत्तिरीय आरण्यक कहता है भू ही अग्नि है—*भूरिति वा अग्नि*—तैत्तिरीय आरण्यक ७ ५ २ । इसी प्रकार अग्नि को ऋग्वेद से भी जोडा गया है—*अग्नेर्ऋग्वेद*—शतपथ ब्राह्मण ११ ५.८.२ । आत्मा के तीन मनोताओं में अग्नि का सम्बन्ध वाक् से है—*अग्निर्वाग्भूत्वा मुख प्राविशत्*—एतरेयआरण्यक २ ४ २ । यह मानों अग्नि ही वाक् में आहुति थी—*अग्निर्वाचि (हुत)*—शाख्यायन आरण्यक १० १ । जैमिनीय ब्राह्मण में अग्नि को वाक् कहा है—*अग्निर्वै वाक्*—जैमिनीय ब्राह्मण २ ५४ । काठक सहिता में वाक् पृथिवी अग्नि और रथन्तर साम का एक साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहा जो वाक् पृथिवी है वही अग्नि में है वही रथन्तर में है—*या (वाक्) पृथिव्या साऽग्नौ सा रथन्तरे*—काठक सहिता १४.५ । पृथिवी का छन्द गायत्री होने के कारण पृथिवी से सम्बद्ध गायत्री छन्द भी अग्नि से जुडा हुआ है—*अग्निर्गायत्री छन्दा*—काठकसहिता, इसी नाते अग्नि शरीर है—*अग्नि शरीरम्*—तैत्तिरीय सहिता २ २ १० ४ । यह त्रिवृत् स्तोम है—*अग्निरेवैष*

यत्त्रिवृत्स्तोम—जैमिनीय ब्राह्मण २ ९० ।

अग्नि विराट है—*अग्निर्वै विराट*—काठक संहिता १८ १९ तो वायु हिरण्यगर्भ है और आदित्य प्राज्ञ है। विराट के रूप में अग्नि पदार्थ के शरीर का निर्माण करता है—*विश्वा हि रूपाण्यग्नि*—मैत्रायणी संहिता ३ २ १ ।

इसी रूप में अग्नि विश्वकर्मा है—*विश्वकर्मा अयमग्नि*—शतपथ ब्राह्मण ९ २ २ २ । इसी रूप में वह प्रजापति का विराट स्रष्टा है—*विराट स्रष्टा प्रजापते*—तैत्तिरीय संहिता १ २ २ २७। वह प्रजापति है—*अग्नि प्रजापति*—काठक संहिता २२ ७ १० । वह उत्पन्न करने वाला है—*अग्नि प्रजनयिता*—मैत्रायणीसंहिता, ६ ७। वह सविता है—*अग्निरेव सविता*—गोपथ ब्राह्मण १ १ ३३ । वही प्रजननशक्ति है—*अग्नि प्रजननम्*—गोपथब्राह्मण, १ २ १५ ।

अग्नि और सोम का जोडा है। अग्नि दिन है तो सोम रात्रि—*अग्निर्वा अह सोमो रात्रि*—शतपथ ३ ४ ३ १५ अपि च। सोम अन्न है—*सोमो अन्नम्*—काठक संहिता १३ १२ तो अग्नि अन्नाद है—*अग्निर्वै देवानामन्नाद । अन्नादोऽग्नि*—शतपथ २ १ ३ २८। अन्नाद होने के कारण अग्नि को अन्नपति भी कहा जाता है—*अन्नादो वा एषोऽन्नपतिर्यदग्नि*—एतरय ब्राह्मण १ ८। अग्नि के द्वारा ही देवता अन्न खाते हैं—*अग्निना वै देवा अन्नमदन्ति*—काठक संहिता ८.४।

अग्नि पृथिवी का देवता है। उसका सम्बन्ध आठ वसुओं से है—*अग्निर्वै वसुमान्*—मैत्रायणी संहिता ४ १ १४। तैत्तिरीय आरण्यक न आठ वसुओं की सख्या इस प्रकार दी है—*अग्निश्च जातवेदाश्च सहोजा अजिरा प्रभु । वैश्वानरो नर्यापाश्च पङ्क्तिराधाश्च सप्तम । विसर्पेवाष्टमोऽग्नीनाम् । एतेऽष्टौ वसव क्षिता इति*—तैत्तिरीयारण्यक, १ ९ १ १ । इन वसुओं की आठ सख्या होने के कारण ही अग्नि के लिए पुरोडाश अष्टकपालों से बनता है—*अग्नय आयुष्मते पुरोडाशमष्टकपाल निर्वपेद्य कामयेत सर्वमायुरियामिति*—तैत्तिरीय संहिता २ २ ३ २ । इसी प्रकार आठ अक्षरों वाले अनुष्टुप् छन्द को भी अग्नि की प्रिय शरीर बताया गया है—*अनुष्टुब्वाग्न प्रिया तनू*—काठक संहिता १९ ५ ।

अग्नि का तरल रूप वायु है तो विरल रूप सूर्य है इसलिए वायु भी अग्नि है—*वायुर्वा अग्नि*। ऐतरेय ब्राह्मण २ ३४—तथा आदित्य भी अग्नि है—*आदित्योऽग्नि*—काठक सकलन ८३ । अग्नि का सम्बन्ध वाक् से है वायु का प्राण से आदित्य का मन से और वाक् प्राण मन ही आत्मा है इसलिए मानों अग्नि ही आत्मा है—*आत्मैवाग्नि*—शतपथ ६ ७ १ २० । आत्मा और ब्रह्म में अन्तर नहीं है इसलिए अग्नि ब्रह्म है—*अयमग्निर्ब्रह्म*—वही, ९.२ १ १५ ।

अग्नि ही पुरुष में जाकर वैश्वानर बन जाता है—*पुरुष एवाग्निर्वैश्वानर*—जैमिनीय ब्राह्मण १ ४५ । यह वैश्वानर ही अन्न को पकाता है—*अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्त पुरुषे येनेदमन्न पच्यते यदिदमत्यते*—शतपथ १४.८.१० १ ।

क्योंकि अग्नि पदार्थ के मूर्त पक्ष का निर्माण करता है और पदार्थ का मूर्त रूप ही उस आच्छादित करने के कारण छन्द कहलाता है इसलिए छन्दों को अग्नि का शरीर कहा गया है—*छन्दासि खलु वा अग्ने प्रिया तनू*—तैत्तिरीय संहिता ५.१ ५.३ । छन्द मानो अग्नि के वस्त्र

हैं। अग्नि छन्दों से ही ढका जाता है—*छन्दांसि वा अग्नेर्वासश्छन्दांस्येष वस्ते*—मैत्रायणी संहिता ३ १ ५। अग्नि अन्नाद के रूप में अन्न को ग्रहण करता है। उस अन्न के रस से शरीर का निर्माण होता है। इस प्रक्रिया के कारण ही शरीर में परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन का ही नाम मृत्यु है। इसलिए अग्नि को ही मृत्यु कहा गया है—*अग्निर्वै मृत्यु*—शतपथ १४ ६ २ १०।

अग्नि का एक रूप भरत है—अग्नि देवताओं के लिए हवि ले जाता है इसलिए उसका नाम भरत है—*अग्निर्वै भरत। स वै देवेभ्यो हव्यं भरति*—कौषीतकि ब्राह्मण ३ २। अग्नि का यह भरत रूप ब्राह्मण रूप है जिसके कारण अग्नि महान् है—*अग्नेऽमहाँ असि ब्राह्मण भरत*—कौषीतकि ब्राह्मण ३ २। अग्नि केवल देवताओं का ही हव्यवहन नहीं करती अपितु प्रजाओं का भी प्राण भरण करती है—*एष उ वा इमा प्रजा प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्मादेवाह भारतेति*—शतपथ ब्राह्मण १ ४.२ २। ऐतरेय ब्राह्मण में अग्नि को भरत कहने का एक कारण यह भी दिया है कि अग्नि एक है किन्तु उसे अनेक रूपों में धारण किया जाता है—*यदेनमेकं सन्तं बहुधा विहरन्ति*—ऐतरेय ब्राह्मण १ २८।

जब तक अग्नि को सोम मिलता रहता है इसका शिव रूप होता है किन्तु यही अग्नि जब सोम की आहुति नहीं पाता तो रुद्र रूप हो जाता है—*अग्निर्वै रुद्र*—मैत्रायणी संहिता २ १ १०। अग्नि में सोम की आहुति ही यज्ञ है। मानो अग्नि ही यज्ञ है—*अग्निर्वै यज्ञ*—वही, ३ ६ १। अग्नि भू लोक का देवता होने के कारण यज्ञ का एक छोर है तो विष्णु द्युलोक का देवता होने के कारण दूसरा छोर है—*अग्निर्वै यज्ञस्यावस्तात् विष्णु परस्तात्*—मैत्रायणी संहिता ४ ३ १। इसे ही दूसरे शब्दों में इस रूप में कहा जा सकता है। अग्नि देवताओं में प्रथम है विष्णु चरम है—*अग्निर्वै देवानामवमो विष्णु परम*—काठक संहिता २२ १३।

अग्नि ठोस पदार्थों का निर्माण करने में सिकता से लेकर स्वर्ण तक आठ पदार्थों का निर्माण करता है। उनमें क्योंकि स्वर्ण अन्तिम है इसलिए हिरण्य को अग्नि का रेतस् कहा गया है—*अग्ने रेतो हिरण्यम्*—शतपथ २ २ ३ २८। मैत्रायणी संहिता कहती है कि मनुष्य की दो चक्षु हैं। वह रात में अग्नि से देखता है दिन में सूर्य से—*अग्नेर्वै मनुष्या नक्तं चक्षुषा पश्यन्ति सूर्यस्य दिवा*—मैत्रायणी संहिता २ ३ ६। काठक संहिता में अग्नि को मनुष्यों का चक्षु बताया है विष्णु को देवताओं का—*अग्नेर्वै मनुष्याश्चक्षुषा पश्यन्ति विष्णोर्देवता*—काठक संहिता १० १।

अग्नि से सभी लौकिक पदार्थों की प्रार्थना की गई है—आयु तेज मेधा सन्तति धन—*न आ वर्तस्वाऽऽयुषा वर्चसा मेधया प्रजया धनेन*—तैत्तिरीय संहिता ४ २ १ २।

वैदिक अद्वैत दृष्टि विविधता में एकता को कभी नहीं भूलती। इसलिए यद्यपि अग्नि मुख्यत वाक् है तथापि वह प्राण भी है और मन भी—*अग्निर्वै प्राण*—जैमिनीयोपनिषद् ४ ११ ११ तथा मन *एवाग्नि*—शतपथ १० १ २ ३। अग्नि देवता तो है ही ऋषि भी है—*अग्निर्ऋषि*—मैत्रायणी संहिता १ ६ १।

ब्राह्मण ग्रन्थो मे वायु

अग्नि पृथिवी का देवता है तो वायु अन्तरिक्ष का देवता है—*वायुरसि अन्तरिक्षे श्रित*—तैत्तिरीय सहिता ३ ११ १ ९। इस नाते यदि अग्नि का सम्बन्ध भू से है तो वायु का सम्बन्ध भुव से है। यदि अग्नि का सम्बन्ध ऋग्वेद से है तो वायु का सम्बन्ध यजुर्वेद से है—*भुव इत्येव यजुर्वेदस्य रसमादत। तदिदमन्तरिक्षमभवत्। तस्य यो रस स वायुरभवद्रसस्य रस*—जैमिनीयोपनिषद् १ १ १ ४। शतपथ ब्राह्मण कहता है कि वायु ही यजु है—*वायुरेव यजु*—शतपथ १० ३ ५ २। वायु ही प्रजाओं का प्राण बना—*वायुर्भूत्वा प्रजाना प्राणोऽभवत्*—जैमिनीय ब्राह्मण १ ३१४। वायु का सम्बन्ध गति से है—*वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता*—तैत्तिरीय सहिता २ १ १ १। अग्नि पदार्थ के मूर्त रूप का निर्माण करता है वायु उसमें गति देती है। इसलिए वायु को विश्वकर्मा कहा जाता है—*अय वै वायुर्विश्वकर्मा योऽय पवत एप हीद सर्व करोति*—शतपथ ब्राह्मण ८.१ १ ७। सब देवता इसी से उद्भूत होते हैं—*अय वै समुद्र योऽय पवत एतस्माद्वै समुद्रात्सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि समुद्रवन्ति*—वही, १४.२ २ २। तैतिरीयारण्यक में वायु का जल अग्नि, यज्ञ सोम इत्यादि सब देवताओं से तादात्म्य जोडा गया है—*त्वामापो अनु सर्वाश्चरन्ति त्व भर्ता मातरिश्वा प्रजानाम्। त्वमेकोऽसि बहूननुप्रविष्ट । नमस्ते अस्तु सुहवो म एधि*—तैत्तिरीयारण्यक ३ १४.३।

वायु प्रजापति है—*अर्ध ह प्रजापतेर्वायुरर्ध प्रजापति*—शतपथ ६ २ २ ११। वह सर्वव्यापक है—*न खलु वै किञ्चन वायुनाऽनभिगतमस्ति*—मैत्रायणी सहिता २ २ ७। वाक् उसकी पत्नी है—*वाग्वायो पत्नी*—मैत्रायणी सहिता १ ९ २। यह वायु पाँच प्रकार की है—*स एप वायु पञ्चविध प्राणोऽपानोव्यान उदान समान*—ऐतरेयारण्यक २ ३ ३।

वायु का अन्तरिक्ष से सम्बन्ध बहुत प्रसिद्ध है। मैत्रायणी सहिता कहती है कि अन्तरिक्ष में जो शान्ति है वह वायु के कारण है—*अन्तरिक्षशान्तिस्तद्वायुना शान्ति*—मैत्रायणी सहिता ४.७ २९ यदि अन्तरिक्ष समिधा है तो वायु ही उसे समिद्ध करती है—*अन्तरिक्ष समित् ता वायु समिन्द्धे*—मैत्रायणी सहिता, ४ ९ २३। अन्तरिक्ष का देवता वायु है और छन्द प्रमा है—*प्रमा छन्दस्तदन्तरिक्ष वायुर्देवता*—मैत्रायणी सहिता, २ १३ १४।

दूसरी ओर वायु का देवता त्रिष्टुप् को बतलाया है—*यजुषा वायु देवत त्रैष्टुप छन्दोऽन्तरिक्ष स्थानम्*—गापथ १ १ २९। अन्तरिक्ष में जो यज्ञ में बाधा डालने वाले देव हैं वायु उनसे रक्षा करता है—*ये देवो यज्ञहनो यज्ञमुषोऽन्तरिक्षेऽध्यास्ते। वायुर्मा तेभ्यो रक्षतु*—काठक सहिता ५.६। वायु अन्तरिक्ष का देवता है—*वायुर्वान्तरिक्षस्याध्यक्ष*—मैत्रायणी सहिता ४ १ १।

वायु को अग्नि का तेज बताया गया है इसलिए वायु के पीछे अग्नि जाती है—*वायुर्वा अग्नेस्तेजस्तस्मात् वायुमग्निरन्वेति*—मैत्रायणी सहिता ३ १ १०। वायु अग्नि का ही एक रूप है अत वायु को अग्नि भी बताया है—*वात प्राण तदयमग्नि*—मैत्रायणी सहिता १ ६ २ तैत्तिरीय आरण्यक ने वायु से अग्नि और अग्नि से जल की उत्पत्ति बतलाई है—*वायोरग्नि अग्नेराप*—तैत्तिरीयारण्यक ८.१। वायु अन्तरिक्षस्थानीय है इन्द्र भी अन्तरिक्ष स्थानीय है। वस्तुत जो वायु

है वही इन्द्र है जो इन्द्र है वही वायु है—*यो वै वायु स इन्द्रो य इन्द्र स वायु*—शतपथ ब्राह्मण ४१३१९ वायु सूत्रात्मा है—*तदसावादित्य इमाल्लोकान्सूत्रे समावयते तद्यत्तत्सूत्र वायु स*—शतपथ ब्राह्मण ८७३१०।

वायु पशुओं का देवता है—*ते (पशव) अब्रुवन् वायुर्वास्माकमीशे*—जैमिनीयोपनिषद् ११६३४। अन्तरिक्ष पशुओं का देवता है वायु अन्तरिक्ष का अध्यक्ष है—*वायुर्वान्तरिक्षस्याध्यक्ष अन्तरिक्षदेवत्य पशव*—कपिष्ठलकठसंहिता, ४६८। तैत्तिरीय संहिता कहती है वायु पशुओं का प्रिय धाम है—*वायुर्वै पशूना प्रिय धाम*—तैत्तिरीय संहिता ५५१३।

वायु प्राण ही है—*प्राण उ वा वायु*—शतपथ ब्राह्मण ८४१८। प्राण से वायु उत्पन्न हुआ—*प्राणाद्वायुरजायत*—तैत्तिरीयारण्यक, ३१२६। प्राण का वायु ही देवता है—*वायुदेवत्यो वै प्राण*—तैत्तिरीय संहिता ६३७४। वायु ही पुरुष के अन्दर जाकर प्राण बनता है—*सोऽय (वायु) पुरुषेऽन्त प्रविष्टस्त्रेधा विहित प्राण उदानो व्यान इति*—शतपथ ब्राह्मण ३१३२०। वाक् को भी वायु बताया है—*वाग्वै वायु*—तैत्तिरीय ब्राह्मण १८८१।

इन्द्र

सभी देवता प्राण हैं। इन्द्र देवताओं का राजा होने के नाते सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और इसलिए इसे मध्य में प्रदीप्त होने वाला प्राण कहा जाता है। इन्ध का अर्थ है प्रदीप्त। इन्ध ही बदलकर इन्द्र हो गया है—*स योऽय मध्ये प्राण एष एवेन्द्रस्तानेष प्राणान्मध्यत इन्द्रियेणैन्द्र यदैन्द्ध तस्मादिन्ध इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोऽक्षम्*—शतपथ ब्राह्मण ६११२। कपिष्ठल कठ संहिता में प्राण और अपान के मध्य में स्थित व्यान को इन्द्र बताया गया है—*इन्द्र मध्ये करोति वायुमभित प्राणापानयोर्विधृत्यै इन्द्रिय वै व्यान*—कपिष्ठल कठ संहिता ४२३। मध्य में स्थित होने के कारण ही इन्द्र को हृदय भी कहा गया है—*हृदयमेव इन्द्र*—शतपथ ब्राह्मण १२९११५ इन्द्र सब देवताओं का आधार है—*अतिष्ठा वा इन्द्रो देवतानाम्*—काण्व शतपथ, ७२३६। इन्द्र देवताओं में सबसे अधिक शक्तिशाली है—*इन्द्रमब्रुवन् (देवा) त्व वै नो वीर्यावत्तमोऽसि इति*—तैत्तिरीय संहिता २४२१। शतपथ ब्राह्मण में इन्द्र को देवताओं में श्रेष्ठ बताया गया है—*इन्द्रश्रेष्ठा देवा इति*—माध्यन्दिन शतपथ १६३२२।

इन्द्र का सम्बन्ध बारम्बार इन्द्रियों से जोड़ा गया है। इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह इन्द्रियों को स्थापित करे। इन्द्र का यही इन्द्रत्व है कि उसने इन्द्रियों को स्थापित किया—*अस्मिन्वा इदमिन्द्रिय प्रत्यस्थादिति तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम्*—तैत्तिरीयसंहिता २२१०४। इन्द्रियों को ही इन्द्र बताया है—*इन्द्रियमिन्द्र*—मैत्रायणी संहिता ४७३। इन्द्रियों का वीर्य इन्द्र है—*इन्द्रिय वीर्यमिन्द्र*—मैत्रायणीसंहिता, ३४१। इन्द्र बल का स्वामी है—*इन्द्रो बल बलपति*—शतपथ ब्राह्मण ११४३१२। देवताओं में इन्द्र ही सबसे अधिक ओजस्वी तथा बलवान् है—*इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठ*—कौषीतकि ब्राह्मण ६१४।

इन्द्र अपने बल के द्वारा रक्षा भी करता है और नाश भी। रक्षक के नाते वह क्षत्र है—*इन्द्र क्षत्रम्*—शतपथ ब्राह्मण १४४१५। इन्द्र अपने बल द्वारा असुरों का नाश करता है—*इन्द्रो वा*

असुरान् हत्वा पूत इवामेध्योऽमन्यत—जैमिनीय ब्राह्मण ३ २२८। इन्द्र ने जिन असुरों को मारा वृत्र उनमें मुख्य है—*इन्द्रो वृत्रमहन्*—जैमिनीय ब्राह्मण, १ १९५। इन्द्र को मारने के कारण ही इन्द्र महेन्द्र हो गया—*इन्द्रो वा एष पुरा वृत्रस्य वधादथ वृत्र हत्वा महाराजो विजिग्यान एव महेन्द्रोऽभवत्*—शतपथ ब्राह्मण १ ६ ४.२१ ४ ३ ३ १७। इन्द्र वृत्र को मारकर विश्वकर्मा बना—*इन्द्रो वै वृत्र हत्वा विश्वकर्माऽभवत्*—एतरेय ब्राह्मण ४.२२। इन्द्र ने विश्वकर्मा होकर द्युलोक को जीत लिया—*अमु लोक नाभ्यजयत् (इन्द्र) त विश्वकर्मा भूत्वाभ्यजयत्*—मैत्रायणी संहिता ४८.१०। इसलिए द्यौ इन्द्र से गर्भिणी कहलाती है—*द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी*—शतपथ ब्राह्मण, १४.९ ४ २१। विश्वकर्मा के रूप में इन्द्र को त्वष्टा भी कहा गया है—*इन्द्रो वै त्वष्टा*—ऐतरेय ब्राह्मण ६ १०।

इन्द्र का सम्बन्ध बारम्बार त्रिष्टुप् से जोडा गया है—*इन्द्रस्यैवैतच्छन्दो यत्त्रिष्टुप्*—शाङ्खायनारण्यक १ २। त्रिष्टुप् में ग्यारह अक्षर होते हैं। इसलिए ग्यारह की संख्या इन्द्र से जुडी हुई है—*इन्द्रा एकादशाक्षरया त्रिष्टुभमुदजयत्*—मैत्रायणी संहिता १ ११ १०। इसलिए इन्द्र के लिए पुराडाश एकादश कपाल में तैयार किया जाता है—*इन्द्राय मरुत्वते एकादश कपालम् (पुरोडाश निर्वपेत्)*—मत्रायणी संहिता, २ २ ६। इन्द्र के दिक् दक्षिण है ऋतु ग्रीष्म है छन्द त्रिष्टुप् है साम वृहत् है स्तोम पञ्चदश है वर्तनि सप्तदश है ऋषि सनातन है—*दक्षिणा दिग् ग्रीष्म ऋतुरिन्द्रो देवता क्षत्र द्रविण त्रिष्टुप्छन्दा बृहत्साम पञ्चदश स्तोम स उ सप्तदशवर्तनि सनातना ऋषि*—मैत्रायणी संहिता, २ ७ २०।

इन्द्र का सम्बन्ध एक ओर वाक् से है—*अथ य इन्द्रस्सा वाक्*—जैमिनीयोपनिषद् १ ११ १ २ वहा दूसरी ओर आदित्य से है—*अथ य स इन्द्रोऽसौ स आदित्य*—शतपथ ब्राह्मण ८.५ ३ २। अन्तरिक्ष का देवता होने के नाते यह रुद्र है—*रुद्रास्त्वा त्रैवृहनु त्रैष्टुभेन छन्दसेनेन्द्रस्य प्रिय पाथ उपेहि*— तैत्तिरीय संहिता ३ ३ ३ १।

इन्द्र के दो घोडे हैं जिनके द्वारा वह सबका हरण करता है—*इन्द्रस्य हरी ताभ्या हीद सर्व हरति*—षड्विंश ब्राह्मण १ १। जैमिनीय ब्राह्मण कहता है कि प्राण और अपान ही इन्द्र के दो घोडे हैं जो सबका हरण करते हैं—*प्राणापानौ वा अस्य (इन्द्रस्य) हरी तौ हीद सर्व हरत*—जैमिनीय ब्राह्मण २ ७९।

सभी देवता ब्रह्म के रूप हैं इन्द्र भी ब्रह्म है—*तस्मादिन्द्रो ब्रह्मेति*—कौषीतकि ब्राह्मण ६ १४।

चतुर्दश इन्द्र

इन्द्र के १४ रूप हैं १ सत्य इन्द्र प्रत्येक पदार्थ का अपने अपने रूप में कार्य करना सत्य इन्द्र का प्रभाव है अग्नि का जलना पानी का बहना, हवा का चलना यह सत्य इन्द्र के कारण ही होता है यह अन्तर्यामी है। २ श्वा इन्द्र—यही आकाश है। यह शून्य में विकसित होता है। ३ विद्युत् इन्द्र—बादलों में जो विद्युत है उसका चमकना इसी इन्द्र के कारण है। ४ उत्साह इन्द्र—उत्साह निश्चय बल पराक्रम यह सब इस इन्द्र का कार्य है। ५ प्रज्ञा इन्द्र—प्राज्ञ द्वारा ही इन्द्रियाँ वस्तु को जानती हैं। यह इन्द्र सब पर शासन करता है। ६ प्रज्ञा प्राण इन्द्र—जब तक यह

है तभी तक शरीर है। इसी के कारण शरीर की सारी क्रियाए होती हैं। ७ वाक् इन्द्र—मन से सङ्कल्प होता है प्राण से प्रयत्न और वाणी से विकार। इसी से पदार्थ क्रियाशील होते हैं। परा परयन्ती मध्यमा और वैखरी में वैखरी वाक् इन्द्र की है शेष तीनों वाक् वायु की हैं। ८ आत्मा इन्द्र—माया के द्वारा यह अनेक रूप धारण करता है। ९ आकाश इन्द्र—वायु के बिना आकाश नहीं होता। यह आकाश ही आकाश इन्द्र कहलाता है। यही समस्त वाणियों का जनक है। यह तीन प्रकार का है—भूताकाश दिव्याकाश और भावाकाश। भूताकाश भूतों का उपादान कारण है। इससे वायु तेज मिट्टी और जल बनते हैं। दिव्याकाश से अग्नि वायु सूर्य और आप बनते हैं। भावाकाश मन है। इसी में प्राण चक्षु और श्रोत्र से पीडित होकर मन अनेक रूप बनाता है। १० रूप इन्द्र—यह सूर्य है जो सात रंग की किरणों द्वारा विविध रूप बनाता है। ११ गति इन्द्र—शब्द तेज और जल में जो गति है वह गति इन्द्र के कारण है। १२ द्युति इन्द्र—यह ज्योति रूप है। १३ बल इन्द्र—समस्त बलकार्य इसके ही हैं। १४ आयु इन्द्र—यही आयु देता है।

प्राण इन्द्र एक है। उसी के द्युति बल और आयु नामक अन्य रूप हैं। इस प्रकार इन्द्र का रूप बहुत व्यापक है। इन्द्र के तीन बन्धु हैं—प्रतिष्ठा योनि और आशय। ब्रह्म ही प्रतिष्ठा है। ब्रह्म ही योनि है। ब्रह्म ही आशय है। ब्रह्म वेदत्रयी का नाम है। इन्द्र उसी में प्रतिष्ठित है। ब्रह्म में टिका हुआ ही इन्द्र स्थिर रहता है अन्यथा वह उत्क्रमण कर जाये।

इन्द्र और गति

मृत पिण्ड रूप सूर्य में रहने वाले अमृत प्राण को इन्द्र कहते हैं। इसी कारण कभी-कभी सूर्य को भी इन्द्र कह दिया जाता है—*एष वै शुक्रः य एष तपति एष उ इन्द्रः*—शतपथ ब्राह्मण ४/५/५/७।

पहले कहा जा चुका है कि गति दो प्रकार की है—एक प्राग् गति जो वस्तु से विमुख होती है दूसरी प्रत्यग् गति जो वस्तु की ओर झुकी रहती है। इन दोनों ही गतियों को इन्द्र कहा जाता है। यजु में यत् भाग गति है तथा जू भाग स्थिति है। यह गति भाग प्राणात्मक वायु है। इस वायु को इन्द्र कहते हैं—*अथ याव इन्द्रो योऽयं पवते*—शतपथ ब्राह्मण १४/२/१/६। प्राग् गति को इन्द्र कहते हैं प्रत्यग् गति को उपेन्द्र कहते हैं। उपेन्द्र का ही दूसरा नाम विष्णु है। वस्तु के मण्डल को साम कहा जाता है। इस साम से वस्तु के केन्द्र की ओर आने वाली गति विष्णु है और केन्द्र से परिधि की ओर जाने वाली गति इन्द्र है। अशनाया के कारण विष्णु बाहर से पदार्थ को केन्द्र में प्रतिष्ठित करता है। इसलिये विष्णु को संसार का पालनकर्ता कहा जाता है। विक्षेपण के द्वारा इन्द्र पदार्थ को केन्द्र से परिधि की ओर फेंकता है इसलिये इन्द्र जो पुराणों की भाषा में महादेव है संहार का देवता कहा जाता है। तीसरा देवता ब्रह्मा स्थित रूप है जो पदार्थ की स्थिति को बनाये रखता है। अध्यात्म संस्था में बाल्य अवस्था प्रातः सवन युवा अवस्था माध्यन्दिन सवन है और वृद्धावस्था सायं सवन है। प्रातः सवन में विष्णु बलवान है इन्द्र निर्बल है। इस अवस्था में आय अधिक होती है व्यय कम होता है। माध्यन्दिन में इन्द्र और विष्णु दोनों का समान बल होता है—*उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनोः। इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्र*

वि तदैरयेथाम् (ऋक्संहिता ६/६९/८) ।

इन्द्र तथा अन्य देव

सायसवन में रोम कूपों के बडा हो जाने से इन्द्र बलवान् हो जाता है विष्णु निर्बल। जब तक विष्णु है तब तक ब्रह्मा पदार्थ की स्थिति बनाये रखते हैं। जैसे ही विष्णु पालन कर्म नहीं करते ब्रह्मा पदार्थ की स्थिति नहीं बना सकते। अत विष्णु को प्रतिष्ठा की भी प्रतिष्ठा कहा जाता है। इन्द्र प्राग् गति है विष्णु प्रत्यग् गति है तो ब्रह्मा सर्वतोदिग् गति है। ब्रह्मा जब इन्द्र से युक्त होते हैं अग्नि कहलाने लगते हैं। इसलिये कहा जाता है ब्रह्मा विष्णु से युक्त होकर सोम बन जाते हैं इसलिये चन्द्रमा ब्रह्मा कहा जाता है। ब्रह्मा से युक्त आगति सोम है ब्रह्मा से युक्त गति अग्नि है। अग्नि का इन्द्र के साथ सम्बन्ध है। अग्नि विकासशील है सोम सङ्कोचशील है। इन पाँचों में ब्रह्मा विष्णु इन्द्र ये तीनों हृदय है तथा अग्नि सोम पृष्ठ का निर्माण करते हैं।

सूर्य में इन्द्र और अग्नि दोनों हैं। सूर्य का प्रकाश इन्द्र के कारण है तथा ताप अग्नि के कारण है। सोम जब इन्द्र का अन्न बनता है तो प्रकाश होता है। यही इन्द्र का भिन्न रूपों में परिणत हो जाना है—*रूप रूप मघवा बोभवीति*। चन्द्रमा में प्रकाश है ताप नहीं उसमें केवल इन्द्र है अग्नि नहीं। गर्म पानी में केवल अग्नि है इन्द्र नहीं। क्योंकि जल का अधिष्ठाता वरुण है। वह असुरों का राजा है और इन्द्र का शत्रु है अत इन्द्र और वरुण दोनों एक स्थान पर नहीं रह सकते।

वस्तु के तीन रूप हैं—नाम रूप और कर्म। इनमें रूप के दो भेद हैं—आकार और वर्ण। काला पीला वर्ण है चौकोर त्रिकोण आकार है। आकार को त्वष्टा बनाता है—*त्वष्टा वै रूपाणि विकरोति*। सूर्य की दृष्टि में सात वर्ण हैं। जब सातों रग एक बिन्दु पर आ जाते हैं तो श्वेत वर्ण हो जाता है। इन रश्मियों का अधिष्ठाता इन्द्र ही है। मरुत में भी चौथाई भाग इन्द्र का रहता है। सोम के चार भेद हैं—राजा वाज मह और हवि। इनमें मह सोम का सम्बन्ध ज्योतिष्टोम से है। यह मह सोम ही इन्द्र का अन्न है। कर्पूर इत्यादि इन्द्र के द्वारा ही आत्मसात् कर लिया जाता है। ३३ देवताओं में इन्द्र ही प्रधान है। इसलिये इन्द्र को सर्व देवता कहा जाता है—*नेन्द्राद् ऋते पवने धाम किञ्चन*।

इन्द्र का ऐतिहासिक रूप भी है। विष्वद्दुत से "शर्यणावत" पर्वत पृथिवी लोक है। रावी नदी इसी शर्यणावत पर्वत से निकलती है। रावी से निषद् पर्वत पर्यन्त अन्तरिक्ष लोक है एव निषद् पर्वत से पामीर पर्यन्त स्वर्ग है। पृथ्वी के देवता अग्नि हैं अन्तरिक्ष के वायु और द्युलोक के आदित्य। इन्द्र ने अग्नि को पृथिवी लोक में अपना प्रतिनिधि बनाया। ऋभु विभ्वा और वाज इन्द्र के द्वारा स्वर्ग में बुलाये गये थे। दिलीप दुष्यन्त आदि राजाओं के भी स्वर्ग में जाने का वर्णन है। इन्द्र सबकी आत्मा है क्योंकि वह सौर अग्नि है। इन्द्र का वरुण से विरोध है। वरुण का ही एक रूप वृत्र है। इसलिय इन्द्र वृत्र स शत्रुता रखते हैं। इन्द्र क प्रभाव से जल दुर्गन्ध रहित रहता है। वृत्र दुर्गन्ध युक्त जल है। दुर्गन्ध युक्त जल को वेन भी कहा जाता है। वेन बहता हुआ पानी है। वृत्र ठहरा हुआ पानी है। ब्रह्मा प्राणमयी वेदसाहस्री का मूल है विष्णु आपोमयी लोकसाहस्री का

मूल है इन्द्र वाङमयी वाक्साहस्री का मूल है। स्तोमों की दृष्टि से त्रिवृत् पर्यन्त घनाग्नि है पञ्चदश पर्यन्त तरल अग्नि है एकविंश पर्यन्त विरल अग्नि है। त्रिणवपर्य्यन्त भास्वर सोम है त्रयस्त्रिंशपर्य्यन्त दिक्सोम चतुश्चत्वारिंशत्पर्य्यन्त इन्द्र है एवम् अष्टाचत्वारिंशपर्य्यन्त ब्रह्मा है। ब्रह्मा यदि मनोमय है और विष्णु अर्थमय है तो इन्द्र क्रियामय है। शुन इन्द्र आकाश में रहने वाला इन्द्र प्राण है जिसे *शुन हुवेम मघवानमिन्द्रम्* कहा जाता है। आकाश शून्य प्रदेश नहीं है बल्कि प्राण से परिपूर्ण है। इन्द्र का बल सह कहलाता है। जितना भी बल कर्म है वह इन्द्र का है—*या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव तत्*। देवताओं में भी वर्ण विभाजन है। अग्नि तत्व ब्राह्मण है—*अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारतेति*—शतपथ ब्राह्मण १/४/२/२। इन्द्र क्षत्रिय है—*क्षत्र वा इन्द्र*—तै. ब्रा. २/९/६/३। अग्नि अभिगन्ता है इन्द्र कर्त्ता है। विज्ञान का सम्बन्ध सौर इन्द्र से है प्रज्ञान का सम्बन्ध पार्थिव इन्द्र से है। प्रज्ञान के दो भाग हैं—प्रज्ञा और सोम। प्रज्ञा भाग सोम और प्राण भाग इन्द्र है। दिव्य इन्द्र के साथ असुरों का समबन्ध नहीं है। यह दिव्य इन्द्र मघवा कहलाता है।

मरुत इन्द्र से आगे रहते हैं। इन्द्र राजा है। मरुत् इसकी सेना है। मरुत् इन्द्र की रक्षा करते हैं। अभिप्राय यह है कि वरुण के आप्य प्राणों से जब पदार्थ दूपित होता है तो मरुत् अर्थात् खुली हवा उसे शुद्ध करती है।

इन्द्र आसा नेता वृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञ पुर एतु सोम।
देवसेनानामभिभञ्जतीना जयन्तीना मरुतो यन्त्वमम्॥
—यजु संहिता १७/४०

इन्द्र पूर्व दिशा के दिग्पाल हैं वरुण पश्चिमी दिशा के दिग् पाल हैं। तेजोलक्षण ज्योतिर्भाव इन्द्र है स्नेह लक्षण तमोभाव वरुण हैं। इन्द्र का दूसरा नाम मित्र भी है। यही मित्र और वरुण क्रतु और दक्ष हैं। वरुण से सुरा का सम्बन्ध है इन्द्र से सोम का सम्बन्ध है। सुरा आसुरी है सोम दिव्य है। सुरा मलात्मक है सोम रसात्मक है—*सुरा वै मलमन्नाना पाप्मा वै मलमुच्यते। तस्मात् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरा पिबेत्॥*—मनुस्मृति अन्न में ये दोनों ही भाग रहते हैं।

इन्द्र अमृता वाक् है उससे समस्त आकाश व्याप्त है। भौतिक वाक् को इन्द्रपत्नी कहा जाता है। *वाच देवा उपजीवन्ति विश्वे वाच गन्धर्वा पशवो मनुप्या। वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता। सा नो हव जुषतामिन्द्रपत्नी।* तैत्तिरीय ब्राह्मण २/८/८/४४। समस्त विश्व इन्द्र में व्याप्त है किन्तु वह इन्द्र को व्याप्त नहीं कर सकता।

इन्द्र का शासन

पृथ्वी का अधिष्ठाता अग्नि है और द्यौ का अधिष्ठाता इन्द्र है—*अग्निगर्भा पृथिवी द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी*। देवताओं में इन्द्र शासक है। उसका शासन छ प्रकार का है—उत्तेजन आक्रमण स्तम्भन नियन्त्रण उत्क्षेपण और उत्क्रमण। किसी को अपने व्यवहार में लगाना उत्तेजन है। दूसरे की स्वतन्त्रता को छीनकर उसके अन्न पर अपना स्वामित्व बनाना आक्रमण है। दूसरे की गति रोकना स्तम्भन है। किसी को नियत कर्म में लगाना नियन्त्रण है। एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाना उत्क्षेपण है। अपने हृद्ग्रन्थिबन्ध से विच्छेद कर दूसरे स्थान पर ले जाना उत्क्रमण है।

इन्द्राग्नि की समष्टि सूर्य

सूर्य इन्द्र और अग्नि की समष्टि है। इन्द्र प्रकाश का देव है। अग्नि ताप का देव है। चन्द्रमा में केवल इन्द्र है इसलिये वहाँ प्रकाश है ताप नहीं। गर्म पानी में केवल अग्नि है इसलिए वहाँ ताप ह प्रकाश नहीं। सूर्य में प्रकाश भी और ताप भी इन्द्र प्रकाश का देवता है तो वरुण अन्धकार का देवता है। इन्द्र का सम्बन्ध पूर्व से है वरण का सम्बन्ध पश्चिम से है। इन्द्र और वरुण का परस्पर विरोध है। वरुण पानी में रहता है वहाँ प्रकाश का अधिष्ठाता इन्द्र नहीं जा सकता।

सूर्य की गति स्थिति

सूर्य के सम्बन्ध में दो प्रकार के दृष्टिकोण हैं। प्राकृतिक स्थिति यह है कि सूर्य स्थिर है—*नैवोदेता नास्तमेमेता एकल एव मध्ये स्याता*—छान्दोग्योपनिषद् ३/११/१। दृश्यमान स्थिति यह है कि सूर्य गतिमान है—*हिरण्ययेन सविता रथेना देवा याति भुवनानि पश्यन्*—यजु सहिता ३३/४३।

एक तीसरी दृष्टि के अनुसार सूर्य भी परमेष्ठी के चारों ओर घूम रहा है। स्वय परमेष्ठी भी स्वयम्भू के चारों ओर परिभ्रमण करता है। सूर्य की आयु ४३२००००००० वर्ष है।

सूर्य के मनोता

सूर्य का वर्ण कृष्ण है। यही कृष्ण सूर्य मृग्यमान होने के कारण कृष्ण मृग कहलाता है। सूर्य कृष्ण है सोम भी कृष्ण है किन्तु सोम की आहुति प्रकाश को जन्म देती है। सूर्य के तीन मनोता हैं—ज्योति गौ और आयु। ज्योति भाग से तैंतीस देवता उत्पन्न होते हैं गौ भाग से सम्पूर्ण भूत उत्पन्न होते हैं और आयु भाग से भूतात्मा या देही उत्पन्न होता है। मन का सम्बन्ध ज्योति से प्राण का गौ से और वाक् का आयु स है । अग्नि में सोम की आहुति यज्ञ कहलाती है। इसी से सूर्य प्रकाशित होता है। समस्त सृष्टि की उत्पत्ति सूर्य से हुई है—*नून जना सूर्येण प्रसूता*।

सूर्य तथा अन्य ग्रह

सूर्य की वाक् का नाम स्वर है। सविता का एक स्वतन्त्र ग्रह है। वह सूर्य से भिन्न है। सूर्य के ऊपर बृहस्पति है बृहस्पति के ऊपर सविता है और सविता के ऊपर ब्रह्मणस्पति है। सौर मण्डल में सर्वत्र सविता प्राण है। सूर्य के कृष्ण मृग होने के कारण कृष्ण मृग चर्म को त्रयी विद्या माना गया है। कृष्णलोम ऋग्वेद है नकुल वर्ण वाले लोम यजुर्वेद हैं। सूर्य देव ग्राम घन है। शुक्ल सोम सामवेद।

सूर्य की जो अग्नि पृथिवी का स्वरूप बन जाती है वह गायत्र है। वही अङ्गिरा है। यह गायत्राग्नि पृथिवी से सूर्य की ओर जाती है। यही कृष्ण मृग है। सूर्य के इक्कीस स्तोम पर्यन्त हिरण्यमय मण्डल हैं तैंतीस पर्यन्त आपोमय मण्डल है और चौंतीसवें के बाद वेद मण्डल है। सूर्य से आने वाली रश्मियां सावित्री कहलाती हैं। सूर्य स्वज्योति है। सोम की वाक् इन्द्र भी कहलाती है।

सभी उपग्रह सूर्य की पत्नियाँ के समान हैं ये सभी उपग्रह पृथिवी कहलाते हैं। उपग्रहों के लिये ग्रह सूर्य द्यौ है। पृथिवी योषा है। *इयं वै पृथिवी योषा*—शतपथ ब्राह्मण १४/२/२५। इन्द्र वृषा है। *इन्द्रो वै वृषा*—ताण्ड्य ब्राह्मण ९/४/३। योषा और वर्षा का भाव ही स्त्री पुरुष का भाव है।

द्वादश आदित्य

आदित्य की द्वादश अवस्थाए इस श्लोक में दी गयी है—*इन्द्रो धाता भग पूषा मित्रोऽथ वरुणोऽर्यमा। अंशुर्विवस्वान् त्वष्टा च सविता विष्णुश्च॥* अग्नि की विरलावस्था आदित्य है। यह क्षत्र है। इसका नाम इन्द्र है। आदित्य की उपर्युक्त बारह अवस्थाए विट रूप है। आदित्य जगती छन्द से वेष्टित है। जगती छन्द में १२ अक्षर हैं। इन्हीं के कारण आदित्य को बारह अवस्थाओं में परिणत होना पडता है।

इन्द्र

इन्द्र हमारे शरीर का सहोबल है। इसी के आधार पर ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का सञ्चार होता है। शरीर में धातुओं का सञ्चार होता है। इसी के आधार पर शरीराग्नि कण्ठतालु आदि से टकराकर वर्ण में बदलती है। प्रज्ञान मन में यह विद्युत बनकर चञ्चलता प्रकट करता है। यही चक्षु में देखने का सामर्थ्य पैदा करता है। आधिदैवत में विद्युत् और सूर्य चन्द्रमा में यही प्रकाश देता है। नमूची प्राण का हनन कर यह वर्षा कराता है। मरुत्वान् के रूप में इसकी चौदह अवस्थाएँ हैं। यह बल तत्त्व है। *या च का च बलकृतिरिन्द्रमैव तत्*—निरुक्त। *क्षत्र वा इन्द्र*—कौषीतकी २/८। जैमिनीय में इस वाक् से जोडा गया है। *अथ ह इन्द्र सा वाक्*—जैमिनीय, १/३३/२।

शतपथ इसका सम्बन्ध विद्युत् से बतलाता है। *स्तनयित्नुरेव इन्द्र*—शतपथ ब्राह्मण ११/६/३/९। शतपथ में इसे इन्द्रियों से जोडा गया है। *मयि इन्द्र इन्द्रिय दधातु*—शतपथ ब्राह्मण १८/१/४२। गोपथ में इन्द्र का मन बताया है। *यन्मन स इन्द्र*—गोपथ ब्राह्मण ४/११। इन्द्र के सम्बन्ध में हम पहले विस्तार से लिख चुके हैं।

धाता

यदि इन्द्र सहोबल है तो धाता प्रतिष्ठा बल है। उसका स्वरूप वषटकार से होता है। *धाता स उ एव वषटकार*—ऐतरेय ब्राह्मण, ३/४८। वषटकार छ वाक् स्तोमों का नाम है जो ४८ स्तोम पर्यन्त फैले हैं। वषटकार आलम्बन है। *देवपात्र वा एष वषटकार* शतपथ ब्राह्मण १/७/२/१३। *प्राणो वै वषटकार* ऐतरेय ब्राह्मण ३/४७। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार वषटकार प्राण है। यही वस्तु की प्रतिष्ठा है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार धाता अग्नि है। *अग्निर्वै धाता*—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/३/१०/२। शतपथ ब्राह्मण में धाता का स्वरूप बताया गया है—*यद् दधत् विदधत् अतिष्ठत् तस्मात् धाता*—शतपथ ब्राह्मण ९/५/१/३५।

भग

पदार्थ की शोभा का कारण भग है। इसके छ मुख हैं। *ऐश्वर्यस्य च समग्रस्य धर्मस्य यशस श्रिय। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णा भग इतीरणा।।* स्त्री सन्तान अन्न वित्त आदि ऐश्वर्य हैं। धर्म के स्वरूप को धारण करने वाला धर्म है। यश कीर्ति है। शरीर की शोभा श्री है। ज्ञान सदसद् विवेक है। वैराग्य अनासक्तिपूर्वक कर्म है। उनमें ऐश्वर्य आत्मा को आवृत्त कर लेता है इसलिए कौषीतकि ब्राह्मण (१६/१३) में भग को अन्धा कहा है—*तस्मादाहु अन्धो वै भग* कौषीतकी ब्राह्मण ६/१३। इसका उत्तराफाल्गुन नक्षत्र स्रोत माना जाता है। *भगस्य वा एतद् नक्षत्र यदुत्तरे फल्गुने*—तैत्तिरीय ब्राह्मण १/१/२/४।

पूषा

ज्ञान क्रिया और अर्थ का विभाजन करने वाला पूषा है—कौषीतकी ब्राह्मण ६/१३। पूषा का सौर भाग भागधुक् है। *पूषा भागदुघोशन पाणिभ्या उपविधाता*—शतपथ ब्राह्मण १/१/२/१७। नक्षत्र के रूप में यह खेती से जुडा है—*पूषा रैवत्यगवेति पन्थाम्*—तैत्तिरीय सहिता ३/१/२/९। इसका सम्बन्ध पशु भाव से है क्योंकि यह भौतिक पुष्टि का सूचक है जबकि भग श्री का अधिष्ठाता है। *पशवो वै पूषा*—शतपथ ब्राह्मण ५/२/५/८ *पुष्टिर्वै पूषा*—तै ब्रा २/७/२/१।

मित्रावरुणौ

खगोल के पूर्व पश्चिम दो भाग हैं। याम्योत्तर रेखा खगोल को दो भागों में बाँटती है। यह "उर्वशी कहलाती है क्योंकि यह सबसे ऊपर है। अन्तरिक्ष अर्णव समुद्र है इसके अप् में सरण करने के कारण यह अप्सरा कहलाती है। खगोल द्रोणकलश है। इसका पूर्व कपाल मित्र व पश्चिम कपाल वरुण है। उर्वशी में मित्र और वरुण दोनों का प्राण आता है। जिसके कारण मध्याकाश में मत्स्य नाम का अपूर्व तत्त्व उत्पन्न होता है। दक्षिण भाग में गिरे हुए प्राण से अगस्त्य प्राण तथा उत्तर भाग में गिरे हुए प्राण से वसिष्ठ प्राण उदित होता है। रात्रि के बारह बजे से दिन के बारह बजे तक मित्र कहलाता है तथा दिन के बारह से रात्रि के बारह बजे तक वरुण नाम से पुकारा जाता है। प्राण मित्र है। अपान वरुण है शुक्ल पक्ष मित्र है कृष्ण पक्ष वरुण है प्रेमाश्रु मित्र है शोकाश्रु वरुण है आगमन मित्र है गमन वरुण है। शतपथ ब्राह्मण में कहा है जो शाखा काट दी गयी वह वारुणि है जो स्वय गिर पडी वह मैत्रा है। *वरुण्या वा एष या परशुवृण्या अथैषा मैत्री या स्वय प्रशीर्णा*—शतपथ ब्राह्मण ५/३/२५।

अर्यमा

प्रजा का कारण अर्यमा है। अर्यमा ही हमें देने के लिए प्रेरित करता है। *अर्यमेति तमाहु यो ददाति*—तैत्तिरीय ब्राह्मण १/१/२/४ (१/१/२/४)। इसा आधार पर अर्यमा को यज्ञ कहा जाता है। *यज्ञो वा अर्यमा*—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/८/१६/३। आकाश गङ्गा का प्राण भी अर्यमा कहलाता है। आकाश गङ्गा को अर्यमा का पथ कहा गया है। *एषा वा ऊर्ध्वा वृहस्पतेर्दिक् तदेष*

उपरिष्टादर्यम्ण पन्था—शतपथ ब्राह्मण ५/५/१/१२।

दानशील होने के कारण अर्यमा प्राण के सम्बन्ध स ही आर्यों का नाम पडा।

अशु

अशु का सम्बन्ध दृष्टि से है—*चक्षुरेव अशु*—शतपथ ब्राह्मण ११/५/८/२। मन और प्रजापति का सम्बन्ध भी अशु से बताया गया ह। *मनो ह वा अशु*—शतपथ ब्राह्मण ११/५/९२।

विवस्वान्

अदिति को सर्वव्यापक कहा गया है। अदिति का सम्बन्ध भू पिण्ड के उस भाग से है जो सूर्य के प्रकाश में रहता है।

त्वष्टा

त्वष्टा वस्तु में आकार देता है। वर्ण इन्द्र का काम है आकार त्वष्टा का काम है। गर्भ में त्वष्टा ही शिशु का आकार बनाता है। छन्द त्वष्टा प्राण ही बनाता है इसलिए त्वष्टा को वाक् भी कहा जाता है। *वाग्वै त्वष्टा*—एतरय ब्राह्मण, ६/१०। *त्वष्टा रूपाणि विकरोति*—तैत्तिरीय ब्राह्मण २/७/२/१।

सविता

सविता एक ग्रह है। यह परमेष्ठी का उपग्रह है। इसकी सत्ता तीसरे द्युलोक में है। यह हमें कार्य के लिए प्रेरित करता है। उषा काल में सविता की सत्ता है। यही गायत्री मन्त्र का उपास्य है। दीपशिखा यदि सविता है तो उसके चारों ओर निकलने वाली रश्मियाँ सावित्री हैं। ये ही जब किसी वस्तु से टकराकर वापस आती है तो गायत्री कहलाती हैं। सविता प्राण प्रत्येक पदार्थ में है।

विष्णु

यज्ञ में अन्नाद का अन्न से सम्बन्ध होता है। आगतिधर्मा विष्णु इस सम्बन्ध को कराता है इसलिए विष्णु यज्ञरूप है। यही उसका विश्वपालकत्व है।

विष्णु का काम आकर्षण है। उसके चार रूप मुख्य है—अशनाया प्रकृति यज्ञ तथा देव। इन्द्र जब उत्क्रमण करता है तो रिक्त उदर में अशनाया प्राण उत्पन्न होता है। यह अशनाया प्राण अशीति को खाता है और रिक्त अश की पूर्ति करता है। इस प्रकार विष्णु ब्रह्म की स्थिति की रक्षा करता है। विष्णु के चक्र की तीन धातुए हैं—उक्थ अर्क और अशीति। सूर्य अशन को उक्थ से ग्रहण करने के लिए उदित होता है वह ब्रह्म में अशीति का आधान करता है। उत्थित विष्णु ही सूर्य है। उक्थ आत्मा है अर्क प्राण है। अशीति उक्थ में आकर ब्रह्म रूप हो जाती है। यह अशीति सूर्य में आहुति है इस आहुति को ग्रहण करन वाला यज्ञ विष्णु है। सङक्षेप में विष्णु का स्वरूप यह होगा—अशनायामय अक्षरपुरुष अमृतविष्णु है। प्रकृति का आपोमय परमेष्ठी ब्रह्मविष्णु

है देवा में लक्ष्मीमय आदित्य शुक्रविष्णु है। सामरूपी अन्न प्रजापति यज्ञविष्णु है। यज्ञ ... है। विष्णु के द्वारा नानात्व का उपादान होता है क्योंकि यज्ञ अनेक प्रकार के होते हैं। तीन पन्द्रह और इक्कीस ये तीन स्तोम विष्णु के तीन विक्रम हैं। यही तीन लोक है यही तीन अग्नि है। विष्णु एक प्रकार का है उसकी महिमा अनेक प्रकार की है। ब्रह्मा से ब्राह्मण वीर्य इन्द्र से क्षत्रिय और विष्णु से वैश्य वीर्य जुडा है।

प्रत्येक परिवर्तनशील पदार्थ में वृद्धि और क्षय होता है तथापि उस पदार्थ की प्रत्यभिज्ञा बनी रहती है। इस प्रत्यभिज्ञा का कारण प्रतिष्ठा तत्त्व है। यही ब्रह्मा है। इन्द्र आत्मभूत द्रव्य में से उत्क्रमण द्वारा जब रिक्तता पैदा करता है तो उस रिक्तता की पूर्ति विष्णु अशनाया प्राण के द्वारा अशीति को खाकर करता है और ब्रह्मा की स्थिति की रक्षा करता है। ब्रह्मा इन्द्र और विष्णु ये तीनों अक्षरब्रह्म की तीन कलाए हैं।

मनुष्य जो अन्न लेता है इन्द्र उस अन्न को पचाता है। अन्न के पच जाने पर पुन क्षुधा लगती है। इस क्षुधा की पूर्ति विष्णु अन्न द्वारा करता है। यह देह में चलने वाला यज्ञ है। इससे जुडा होने के कारण विष्णु को यज्ञप्रजापति कहा जाता है।

विष्णु की तीन धातुए है—उक्थ अर्क और अशीति। उक्थ आत्मा है अर्क प्राण है अशीति आहुति है। इन्द्र विक्रम करता है विष्णु आकर्षण करता है विष्णु का आकर्षण पाँच प्रकार का है—१ लक्ष्म २ भाग्य ३ कामकार ४ गार्ध्य ५ आहुति। इन पाँच प्रकार के आकर्षणों के कारण विष्णु पाङ्क्त कहलाता है। इनमें लक्ष्म का अर्थ है—मनुष्य पशुपक्षियों की आकृति और प्रकृति में भेद करना। विष्णु के द्वारा जिस प्रकार का अन्न जिस प्राणी में आहुत होता है उसी प्रकार की उसकी आकृति और प्रकृति हो जाती है कोई दो पायों वाला मनुष्य बनता है कोई चौपाया पशु कोई दानी होता है कोई कृपण। भाग्य का अर्थ है—जिसकी आशा न हो उस पदार्थ का आकस्मिक आ जाना। कामकार का अर्थ है इच्छा का होना या न होना। गार्ध्य का अर्थ है—लोभवृत्ति का उत्पन्न हो जाना तथा आहुति का अर्थ है—जो अन्न आये उसका आत्मसात् होना। इस प्रकार विष्णु की इन पाँच आकर्षण कलाओं के कारण पदार्थों में नानात्व उत्पन्न होता है। यही विष्णु के यज्ञ के अनेक रूप है। यज्ञों की अनेकता अर्क के भेद से होती है यद्यपि उक्थ एक ही है। ऊर्ध्व लोक में विष्णु अमृत रूप है।

ब्राह्मण ग्रन्थो मे आदित्य

व्युत्पत्ति की दृष्टि से अदिति के पुत्र आदित्य कहलाते हैं किन्तु जैमिनीय ब्राह्मण के अनुसार आदित्य का आदित्यत्व यह है कि वह सब प्राणियों से आदान करता है—*तद्यत् एतेषां भूतानामादत्त तदादित्यस्याऽऽदित्यत्वम्*—जैमिनीय ब्राह्मण २ २६। अग्नि वायु आदित्य में आदित्य का सम्बन्ध द्युलोक से है—*सुवरित्यादित्य*—तैत्तिरीयारण्यक ७ ५ २। इसी प्रकार क्रमश सामवेद की उत्पत्ति आदित्य से हुई—*सामवेद आदित्यात्*—जैमिनीय ब्राह्मण १ ३५७। स्व सामवेद का रस है वही द्यौ है *स्वरित्येव सामवेदस्य रसमादत्त (प्रजापति) सोऽसौ द्यौरभवत् तस्य यो रस प्राणेदत् स आदित्योऽभवत् रसस्य रस*—जैमिनीयोपनिषद् १ १ १ ५। गोपथ ब्राह्मण में आदित्य को साम

का देवता बताया है जिसका स्थान द्यो है और छन्द जगती है—*साम्नामादित्यो देवत तदेव ज्योतिर्जागतच्छन्दो द्यौ स्थानम्*—**गोपथ ब्राह्मण १ १ २९**। इसी क्रम में आदित्य का तृतीय सवन माना गया है—*वसव प्रात सवन रुद्रा माध्यन्दिन सवनमादित्यास्तृतीयसवनम्*—**शतपथ ब्राह्मण १४ १ १ १५**। वाक् का सम्बन्ध मुख से है प्राण का वायु से तो आदित्य का सम्बन्ध चक्षु से है—*अथ यद्यत् तत् चक्षुरासीत् स आदित्योऽभवत्*—**जैमिनीयोपनिषद् २ १ २ ३**। आदित्य चक्षु में प्रतिष्ठित है—*आदित्यश्चक्षुपि प्रतिष्ठित*—**शाङ्खायनारण्यक १० १**। चक्षु के होम करने से हा आदित्य उत्पन्न हुआ—*चक्षुरेव स तत्स्वमजुहोत् अमुमेवादित्यम्*—**काठक सहिता ६ १**।

सभी देवताओं की भाँति आदित्य भी प्राण है—*असौ वा आदित्य प्राण*—**तैत्तिरीय संहिता ५ २ ५ ४**। आदित्य जो आदान करता है वह प्राण के कारण ही होता है—*प्राणा वा आदित्या प्राणा हीद सर्वमाददते*—**जैमिनीयोपनिषद् ४ २ १ ९**। प्राण ही तपता है—*प्राणो ह्येष य एष (आदित्य) तपति* **कौषीतकि ब्राह्मण २ २ १ ३**। आदित्य का सम्बन्ध एकविंशस्तोम से है—*असावादित्य एकविंश*—**कपिष्ठल कठ सहिता ४१ २**। जैमिनीय ब्राह्मण में तथा काठक सङ्कलन में भी आदित्य का सम्बन्ध इक्कोस से जोडते समय बारह मास पाँच ऋतु तीन लोक के बाद आदित्य को इक्कीसवा माना है—*एकविंशो वाऽस्य भुवनस्य विषुवान् द्वादश मासा पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंश*—**जैमिनीय ब्राह्मण २ ३८९**।

आदित्य सूर्य है—*असौ वा आदित्य सूर्य*—**शतपथ ९ ४ २ २३**। इस सूर्य के उदय को उद्भाभ और अस्त का निम्राभ कहा जाता है—*असा आदित्य उद्यन्नुदग्राभ एष निम्रोचन् निग्राभ*—**तैत्तिरीय सहिता ४५ ६, ६ ७**। यही आदित्य का गमनागमन है—*असौ आदित्य प्राङ चैति प्रत्यङ च*—**काठक संहिता २० ४**। आदित्य उदय हाता है तो यजमान का उदय हो जाता है आदित्य अस्त होता है ता शत्रुओं का निग्रह हा जाता है—*असौ वा आदित्य उद्ग्राभ एष निग्राभ उद्यन्वा एतद् यजमानमुद्गृह्णाति निम्रोचन्नस्य भ्रातृव्य निगृह्णाति*—**मैत्रायणी सहिता ३ ३ ८**। वस्तुस्थिति यह है कि सूर्य न कभी उदित होता है और न अस्त होता है इसलिये यजमान का पतन कभी भी नहीं होता—*स वा एष (आदित्य) न कदाचनस्तमेति नोदेति_ स वा एष न कदाचन निम्रोचति*—**एतरेय ब्राह्मण ३ ४४**।

अग्नि को ऋत और सूर्य को सत्य कहा जाता है—*अय वा अग्निर्ऋतमसावादित्य सत्यम्*—**शतपथ ६ ४.४ १०**। आदित्य का बारम्बार सत्य कहा है—*असावादित्य सत्यम्*—**तैत्तिरीय सहिता २ १ ११ १**। इस सबका यही अभिप्राय है कि सूर्य में केन्द्र है और जिस पदार्थ में केन्द्र हा वही सत्य है। आदित्य विश्व के केन्द्र में है इसलिए आदित्य का हृदय कहा गया है—*असौ वा आदित्यो हृदयम्*—**शतपथ ९ १ २ ४०**।

आदित्य का सम्बन्ध जगती छन्द स है—*जागतो असावादित्य*—**जैमिनीय ब्राह्मण २ ३६**। जगती के बारह अक्षर हैं और आदित्य भी बारह हैं—*द्वादश आदित्या द्वादश अक्षरा जगती*—**तैत्तिरीय सहिता ३ ४ ९ ७**। जगती का काम प्रजनन है। आदित्य भी प्रजनन का अधिष्ठाता

है—*प्रजननं जगती योऽसावादित्य*—जमिनीय ब्राह्मण २ ३६। वर्ष के तीन सौ साठ दिन के आधार पर आदित्य की तीन सौ साठ रश्मियाँ मानी गई हैं—*षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतान्यादित्यस्य रश्मय*—शतपथ १० ५ ४ ४। जो नचिकेता अग्नि का चयन करता है वह आदित्य के सायुज्यको प्राप्त होता है। यही स्वर्ग है—*अग्निमयो ह वै पुनर्नवो भूत्वा स्वर्गं लोकमेति आदित्यस्य सायुज्यम् योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते*—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ ११ १० ४। अग्नि और आदित्य ही दो देवता हैं जिनसे यजमान स्वर्ग में जाता है—*अग्निश्च ह वा आदित्यश्च रौहिणावेताभ्या हि देवताभ्या यजमाना स्वर्गं लोकं रोहन्ति*—शतपथ १४ २ १ २। अग्नि और आदित्य के बीच तादात्म्य सम्बन्ध भी बताया गया है—*असौ वा आदित्य एषोऽग्नि*—शतपथ ६ ३ १ २९। अन्यत्र आदित्य का तादात्म्य इन्द्र से बताया है—*असौ वा आदित्य इन्द्र*—तैत्तिरीय संहिता १ ७ ६ ३। आदित्य को ब्रह्म भी बताया है—*असौ वा आदित्यो ब्रह्म*—मैत्रायणी संहिता २ ५ ७ ११।

आदित्य का सब ऋतुओं से सम्बन्ध है। आदित्य का उदित होना वसन्त है। सूर्य का ऊपर चढ जाना ग्रीष्म है। दोपहर वर्षा है। अपराह्न शरद् है। अस्त हो जाना ही हेमन्त है—*आदित्यस्त्वेव सर्वऽऋतव। यदैवोदत्यथ वसन्तो यदा सगवोऽथ ग्रीष्मो यदा मध्यन्दिनोऽथ वर्षा यदापराह्णोऽथ शरद्यदैवास्तमेत्यथ हेमन्त*—शतपथ २ २ ३ १।

द्युलोक का देव होने के नाते आदित्य यश का अधिष्ठाता है—*आदित्या एव यश*—गोपथ १ ५ १५। पशुओं में गौ का सम्बन्ध आदित्य से है—*गावो वा आदित्या*—एतरेय ब्राह्मण ४ १७। आदित्य यज्ञ का केन्द्र है—*स य स यज्ञोऽसौ स आदित्य*—शतपथ १४ १ १ ६।

आदित्य का अग्नि से गहरा सम्बन्ध है ऊपर हम कह चुके हैं कि शतपथ ब्राह्मण में आदित्य को ही अग्नि बताया गया है। मैत्रायणी संहिता कहती है कि अग्नि रात्रि है आदित्य दिन है—*अग्निर्वै रात्रि आदित्योऽह*—मैत्रायणी संहिता १ ५ ९। मैत्रायणी संहिता में आदित्य और अग्नि का तादात्म्य बताते हुए कहा गया है कि—*असौ वा आदित्यो अग्निर्वसुमान्*—मैत्रायणी संहिता, २ १ २। कौषीतकि ब्राह्मण में अग्नि को आदित्यों का होता बताया गया है—*तेषा न (आदित्यानामग्ने) त्व होतासि*—कौषीतकि ब्राह्मण, ३० ६।

देवों म आदित्य और पितरों में अङ्गिरस का भी परस्पर सम्बन्ध है—(जैमिनीय ब्राह्मण) २ ११७।

आप को आदित्य को आयतन बताया है—*आपो वा अमुष्य तपत आयतनम्*—तैत्तिरीय आरण्यक १ २२ ३।

आदित्य को बारम्बार अश्व बताया गया है—*एष वा अश्वो मेध्यो य एष (आदित्य) तपति*—शतपथ ३ १ ८ १। आदित्य श्वेत अश्व है—*ते (आदित्या) अश्व श्वेत दक्षिणा निन्यु*—कौषीतकि ब्राह्मण ३० ६। सूर्य ही मेध्य अश्व है इसलिए सूर्य को अश्वमेध भी कहा गया है—*असौ आदित्यो अश्वमेध*—तैत्तिरीय संहिता ५ ७ ५ ३।

ऋषि

हम प्राय ऋषि शब्द से अलौकिक ज्ञान सम्पन्न व्यक्तियों को समझते हैं किन्तु वेद में ऋषि शब्द केवल व्यक्तियों को ही इङ्गित नहीं करता। ऋषि शब्द के चार अर्थ हैं—१ असल्लक्षण ऋषि २ राचनालक्षण ऋषि ३ दृष्टिलक्षण ऋषि ४ वक्तृलक्षण ऋषि। इनमें अन्तिम दो व्यक्ति हैं प्रथम प्राण है तथा द्वितीय तारा है।

१ असल्लक्षण ऋषि—शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि पहले असत् ही था। प्रश्न हुआ कि असत् क्या है? उत्तर मिला कि असत् का अर्थ है—ऋषि। फिर प्रश्न हुआ कि ऋषि कौन हैं? उत्तर मिला प्राण। यद्यपि पितर और देवता भी प्राण हैं किन्तु ऋषि शुद्ध प्राण है इसीलिए मनु ने ऋषियों से पितरों की और पितरों से देवताओं की उत्पत्ति मानी है। ऋषि शुद्ध प्राण होने के कारण एकजातीय है देव प्राणों का समुदाय होने के कारण नानाजातीय प्राण समुदाय है।

प्राण असत्

ऋषि को हमने असत् कहा यह ब्रह्म का स्वरूप है। ब्रह्म के शेष दो रूप सद् और सदसद् हैं। असद् प्राण है तो सद् वाक् है सदसद् मन है। ये तीनों मिलकर ही कार्य ब्रह्म कहलाते हैं। अव्यय पुरुष की पाँच कलाओं में से इन तीन का सृष्टि में योगदान है आनन्द और विज्ञान का मुक्ति में योगदान है। इनमें प्राण से अक्षर पुरुष का और वाक् से क्षर पुरुष का विकास होता है। प्राण यत् है वाक् जू है। यत् और जू मिलकर यजु बनता है। ये प्राण और वाक् प्रलय के समय भी शेष रहते हैं—इसलिए *शेषे यजु शब्दः* कहा जाता है।

प्राण को असत् इसलिए कहा जाता है कि सत् वह है जिसमें प्राण रहता है और क्योंकि प्राण में प्राण नहीं रहता इसलिये प्राण को असत् कहते हैं। इसी प्रकार वैशेषिक द्रव्य गुण और कर्म को सत् कहते हैं क्योंकि इनमें सत्ता रहती है किन्तु सत्ता में सत्ता नहीं रहती इसलिए सत्ता को सत् नहीं कहा जा सकता।

विश्व के पाँच पर्वों मे प्राण

स्वयम्भू के प्राण ऋषि हैं परमेष्ठी के प्राण पितृ है सौर प्राण देव है चान्द्र प्राण गन्धर्व और पार्थिव प्राण वैश्वानर है। स्वयम्भू में ज्ञान ज्योति है सूर्य में स्व ज्योति है। स्वयम्भू के प्राण ऋषि हैं और सूर्य के प्राण देव। शेष तीनों पुण्डीरों में ज्योति नहीं है इसलिये परमेष्ठी चन्द्रमा और पृथ्वी के प्राण असुर प्राण कहलाते हैं। ऋषि प्राण मौलिक हैं। ये अनेक हैं। जिनके समन्वय से पितृ प्राण उत्पन्न होते हैं वे पितृ प्राण भी अनेक प्रकार के हैं। उनके समन्वय से देवता प्राण उत्पन्न होते हैं। देवता और असुर दोनों परमेष्ठी की सन्तान हैं। देवता अग्नि प्रधान हैं असुर आप्य प्रधान हैं। इन दोनों का सघर्ष ही देवासुर संग्राम है। पितृप्राण सौम्य है।

ऋषि मूल प्राण

ये ऋषि प्राण अनेक प्रकार के हैं—*विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपस*—ऋक् स.

१०/६२/५। प्राणात्मक ऋषि तीन रूप में समझे जा सकते हैं (१) आधिदैविक स्तर पर मनु तत्त्व हिरण्यगर्भ मण्डल के केन्द्र में है और उससे ही ऋषि रश्मि रूप में व्याप्त है। हिरण्यगर्भ मण्डल के ये मानव प्राण १० भागों में विभक्त होकर विराट पुरुष का स्वरूप बनाते हैं। (२) आध्यात्मिक क्षेत्र में ये प्राण मन को आधार बनाकर पूरे शरीर में व्याप्त रहते हैं। (३) आधिभौतिक स्तर पर अंगिरोऽग्नि को आधार बनाकर ये प्राण पदार्थ में व्याप्त रहते हैं—*तेऽअंगिरस सूनव तेऽग्ने परि जज्ञिरे*—ऋक् स. १०/६२/५। ऋषि प्राण से ही पञ्च तन्मात्राएं धातु वर्ग तेज प्रज्ञा इन्द्रियाँ कर्म पितृ देवता तथा असुर इन सबका उदय होता है।

सप्तर्षि

ऋग्वेद का एक मन्त्र है जिसमें कहा गया है कि ऋषियों में षड् यम अर्थात् युग्म रूप में है तथा एक सातवाँ एकाकी है।

साकञ्जाना सप्तथमाहुरेकज षडित् यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपश ॥
(ऋक् १/१६४/१५)

इस मन्त्र का आधिदैविक आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक तीनों ही प्रकार का अर्थ सम्भव है। माधवाचार्य ने दो दो मास की छ ऋतुओं को युग्म में विचरण करने वाला माना है तथा अधिक मास को एकाकी विचरण करने वाला सातवाँ मास माना। यह अधिदैव अर्थ हुआ। अध्यात्म में दो नेत्र दो कान तथा दो नासिका ये छ प्राण युग्म हैं तथा सातवाँ मुख एकाकी है। आधिभौतिक में सात ताराओं में छ युग्म रूप में है तथा एक अकेला है। अध्यात्म का विवेचन अधिक विस्तार से भी किया जा सकता है।

अध्यात्म ऋषि चार गुहाओं में हैं—१ शिरोगुहा २ उरोगुहा ३ उदरगुहा ४ वस्तिगुहा। इनमें प्रत्येक में सात सात प्राण हैं—दो द्वन्द्व रूप में एक अकेला। विस्तार हम पहले भी दे चुके हैं—

१ शिरोगुहा—दो कान दो आख दो नासिका एक मुख। इनके केन्द्र में ब्रह्मरन्ध्र है जो ज्ञानशक्ति देता है।

२ उरोगुहा—दो बाहु दो फुफ्फस दो स्तन युगल रूप में है तथा इनके केन्द्र में कण्ठकूप है जो पराक्रम देता है।

३ उदरगुहा—यकृत और प्लीहा से आमाशय और पक्वाशय दो वृक्क दो तथा नाभि एक। इनके केन्द्र में हृदय है जो अन्न को सङ्ग्रह तथा विभाजन की शक्ति देता है।

४ वस्तिगुहा—दो पाँव मूत्र और वीर्य के दो छिद्र दो अण्ड कोष तथा गुदा। इनके केन्द्र में नाभि है जो शरीर के कर्म को चलाने वाली उत्सर्ग शक्ति देती है।

शतपथ ब्राह्मण में प्रसिद्ध ऋषियों का विवेचन स्पष्टत प्राणों के रूप में है तथा उन प्राणों के

पृथक् पृथक् कर्म भी बताये गये हैं—

१ वसिष्ठ मुख्य प्राण है। यह प्राण सब इन्द्रियों को शरीर में वास देता है। बिना प्राण के कोई इन्द्रिय नहीं ठहर सकती।

प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः। यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठः।
अथो यद् वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः॥—शतपथ, ८/१/१/६

२ दूसरा प्राण भरद्वाज है। यह मन है। मन का निर्माण वाज अर्थात् अन्न से होता है।

मनो वै भरद्वाज ऋषिः। अन्नं वाजः। यो वै मनो बिभर्ति।
सोऽन्नं वाजं भरति। तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः।—शतपथ, ८/१/१/६

३ चक्षु जमदग्नि ऋषि है। जमदग्नि जगमत् है। जगमत् का अर्थ है जिसने जगत् को जान लिया। चक्षु जगत् को देखता है। इसलिये जमदग्नि कहलाता है। *चक्षुर्वै जमदग्निरऋषिः। यदनेन जगत्पश्यति अथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्नि ऋषिः*—(शतपथ, ८/१/२/३)

४ श्रोत्र विश्वामित्र है। कान से हम जिसकी बात सुनते हैं वह हमारा मित्र हो जाता है। इसलिये श्रोत्र ही विश्वामित्र है। *श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः। यअनेन सर्वतः श्रृणोति। अथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति। तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः* (शतपथ, ८/१/२/६)

५ वाक् विश्वकर्मा है क्योंकि उसने ही सब संसार बनाया है। *वाग्वै विश्वकर्म ऋषिः वाचहीदं सर्वं कृतम्। तस्माद् वाग् विश्वकर्म ऋषिः* (शतपथ, ८/१/२/९)

ऋषि-कर्म

शास्त्रों में इन सब ऋषियों के अलग अलग कार्य दिये हैं—१ अङ्गिरा प्राण से "कर्मप्रवणता" उत्पन्न होती है। जिसका अङ्गिरा प्राण मूर्च्छित रहता है वह सर्वथा अकर्मण्य आलसी बना रहता है। २ वसिष्ठ प्राण से "ओजस्विता" का उदय होता है। जिसका वसिष्ठ प्राण मूर्च्छित रहता है उसका मुख कान्तिहीन उदासीन रहता है। ३ अत्रिप्राण से "अनसूया" वृत्ति का उदय होता है। जिनमें अत्रिप्राण मूर्च्छित रहता है वह सदा दूसरों की निन्दा किया करता है परदोषदर्शन का अनुगामी बना रहता है। ४ पुलस्त्यप्राण से "घातक" वृत्ति का साम्राज्य रहता है। ५ क्रतुप्राण से "अध्यवसाय" वृत्ति जागृत रहती है। ६ दक्षप्राण "व्यवसाय बुद्धि" का प्रवर्तक बनता है। ७ कश्यपप्राण "पुरन्धिता" तथा "प्रजावात्सल्य" का प्रवर्तक है। जिसका कश्यपप्राण मूर्च्छित रहता है वह न तो प्रजासन्तति का ही पात्र बनता है न उसकी वृत्ति में वात्सल्य का ही उदय होता है। ८ विश्वामित्रप्राण से "आयुस्वरूपरक्षा" तथा दृढता का उदय होता है। ९ भृगुप्राण से "विद्याप्रवणता" का आविर्भाव होता है। १० अगस्त्यप्राण से "परोपकारवृत्ति" जागृत रहती है। ११ मरीचिप्राण से "स्वेदोत्पत्ति तथा स्वभावमार्दव" का उदय होता है। इन प्राणों के सन्निवेशतारतम्य से पदार्थों में यथेच्छ परिवर्तन किया जा सकता है।

१०/६२/५। प्राणात्मक ऋषि तीन रूप में समझे जा सकते हैं (१) आधिदैविक स्तर पर मनु तत्व हिरण्यगर्भ मण्डल के केन्द्र में है और उससे ही ऋषि रश्मि रूप में व्याप्त है। हिरण्यगर्भ मण्डल के ये मानव प्राण १० भागों में विभक्त होकर विराट पुरुष का स्वरूप बनाते हैं। (२) आध्यात्मिक क्षेत्र में य प्राण मन को आधार बनाकर पूरे शरीर में व्याप्त रहते हैं। (३) आधिभौतिक स्तर पर अगिरोऽग्नि को आधार बनाकर ये प्राण पदार्थ में व्याप्त रहत हैं—*तऽअगिरस सूनव तेऽग्न परि जज्ञिरे*—ऋक् स १०/६२/५। ऋषि प्राण से ही पञ्च तन्मात्राए धातु वर्ग तेज, प्रज्ञा, इन्द्रियाँ कर्म पितृ देवता तथा असुर इन सबका उदय होता है।

सप्तर्षि

ऋग्वेद का एक मन्त्र है जिसमें कहा गया है कि ऋषियों में षड् यम अर्थात् युग्म रूप में है तथा एक सातवाँ एकाकी है।

साकञ्जाना सप्तथमाहुरेकज षडित् यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपश ॥
(ऋक् १/१६४/१५)

इस मन्त्र का आधिदैविक आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक तीनों ही प्रकार का अर्थ सम्भव है। माधवाचार्य ने दो दो मास की छ ऋतुओं को युग्म में विचरण करने वाला माना है तथा अधिक मास को एकाकी विचरण करने वाला सातवाँ मास माना। यह अधिदैव अर्थ हुआ। अध्यात्म में दो नेत्र दो कान तथा दो नासिका ये छ प्राण युग्म हैं तथा सातवाँ मुख एकाकी है। आधिभौतिक में सात ताराओं में छ युग्म रूप में है तथा एक अकेला है। अध्यात्म का विवेचन अधिक विस्तार से भी किया जा सकता है।

अध्यात्म ऋषि चार गुहाओं में हैं—१ शिरोगुहा २ उरोगुहा ३ उदरगुहा ४ वस्तिगुहा। इनमें प्रत्येक में सात सात प्राण हैं—दो द्वन्द्व रूप में एक अकेला। विस्तार हम पहले भी दे चुके हैं—

१ शिरोगुहा—दो कान दो आख दो नासिका एक मुख। इनके केन्द्र में ब्रह्मरन्ध्र है जो ज्ञानशक्ति देता है।

२ उरोगुहा—दो बाहु दो फुफ्फुस दो स्तन युगल रूप में है तथा इनके केन्द्र में कण्ठकूप है जो पराक्रम देता है।

३ उदरगुहा—यकृत और प्लीहा से अमाशय और पक्वाशय दो वृक्क दो तथा नाभि एक। इनके केन्द्र में हृदय है जो अन्न को सडमर तथा विभाजन की शक्ति देता है।

४ वस्तिगुहा—दो पाँव मूत्र और वीर्य के दो छिद्र दो अण्ड कोष तथा गुदा। इनके केन्द्र में नाभि है जो शरीर के कर्म को चलाने वाली उत्सर्ग शक्ति देती है।

शतपथ ब्राह्मण में प्रसिद्ध ऋषियों का विवेचन स्पष्टत प्राणों के रूप में है तथा उन प्राणों के

पृथक् पृथक् कर्म भी बताये गये हैं—

१ वसिष्ठ मुख्य प्राण है। यह प्राण सब इन्द्रियों को शरीर में वास देता है। बिना प्राण के कोई इन्द्रिय नही ठहर सकती।

प्राणो वै वसिष्ठ ऋषि। यद्वैनु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठ।
अथो यद् वस्तृतमा वसति तेना एव वसिष्ठ॥—शतपथ, ८/१/१/६

२ दूसरा प्राण भरद्वाज है। यह मन है। मन का निर्माण वाज अर्थात् अन्न से होता है।

मनो वै भरद्वाज ऋषि। अन्न वाज। यो वै मनो बिभर्ति।
सोऽन्न वाज भरति। तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषि।—शतपथ, ८/१/१/६

३ चक्षु जमदग्नि ऋषि है। जमदग्नि जगमत् है। जगमत् का अर्थ है जिसने जगत् को जान लिया। चक्षु जगत् को देखता है। इसलिये जमदग्नि कहलाता है। *चक्षुर्वै जमदग्निरऋषि। यदनेन जगत्पश्यति अथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्नि ऋषि*—(शतपथ, ८/१/२/३)

४ श्रोत्र विश्वामित्र है। कान से हम जिसकी बात सुनते हैं वह हमारा मित्र हो जाता है। इसलिये श्रोत्र ही विश्वामित्र है। *श्रोत्र वै विश्वामित्र ऋषि। यअनेन सर्वत श्रृणोति। अथो यदस्मै सर्वतो मित्र भवति। तस्माच्छोत्र विश्वामित्र ऋषि* (शतपथ, ८/१/२/६)

५ वाक् विश्वकर्मा है क्योंकि उसने ही सब ससार बनाया है। *वाग्वै विश्वकर्म ऋषि वाचहीद सर्वं कृतम्। तस्माद् वाग् विश्वकर्म ऋषि* (शतपथ, ८/१/२/९)

ऋषि कर्म

शास्त्रों में इन सब ऋषियों के अलग अलग कार्य दिये हैं—१ अङ्गिरा प्राण से कर्मप्रवणता उत्पन्न होती है। जिसका अङ्गिरा प्राण मूर्च्छित रहता है वह सर्वथा अकर्मण्य आलसी बना रहता है। २ वसिष्ठ प्राण से "ओजस्विता का उदय होता है। जिसका वसिष्ठ प्राण मूर्च्छित रहता है उसका मुख कान्तिहीन उदासीन रहता है। ३ अत्रिप्राण से "अनसूया वृत्ति का उदय होता है। जिनमें अत्रिप्राण मूर्च्छित रहता है वह सदा दूसरों की निन्दा किया करता है परदोषदर्शन का अनुगामी बना रहता है। ४ पुलस्त्यप्राण से "घातक" वृत्ति का साम्राज्य रहता है। ५ क्रतुप्राण से अध्यवसाय" वृत्ति जागृत रहती है। ६ दक्षप्राण "व्यवसाय बुद्धि का प्रवर्तक बनता है। ७ कश्यपप्राण पुरन्ध्रिता तथा प्रजावात्सल्य का प्रवर्तक है। जिसका कश्यपप्राण मूर्च्छित रहता है वह न तो प्रजासन्तति का ही पात्र बनता है न उसकी वृत्ति में वात्सल्य का ही उदय होता है। ८ विश्वामित्रप्राण से "आयुस्वस्त्परता तथा दृढता का उदय होता है। ९ भृगुप्राण से "विद्याप्रगता का आविर्भाव होता है। १० अगस्त्यप्राण से परोपकारवृत्ति" जागृत रहती है। ११ मरीचिप्राण से स्वेदोत्पत्ति तथा स्वभावमार्दव का उदय होता है। इन प्राणों के सन्निवेशतारतम्य से पदार्थों में यथेच्छ परिवर्तन किया जा सकता है।

रोचनालक्षण ऋषि

प्रसिद्ध है कि आकाशमण्डल में सप्तर्षि मण्डल है। आकाश में तारामण्डल भी ऋषि रूप मे जाना जाता है। पूर्व में मरीचि है। पश्चिम में अङ्गिरा है। इन दोनों के मध्य में अरुन्धती के साथ वसिष्ठ है। अङ्गिरा के समीप अत्रि और इसके आगे पुलस्त्य पुलह और क्रतु है। मरीचि के निकट वसिष्ठ वसिष्ठ के निकट अङ्गिरा अङ्गिरा के निकट अत्रि और उसके अनन्तर पुलस्त्य और क्रतु हैं। रोचना लक्षण ऋषियों का आधार बनाकर अनेक ऋचाएं वैदिक साहित्य में मिलती है। ऋग्वेद में एक ऐसी ही कथा का सङ्केत है। प्रजापति के सोमयज्ञ में मित्रावरुण का रेतस् उर्वशी अप्सरा को देखकर स्खलित हुआ। जो रेतस् कलश में गया वह मत्स्यऋषि बना जो उत्तरभाग में गिरा वह वसिष्ठ बना और जो दक्षिण में गिरा वह अगस्त्य बना।

विद्युतो ज्योति: परि सञ्जिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा।
तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत्त्वा विश आजभार।

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजात:।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वेदेवा: पुष्करे त्वाददन्त॥

स प्रकेत उभयस्य प्रविद्वान्त्सहस्रदान उत वा सदान:।
यमेन ततं परिधिं वयिष्यन्नप्सरस: परिजज्ञे वसिष्ठ: ॥

सत्रे ह जाताविषिता नमोभि: कुम्भे रेत: सिषिचतु: समानम्।
ततो ह मान उदियाय मध्यात् ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम् ॥

(ऋक् सं. ७ मं. ३३ सू./१० ११ १२ १३ मंत्र)

इस स्थलों पर दन्तकथाओं का प्रतीकात्मक अर्थ होता है। खगोल को बाँटने वाली रेखा याम्योत्तर वृत्त है यही रेखा उर्वशी कहलाती है। याम्योत्तर वृत्त के तीन सौ साठ वृत्त है इन सब को अप्सरा कहा जाता है। ये अप्सराएं पाँच ऋतुओं के सम्बन्ध से दस हैं। ये वृत्त आपोमय समुद्र में सञ्चरण करने के कारण अप्सराएँ कहलाते हैं। इन वृत्तों से दिशा उपदिशाओं का विभाजन होता है। अन्तरिक्ष में दिक्सोम व्याप्त है—*पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ इति दिक् चोपदिशा चेति स्माह माहित्थि*—शतपथ ब्रा. ८/६/१/१६। यह सोम राजा है अप्सरा उसकी प्रजा है—*सोमो वैष्णवो राजेत्याह। तस्याप्सरसो विश*—शतपथ ब्राह्मण, १३/४/३/८। पाँच ऋतुओं से जुड़ी दस अप्सराएँ निम्न हैं—

१	पुञ्जिक स्थला	२	क्रतुस्थला
१	मेनका	२	सहजन्या
१	प्रम्लोचन्ती	२	अनुम्लोचन्ती
१	विश्वाची	२	घृताची
१	उर्वशी	२	पूर्वचित्ति

उर्वशी अर्थात् याम्योत्तर वृत्त अद्यतन अनद्यतन का विभाजन करता है। रात्रि के बारह बजे

से दिन के बारह बजे तक अद्यतन काल है जिसे आजकल हम Anti meridian (A M) लिखते हैं। दिन के बारह बजे से रात्रि के बारह बजे तक अनद्यतन काल है जिसे हम Past meridian (PM) लिखते हैं। अहोरात्र का विभाजन दो प्रकार से होता है। सूर्योदय और सूर्यास्त से दिन रात का विभाजन एक प्रकार है। मध्यरात्रि से सौरप्राण जाने लगता है। मध्याह्न के बाद सौरप्राण जाने लगता ह। अहोरात्र क विभाजन का एक यह भी प्रकार है। अद्यतन काल में मित्रप्राण रहता है। यह पूर्वकपाल ह। अनद्यतन काल में वरुण प्राण रहता है। यह पश्चिमकपाल है। उर्वशी दोनों की विभाजन रेखा है इसलिए दोनों से जुडी है। इसके पूर्व में मित्र प्राण अङ्गिरस हैं जो आग्नय है। पश्चिम में वरुण प्राण भार्गव है जो आप्य है। इन दो प्राणों के सम्पर्क से कुम्भ के उत्तर भाग में वसिष्ठ प्राण का जन्म होता है जो सोम प्रधान है। वसिष्ठ प्राण पानी को मिट्टी में बदलता है इसलिए उत्तर दिशा में भू भाग बढता जाता है। कुम्भ के दक्षिण में आग्नेय अगस्त्य प्राण रहता है। इसका काम पानी को सुखाना है। इसलिए दक्षिण के पर्वत घने एव काले होत हैं। इस प्रकार वसिष्ठ मिट्टी को बढाने वाल प्राण हैं। मत्स्य मिट्टी के रक्षक हैं। अगस्त्य मिट्टी को सहत बनाकर घनरूप प्रदान करन वाल हैं। इस प्रकार राचना लक्षण ताराआ में भी ऋषि तत्त्व उपस्थित है। मत्स्य वसिष्ठ और अगस्त्य तीनों का जन्म कुम्भ से हुआ है इसलिए इन्हें कुम्भोद्भव कहा जाता है। यह हम पहल ही क्र चुके हैं कि यहाँ कुम्भ का अर्थ खगोल है।

वस्तुत नक्षत्रविद्या के आधार पर अनेक कथायें मिलती हैं। एक अन्य कथा है कि एक बार प्रजापति अपनी पुत्री के पीछे दौडे पुत्री हरिणी बनकर भागी। देवताओं न इस कार्य को अनुचित समझा। उन्होंने अपने घोरतम भाग से रुद्र देवता को जन्म दिया। उन्होंन रुद्र से चाहा कि प्रजापति को बींध दे बदले में उस पशुपति होने का वरदान दिया। ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि पशुपति ने प्रजापति को बाँधा प्रजापति का मस्तक कट गया। उसे ही मृग कहा जाता है। यह मृग ही मृग शिरा नक्षत्र है। रुद्र मृगव्याध है। रोहिणी प्रजापति की दुहिता है। और त्रिकाण्ड नक्षत्र रुद्र के हाथ से निकला हुआ शर है।

कृतिका नक्षत्र के पूर्व में लुब्धक नक्षत्र है जिसके पश्चिम तथा उत्तर में चन्द्रमा तथा श्याव शबल नामक दो पुनर्वसु नक्षत्र हैं। कृतिका के पूर्व दिशा में रोहिणी नक्षण है जा रक्त वर्ण का है। रोहिणी नक्षत्र के ईशान कोण में ब्रह्म हृदय नक्षत्र है जो प्रजापति का मस्तक है। उसके निकट तीन तारे रुद्र के शर हैं। रोहिणी के पूर्व अग्निकाण की ओर लुब्धक नामक नक्षत्र है। इस लुब्धक में समस्त नक्षत्रों का सार है अत इसे पशुपति क्हा जाता है। इस प्रकार आकाश में भी सप्त ऋषि मण्डल है जिसका ध्रुव से सम्बन्ध है। ध्रुव एक विद्युत प्राण है जो विष्णु की परिक्रमा करता है। इसकी उपासना से समस्त सम्पदा मिलती है। *जज्ञान सप्तमातृभिर्मेधामाशासत श्रिये अय ध्रुवो रयीणमचिकेतदा* सामसंहिता पू २/१।

आधिभौतिक अर्थ में भृगु अङ्गिरा और अत्रि का अर्थ शतपथ ब्राह्मण ने स्पष्ट दिया है। भृगु का अर्थ है ज्वाला अङ्गिरा का अर्थ है अङ्गार अत्रि पारदर्शिता का रोकता है। यदि अगारों के बुझ जाने पर उन्हें पुन जला दिया जाये तो वे वृहस्पति क्हलाता हैं।

अर्चिषि भृगुः सम्बभूव अङ्गारेष्वङ्गिरा सम्बभूव।
अथ ददङ्गारा अवशान्ता पुनरुददीप्यन्त अथ बृहस्पतिरभवत्।
(ऐतरेय ब्राह्मण, ३/३४)

द्रष्टृलक्षण ऋषि

ऋषि का अर्थ तत्त्वद्रष्टा है विद्या ब्रह्म और वेद तीनों समानार्थक हैं। विद्या का अर्थ है पदार्थों का परस्पर कार्यकारणभाव जानना। यही ब्रह्म और वेद का भी अर्थ है किन्तु जो वर्तमान में जाना जा रहा है वह ब्रह्म है जो पहले जान लिया गया वह विद्या है और शब्द के द्वारा होने वाला ज्ञान वेद है। ऋषि वस्तुतः तत्त्व के द्रष्टा है। ब्रह्म विद्या का नाम वेद है। ब्रह्म यज्ञ के द्वारा अपने को अनेक रूपों में परिणत कर लेता है। यज्ञ विज्ञान है तथा यज्ञ को धर्म भी कहा गया है। वेद में धर्म तथा विज्ञान का यही समन्वय है। यज्ञ में सब देवता आ जाते हैं। अतः देवता विज्ञान भी वेद है। देवताओं में मुख्य प्रजापति है अतः प्रजापति विज्ञान भी वेद है। सूर्य विज्ञान भी वेद है। वेद में सारा ज्ञान भी निहित है। जिन्होंने इस ज्ञान विज्ञान का उपदेश दिया है ऋषि है। इन्होंने मन्त्रों की रचना की और विज्ञान का दर्शन किया। ईश्वर के अनुग्रह से इन्हें परोक्ष विषयों का ज्ञान हुआ।

यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिण अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण।
तां देवा वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके॥

पूर्वकल्प में इन ऋषियों का जो संस्कार था उसी से उन्होंने तपस्या की।

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

ये ऋषि मन्त्रद्रष्टा भी थे और मन्त्रकर्ता भी।

नमो ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः।
मा मा ऋषयो मन्त्रकृतो मन्त्रविदः प्राहुर्दैवीवाचम्॥
—तैत्तिरीयारण्यक ४.१.१

आप्त और ऋषि में अन्तर है। आप्त पुरुष भौतिक सत्यों को जानता है ऋषि दैविक तथा अतीन्द्रिय विषयों का साक्षात्कार करता है—*साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः*। यह ज्ञान अनुमान से नहीं अपितु आर्षदृष्टि से हुआ अतः इसे तर्क से काटा भी नहीं जा सकता।

अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावा वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते॥

वक्तृलक्षण ऋषि

जो ज्ञान ऋषियों को ईश्वर से प्राप्त हुआ वह निर्विकल्प था। ऋषियों ने सविकल्प स्थिति में उसे शब्दों में अभिव्यक्त किया। अतः इन शब्दों के द्रष्टा ऋषि ही हैं। यही बात वैशेषिक सूत्र

म कहा गई है—*बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे*। दिव्य ज्ञान अपौरुषेय है किन्तु वृत्यात्मक ज्ञान पौरुषेय है। श्रुति में वेद का नित्यावाक् और अनादिनिधना कहा गया है। अत वाक् को अपौरुषेय मानना चाहिये। यह वाक् वस्तुत मन प्राण वाक् के अन्तर्गत नित्य वाक् है न कि कानों से सुने जाने वाली वाक् है। यह नित्या वाक् सर्वव्यापक है इसलिये इसे वेद मन्त्रों के शब्द नही माना जा सकता। वाक् तीन प्रकार की है—ऋक् यजु साम। सूर्य मण्डल ऋक् है उसकी ज्वाला साम है और पुरुष यजु है। इस प्रकार सूर्य मण्डल में त्रयी का सकेत हो रहा है। ये ऋक् यजु साम यज्ञ से उत्पन्न हुए। ये तीनों वाक् स्वयम्भू की हैं।

सब पदार्थों की नाभि प्रजापति है। वाक् उस प्रजापति की निश्वास है। उसस ही तीनों मण्डल बनते हैं—ऋक् यजु और साम। प्रजापति के निश्वास का अर्थ यह है कि वह प्रजापति की इच्छा से उत्पन्न नही होता अपितु प्रजापति का परिचायक है। इसलिये वेदों को ब्रह्मा से उत्पन्न माना गया है। समस्त विश्व का केन्द्र सूर्य है। उससे उत्पन्न होने वाला वेद गायत्री मात्रिक वेद कहलाता है। ये वेद ईश्वर रूप हैं ईश्वर का निश्वास है तथा ईश्वर द्वारा बनाये गये हैं। जिसन इनका ज्ञान सर्वप्रथम प्राप्त किया वे ऋषि थे। वेद में अनेक प्रमाण हैं जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि मनुष्य विशेष ही ऋषि थे। उन ऋषियों से जिन मुनियों ने सुना उनके स्मृति वाक्य भी प्रमाण हैं। यथार्थ पदार्थ का वर्णन करने वाला आप्त पुरुष होता है। अतीन्द्रिय अनागत और अतीत के पदार्थ का जानने वाला ऋषि कहलाता है।

जब वेद का अर्थ ज्ञान होता है तो वह ईश्वर रूप है। जब वेद का अर्थ वृत्यात्मक ज्ञान होता है तो वेद ईश्वर के द्वारा निर्मित कहलाते हैं। ऋषि जब उस ज्ञान को प्रकट करता है तो वेद ऋषि दृष्ट कहलायेंगे। इन ऋषियों के नाम वेद में भी दिये हैं। अर्थ यह हुआ कि अव्यय पुरुष की कला वाक् अपौरुषेय है वह नित्य है। अव्यय पुरुष को ही ईश्वर कहा जाता है। क्षर पुरुष की कलाओं के विस्तार से सूर्य मण्डल रूप जो वेद है वह ईश्वर निर्मित है।

ऋषि वक्ता को कहते हैं। जो ऋषि जिस ज्ञान का उपदेश देता है वह उसका वक्ता हो जाता है। मन्त्र पाँच प्रकार के है—भाववृत्त देवस्तव वक्त्रात्मस्तव देवात्मस्तव और सवाद। भाववृत्तों में सृष्टि की उत्पत्ति बतलायी जाती है। देवस्तव में देवताओं की स्तुति रहती है। वक्त्रात्मस्तव वे मन्त्र हैं जिनमें वक्ता अपनी प्रशसा करता है। सवादात्मक में दो का सवाद रहता है।

अभिप्राय यह है कि ऋषि प्रवर्त्तक हैं। जिस प्राण का जो दर्शन करता है वह उस ही प्राण के नाम स जान लिया जाता है। ये नाम यशोनाम हैं। सभी ऋषि अपने यशोनाम से जाने जाते हैं किन्तु किसी किसी ऋषि का व्यक्तिगत नाम भी मिलता है जैसे भरद्वाज ऋषि का व्यक्तिगत नाम विदथी अथवा वितथी था।

सप्तर्षियो की त्रयी ऋषियो से सृष्टि

ऋषियों में सात ऋषि सृष्टि प्रवर्तक हैं जो प्राण ऋषि हैं सात ऋषि वेद के प्रवर्तक हैं तथा सात ही ऋषि गोत्र के प्रवर्तक हैं। सृष्टि प्रवर्तक ऋषि प्राण हैं। व ये हैं—

१ मरीचि २ अङ्गिरा ३ वसिष्ठ ४ पुलस्त्य ५ पुलह ६ क्रतु । इन प्राणों को साक्षात्कार करने वाले ऋषि वेद प्रवर्तक ऋषि हैं । वे ये हैं—

१ वसिष्ठ २ अगस्त्य ३ भृगु ४ अङ्गिरा ५ अत्रि ६ पुलह ७ भरद्वाज । जैसे सृष्टि के प्रवर्तक प्राण हैं वैसे प्राणियों के प्रवर्तक ऋषि गोत्र प्रवर्तक कहलाते हैं । वे ये हैं—

१ भरद्वाज २ कश्यप ३ गौतम ४ अत्रि ५ विश्वामित्र ६ जमदग्नि ७ वसिष्ठ ।

ऋषि और सृष्टि विद्या

ऋषियों ने सृष्टि की उत्पत्ति में इच्छा श्रम और तप का सहारा लिया ।

ते यत् पुरास्मात् सर्वस्मादिदमिच्छन्त
श्रमेण तपसा अरिषन् तस्मात् ऋषय
—शतपथ ६/१/१/१

इच्छा मन का व्यापार है जो ज्ञान प्रधान है । तप प्राण का व्यापार है जो क्रिया प्रधान है । श्रम वाक् का व्यापार है जो अर्थ प्रधान है । मन की इच्छा प्राण का तप और वाक् का श्रम सृष्टि कर्म में आवश्यक है । इच्छामय मन अव्यय की विकास भूमि है । यह सृष्टि कर्म का आलम्बन है अधिष्ठान है । शब्दसृष्टि में इसे स्फोट कहा जाता है । तपोलक्षण क्रियामय प्राण अक्षर की विकास भूमि है जो शब्द सृष्टि में स्वर कहलाता है । यह सृष्टि का निमित्त कारण है । श्रम रूप वाक् तत्त्व क्षर की विकास भूमि है जिसे शब्द की सृष्टि में वर्ण कहा जाता है । यह सृष्टि का उपादान है । ये तीनों मिलकर मन के द्वारा रूप प्राण के द्वारा कर्म तथा वाक् के द्वारा नाम को जन्म देते हैं । मन आलम्बन है किन्तु गति शून्य है वाक् भी गतिशून्य है । गति केवल प्राण में है अत सृष्टि कर्म में प्राण ही मुख्य है । प्राण का कर्म तप है तप का लक्षण है *"एतद्वै तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति"* तप में आत्म समर्पण आवश्यक है । यही प्राण का व्यापार है । अत ऋषि ही सृष्टि का मूल है ।

छन्द

नाम रूप और कर्म वस्तु के स्वरूप हैं जिसे वस्तु का वय कहा जाता है । वस्तु वय है तो वस्तु का आकार वयोनाध है । वयोनाध ही छन्द है क्योंकि वही वय को आच्छादित करता है । वस्तु का यह आकार दो प्रकार से देखा जा सकता है—आकार और वर्ण । वर्ण का अर्थ है लाल पीला आदि । आकार का अर्थ है गोल लम्बा चौकोर आदि । ये वर्ण और आकार छन्द से बनते हैं । आकार को त्वष्टा बनाता है इसलिये उसे देवताओं का रथकार कहा जाता है—*त्वष्टा वै रूपाणि विकरोति* । वर्ण को इन्द्र बनाता है ।

सूर्य के सात घोडे कहे जाते हैं । ये सात घोडे सात छन्द हैं—गायत्री उष्णिक् अनुष्टुप् बृहती पङ्क्ति त्रिष्टुप्, जगती । इन सातों छन्दों का सम्बन्ध खगोल से है । पृथ्वी के बीचों बीच जो भूमध्य रेखा है वह पृथ्वी की अन्य रेखाओं से मध्य में होने के कारण बडी है इसलिये उस रेखा को बृहती कहा जाता है । भूमध्य रेखा पर सूर्य निरन्तर तपता है—*सूर्यो बृहतीमध्यूढस्तपति* । आधा खगोल

इस रेखा के दक्षिण की ओर है आधा खगोल उत्तर की ओर है। इसी के एक ओर १२ ८ और ४ के अशों पर ३ वृत्त हैं। जिसमें दक्षिण भाग का सबसे अन्तिम वृत्त मकर वृत्त कहलाता है। उत्तर भाग में भी इसी प्रकार तीन वृत्त हैं जिनमें सबसे अन्त का वृत्त कर्क वृत्त कहलाता है। मकर वृत्त का सम्बन्ध गायत्री छन्द से है और कर्क वृत्त का सम्बन्ध जगती छन्द से है। इनमें गायत्री मबसे छोटा है और जगती सबसे बडा है। गायत्री के एक पाद में ६ अक्षर होते हैं उष्णिक् में ७ अनुष्टुप म ८ बृहती म ९ पडित्त में १० त्रिष्टुप् में ११ और जगती में १२। ये छन्द ही पदार्थ का आकार निर्धारित करते हैं।

छन्द से विविधता

छन्द को वयोनाध कहा जाता है पदार्थ को वय तथा इन दोनों के समूह को वयुन कहते हैं। छन्द भिन्न भिन्न परिमाणों के कारण भिन्न भिन्न पदार्थों को जन्म देता है। छन्दों की अनकता के कारण ही देवताओं की अनेकता है। वस्तुस्थिति यह है कि परिमाण वस्तु के स्वरूप का निर्धारण करता है। यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि अग्नि एक परिमाण में अन्न को पचाता है दूसरे परिमाण में उसे पकाता है तथा तीसरे परिमाण में उमे जलाकर उसे भस्म कर देता है।

छन्द और वाक्

छन्द से छन्दित पदार्थ नाम रूप और कर्म की समष्टि है। इन नाम रूप एव कर्म का मन प्राण तथा वाक् से सम्बन्ध है। रूप का सम्बन्ध मन से है। हम जिस आकार के पदार्थ को देखते हैं मन उसी आकार में परिणत होता है कर्म का प्राण से सम्बन्ध है तथा नाम का वाक् से सम्बन्ध है। वाक् के गर्भ में प्राण है प्राण के गर्भ में मन। इनमें स वाक् का परिमाण छन्द है— *वाक्परिमाण छन्द"।*

छन्द जिसका परिमाण है ऐसी वाक् पर समस्त विश्व टिका है—*वाच देवा उपजीवन्ति विश्वे वाच ग धर्व पशवो मनुष्या। वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हव जुषतामिन्द्रपत्नी॥* **(तैत्तिरीय ब्राह्मण २/८/८/४)** कायाग्नि की प्रेरणा से वायु चलित होता है। यदि यह प्रेरणा साधारण है तो वायु केवल उरस्थल तक जाता है। यदि वेग अधिक है तो कण्ठ तक जाता है। यदि वेग और भी अधिक प्रबल है ता मस्तक तक जाता है इस प्रकार वाणी के तीन रूप हो जाते हैं मन्द मध्य और तार। इन तीनों का सम्बन्ध क्रमश गायत्री त्रिष्टुप् और जगती से है। प्रातःकाल अग्नि मन्द होता है इसलिये स्वर मन्द रहता है और उर स्थानीय होता है। इसका छन्द गायत्री है। मध्याह्न में कण्ठस्थानीय मध्य स्वर रहता है। इस समय का अग्नि सावित्र ऐन्द्र कहलाता है। यह कण्ठ स्थानीय मध्य स्वर है। इसका सम्बन्ध त्रिष्टुप् से है और सायकाल का अग्नि आदित्य अग्नि है यह तार स्वर वाला शिरःस्थानीय स्वर है। इसका सम्बन्ध जगती छन्द से है। गायत्री में ८ त्रिष्टुप् में ११ और जगती में १२ अक्षर रहते हैं। प्रातःकाल में गायत्री की मध्याह्न में सावित्री की और सायकाल में सरस्वती की उपासना की जाती है। इन तीनों का सम्बन्ध तीन वर्णों से है—*गायत्र्या ब्राह्मण निरवर्तयत् त्रिष्टुभा राजन्य जगत्या वैश्यम्* **(तैत्तिरीय ब्राह्मण २/८/८/४)**। ब्राह्मण प्रातःकालीन सूर्य के समान है शान्त किन्तु वर्धमान। क्षत्रिय मध्याह्न के सूर्य के समान

प्रचण्ड है। वैश्य सायकाल के सूर्य के समान है नम्र किन्तु क्षयिष्णु। इसी आधार पर मनु ने आचमन के समय ब्राह्मण को उरस्थल पर्य्यन्त क्षत्रिय को कण्ठ पर्य्यन्त वैश्य को मुख पर्यन्त, तथा शूद्र को ओष्ठ पर्यन्त जल के स्पर्श का विधान किया है।

हृद्गाभि पूयते विप्र कण्ठगाभिस्तु भूमिप।
वैश्योऽद्भि प्राशिताभिस्तु शूद्र स्पृष्टाभिरन्तत ॥

—मनु २ ६२

प्रात अग्नि मन्द होती है इसलिये उस समय उच्च स्वर से नही बोलना चाहिए। मध्याह्न में मध्य स्वर से और सायकाल में उच्च स्वर से बोलना चाहिए।

प्रात पठेन्नित्यमुर स्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन।
मध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वसकूजितसन्निभेन ॥
तार तु विद्यात् सवन तृतीय शिरोगत तच्च सदाप्रयोज्यम्
मयूर हसान्यभृतस्वराणा तुल्येन नादेन शिर स्थितेन

—पाणिनीयशिक्षा

अर्थच्छन्द

गायत्री पृथ्वी का छन्द है पृथ्वी का देवता अग्नि है। अग्नि के आठ अवयव हैं—१ आप २ फेन ३ मृत्,४ सिकता ५ शर्करा ६ अश्मा ७ अय ८ हिरण्य। अभिप्राय यह है कि छन्द का सम्बन्ध शब्द से भी है और पदार्थ से भी। शब्द से शब्दच्छन्द जुडा है अर्थ से अर्थच्छन्द। शब्द और अर्थ के इस पारस्परिक सम्बन्ध को देखकर ही महाभारत में गायत्री के २४ अक्षरों के लिय २४ पदार्थ गिनाये हैं।

सिंहा व्याघ्रा वराहश्च महिषा वारणास्तथा।
ऋक्षाश्च वानराश्चैव सप्तारण्या स्मृता नृप ॥

गौरजाविर्मनुष्याश्च अश्वाश्वतरगर्दभा।
एते ग्राम्या समाख्याता पशव सप्त साधुभि ॥

एते वै पशवो राजन् ग्राम्यारण्याश्चतुर्दश।
वेदोक्ता पृथिवीपाल! येषु यज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

उद्भिजा स्थावरा प्रोक्तास्तेषा पञ्चैव जातय।
वृक्षगुल्मलतावल्ल्यस्त्वक्सारास्तृणजातय ॥

तेषा विंशतिरेकोना महाभूतेषु पञ्चसु।
चतुर्विंशतिरुद्दिष्टा गायत्री लोकसम्मता ॥

य एता वेद गायत्री पुण्या सर्वगुणान्विताम्।
तत्त्वेन भारतश्रेष्ठ! स लोके न प्रणश्यति ॥

—महाभारत

इन २४ पदार्थों में १४ ससज्ञ हैं—७ आरण्यक और ७ ग्राम्य। वृक्ष लता गुल्म वल्ली त्वक्सार ये पाँच अन्त सज्ञ हैं तथा पृथ्वी जल तेज वायु और आकाश ये पाँच असज्ञ हैं।

छन्द और अध्यात्म

आधिभौतिक अर्थ में अग्नि के ८ रूप है तो आध्यात्मिक रूप में भी अग्नि के ८ ही रूप कण्ठ स लकर मल द्वारा तक ४ भागों में विभक्त शरीर के मध्य भाग को आत्मा कहा जाता है। बायी ओर हाथ और पाँव एक पक्ष है दायी ओर का दूसरा पक्ष। इस प्रकार दो पक्ष होते हैं। एक त्रिकास्थि में रहने वाला है पुच्छ है और आठवाँ सिर ह। इस प्रकार अध्यात्म में भी गायत्री को घटाया जा सकता ह। ये अवयव ८ प्राण हैं एक प्राण प्रादेश मात्रा है—*प्रादेशमित प्राण*।

एक प्रादेश साढे दस अगुल का है। इस प्रकार मनुष्य $१०\frac{१}{२} \times ८$ अर्थात् ८४ अगुल का होता ह। गायत्री छन्द से हमारा निर्माण हुआ है। इसलिये हम सब ८४ अगुल के हैं। इस प्रकार गायत्री छन्द अध्यात्म का आधिभौतिक से सम्बन्ध स्थापित करता है। पूर्वोक्त—आप फेन मृत् सिकता शर्करा अश्मा अय तथा हिरण्य—ये आठ अवयव आधिभौतिक के हैं तथा आत्मा आदि ८ अवयव अध्यात्म के हैं। इस प्रकार सडख्या की समानता के आधार पर छन्द अध्यात्म आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों का एक सूत्रता में स्थापित करता है। यदि छन्द में किसी प्रकार का दोष आ जाये तो फिर अपने अनुरूप स सम्बन्ध न जुडने के कारण इष्ट फल नही अपितु अनिष्ट फल होता है।

चार लोक के चार छन्द

पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्यौ तीन लोक तो प्रसिद्ध है ही चौथा भी लोक है—*अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आप* । इन चार लोकों के चार ही देवता हैं—अग्नि वायु आदित्य और चन्द्रमा। इन चार लोकों और चार देवताओं का चार छन्दों से सम्बन्ध है। अग्नि देवता तथा पृथ्वी का सम्बन्ध माछन्द से वायुदेवता तथा अन्तरिक्ष का प्रमा से सूर्यदेवता तथा द्यौ का प्रतिमा से तथा सोमदेवता एव दिशाओं का सम्बन्ध अस्रीवि से है। *१ माछन्द तत् पृथिवी अग्निर्देवता २ प्रमाछन्द तदन्तरिक्षम्, वातोदेवता ३ प्रतिमाछन्द तद् द्यौ सूर्यो देवता ४ अस्रीविछन्द तद् दिश सोमोदेवता* आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १६/२८/१। यहाँ मा का अर्थ सख्या परिच्छेद प्रमा का अर्थ वस्तु का आयतन वस्तु प्रतिष्ठा तथा प्रतिमा का अर्थ सादृश्य है। किसी भी वस्तु के निर्माण में सख्या सख्या का क्रम तथा प्रतिमान अर्थात् मॉडल चाहिये। छन्द ये तीनों देता है।

तीन छन्द

ऊपर हमने वय आर वयानाध की चर्चा की। ऋक् और साम वयानाध है अर्थात् छन्द ह और यजु छन्द से छन्दित वस्तु अर्थात् वय है। वस्तुरूप यजु के ही दो भाग हैं यत् अर्थात् वायु आर जू अर्थात् आकाश। वायु गति रूप है तथा आकाश स्थिति रूप। वयोनाध छन्द रूप है जो आभ्यन्तर व्यक्तित्व है। वय नामरूपकर्ममय ह जो बाह्य व्यक्तित्व है। सभी यज्ञ त्रिवृत हाते हैं।

इसीलिये यज्ञ विद्या त्रयी कहलाती है। छन्द की दृष्टि से भी यज्ञ त्रिवृत है। ये तीन छन्द है—गायत्री त्रिष्टुभ् और जगती।

सात छन्द

कर्क रेखा और मकर रेखा के बीच ही सब छन्द आते हैं। उत्तरी भाग में जगती त्रिष्टुभ् और पङ्क्ति है दक्षिणी गोलार्द्ध में गायत्री उष्णिक् और अनुष्टुप् है। जगती त्रिष्टुप् और पङ्क्ति में १२ ११ और १० अक्षर है गायत्री उष्णिक् और अनुष्टुप् में ६ ७ और ८ अक्षर हैं। यदि उत्तरी गोलार्द्ध और दक्षिणी गोलार्द्ध के छन्दों के अक्षरों को जोड़ें तो प्रत्येक की संख्या १८ होगी। बृहती के ९ अक्षर होते हैं अर्थात् २ बृहती छन्दों को मिलाकर भी संख्या १८ हो जाती है गायत्री ६ + जगती १२ = १८ उष्णिक ७ + त्रिष्टुप् ११ = १८ अनुष्टुप् ८ + पङ्क्ति १० = १८ इस प्रकार सभी छन्दों का समावेश बृहती में हो जाता है। *बृहती वाव छन्दसां स्वराट्*—श. ब्रा. १०/३/८।

बृहती के ९ अक्षर हैं ४ पादों में मिलाकर ३६ अक्षर हो जाते हैं। यही ३६ अक्षर सूर्य के सम्पर्क से ३६००० (छत्तीस हजार) होकर ३६००० हजार दिन अर्थात् १०० वर्ष की आयु का निर्माण करते हैं—*तद्वा इदं बृहतीसहस्रं सम्पन्नम्। तस्य वा एतस्य बृहती सहस्रस्य सम्पन्नस्य षट्त्रिंशतमक्षराणां सहस्राणि भवन्ति। तावन्ति पुरुषायुषोऽह्नां सहस्राणि भवन्ति। जीवाक्षरेणैव जीवाहराप्नोति जीवाह्न जीवाक्षरम्।*

इन छन्दों का सम्बन्ध युग्म स्तोमों से है। अयुग्म स्तोम से ३३ अहर्गण बनते हैं युग्म स्तोमों से छन्द। गायत्री के २४ त्रिष्टुप् के ४४ और जगती के ४८ अक्षर होते हैं। यही तीन युग्म स्तोम हैं।

छन्द और देव

ऊपर हमने ४ प्रकार के छन्दों का उल्लेख किया तथा यह बताया कि वे ही चारों छन्द वैज्ञानिक परिभाषा में पूर्वोक्त मा प्रमा प्रतिमा अस्रीवि नाम से व्यवहृत होते हैं। पृथिवीलोक का एवं तद्गत पार्थिव पदार्थों का सामान्य छन्द मा है। अन्तरिक्षलोक एवं तद्गत आन्तरिक्ष्य पदार्थों का सामान्य छन्द प्रमा नाम से प्रसिद्ध है। द्युलोक एवं तद्गत दिव्य पदार्थों का छन्द प्रतिमा है। एवं आपोगत दिक्स्वरूप सम्पादक छन्द "अस्रीवि" नाम से प्रसिद्ध है। याज्ञिक परिभाषानुसार मा प्रमा प्रतिमा अस्रीवि ही क्रमशः गायत्री त्रिष्टुप्, जगती अनुष्टुप् नाम से व्यवहृत होते हैं। गायत्री पार्थिव छन्द है। त्रिष्टुप् आन्तरिक्ष्य छन्द है। जगती दिव्य छन्द है। एवं अनुष्टुप् आप्यछन्द है। पृथिवीलोक अग्निर्भूस्थान के अनुसार आग्नेय है। अतएव अग्नि गायत्रीछन्दा कहा जाता है। *वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः*—निरुक्त के अनुसार अन्तरिक्ष में मरुत्वान् इन्द्र की सत्ता मानी जाती है। अतएव इन्द्र को त्रिष्टुप्छन्दा माना जाता है। सूर्य सार्वदेवत्य होता हुआ विश्वदेव है। अतएव विश्वदेव को जगतीछन्दा माना जाता है। प्राजापत्यत्रिवर्ग को आस्रीविच्छन्दा माना जाता है। गायत्री त्रिष्टुप् जगती अनुष्टुप् चारों ही छन्दस्याग्नि हैं। इन्हीं चारों आयतनों में क्रमशः अग्निमय

वमु वायुमय रुद्र आदित्यमय विश्वदेव नथा आपामय आप्त्याटवना प्रतिष्ठित रहत ह। मम्पूर्ण दवता इन्ही चारों छन्दा पर प्रतिष्ठित रहत हैं।

अनुष्टुप् प्रजापत्य अग्नि का छन्द है अतएव इसे श्रेष्ठ माना जाता ह—*ज्यष्ठ वा अनुष्टुप्* **ता. ब्रा.** ८/७/३। त्रिष्टुप् छन्द पश्चिम दिग् में व्याप्त ह। गायत्री छन्द मकर वृत्त म जुडा है इसलिये दक्षिण दिग् में व्याप्त ह। जगती छन्द कर्क वृत्त स जुडा ह। यह उत्तर म व्याप्त है। अनुष्टुप् प्राची स जुडा है। शेष तीनों छन्द अनुष्टुप् के ही विकास हैं।

वय ऋतु दवता ह। वह वस्तु है। ऋतु को प्रयाज कहते हैं। वयोनाध छन्दादवता ह। यह अनुयाज कहलाता है।

वाक् के सात छन्द हैं। पृथ्वी के त्रिवृत पृष्ठ तक अर्थात् नो अहर्गण तक गायत्री छन्द है पञ्चदश तक त्रिष्टुप् छन्द ह एकविंश तक जगती छन्द है। इन्हीं में उष्णिक् अनुष्टुप् बृहती और पङ्क्ति य चार छन्द और हैं। इस प्रकार सात छन्द हो जाते हैं। इक्कीस क ऊपर रहन वाला साम इन सात छन्दों में विभक्त रहता है। सातों छन्दों का स्वरूप पृथक पृथक् ह सातों का प्राण भिन्न भिन्न है। एक ही सोम सात भागों में विभक्त हो जाता है।

छन्दो की अक्षर सङ्ख्या

एक अक्षर स पाँच अक्षर तक का छन्द पथ्या छन्द कहलाता ह। एक चरण म कम स कम एक और अधिक से अधिक पाँच अक्षर हो सकते हैं और इस प्रकार पथ्या छन्द में अधिक स अधिक बीस अक्षर हो सकते हैं। छ अक्षर से बारह अक्षर तक का छन्द देवछन्द कहलाता है ६×४ = २४ अक्षरों का छन्द गायत्री है ७×४ = २८ अक्षरों का छन्द उष्णिक है ८×४ = ३२ अक्षरों का छन्द अनुष्टुप् है। ९×४ = ३६ अक्षरों का छन्द बृहती ह १०×४ = ४० अक्षरों का छन्द पङ्क्ति है ११×४ = ४४ अक्षरों का छन्द त्रिष्टुप् है १२×४ = ४८ अक्षरों का छन्द जगती है।

१३ स २४ अक्षर तक प्रति चरण वाला छन्द अतिछन्द कहलाता है तथा २५ या २५ से अधिक अक्षर प्रति चरण वाला छन्द दण्डक छन्द कहलाता ह।

गायत्री उष्णिक् अनुष्टुप्, पङ्क्ति त्रिष्टुप्, जगती तथा बृहती समन सात छन्द हैं। यही दवच्छन्द कहलात ह *सप्त वै देवच्छन्दांसि*"। य सात ही अहोरात्र क निर्माण का कारण है। बृहती क उत्तर तथा दक्षिण में रहन वाले छन्दों का जोड ७२ होता है अर्थात् जगती और गायत्री क ४८ + २४ = ७२ त्रिष्टुप् और उष्णिक् क ४४ + २८ = ७२ पङ्क्ति और अनुष्टुप् क ४० + ३२ = ७२।

इस प्रकार य ७२ ग्यूहन म ७२० अहोरात्र बन जात ह। यही मम्वत्सर का रूप ह। आठ वसुओं क सम्बन्ध म भी पृथिवी का गायत्री अष्टाक्षरा होती ह। छन्दों म एक या दो अक्षर क न्यूनाधिक्य स अन्तर नहीं होता—*नैव एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम्*—एतरय ब्राह्मण, १/६/२/२१।

क्योंकि छन्द वस्तु की सीमा निर्धारित करता है इसलिए दिशाओं को भी छन्द कह दिया जाता है। *छन्दांसि वै दिश* (शतपथ ८/३/१/१२) । *दिशो वै परिभूश्छन्द* (यजु सं. १५/४) ।

छन्दो का कार्य

छन्दों में गायत्री तेज को बतलाना है उष्णिक् आयु को अनुष्टुप् स्वर्ग को बृहती श्री का पंक्ति यज्ञ को त्रिष्टुप् वीर्य को जगती पशु को विराट अन्न को। इनमें जो जिस छन्द की उपासना करता है उसको वही पदार्थ मिल जाता है।

पितृतत्त्व

वैदिक साहित्य की विवेचना करने वाले ग्रन्थों में ऋषि तथा देवताओं पर तो विचार किया जाता है किन्तु पितृतत्त्व का विवेचन प्राय नहीं होता किन्तु मनु ने ऋषियों से पितरों की तथा पितरों से देवों की उत्पत्ति बतलाते हुए पितृतत्व को भी एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्वीकार किया है। इसलिये पितरों पर भी विचार करना शास्त्रानुकूल होगा। पितर क्या है ? यह विषय आज से अनेक वर्ष पूर्व महामहोपाध्याय गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने "संस्कृत रत्नाकर" में उठाया था। प्रश्न का समाधान कहीं से न मिलने पर उन्होंने पण्डित मोतीलालजी को इस विषय पर प्रकाश डालने के लिये कहा। फलस्वरूप पण्डित मोतीलालजी ने श्राद्ध विज्ञान नाम से चार खण्डों में एक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में वेद संहिताओं ब्राह्मण ग्रन्थों तथा अन्य प्रमाणों के आधार पर पितरों का एवं श्राद्ध का विस्तृत विवेचन है। यह विवेचन श्राद्ध के मर्म को तो उद्घाटित करता ही है एक ऐसी अन्तर्दृष्टि भी प्रदान करता है जिसके आधार पर वर्तमान में चल रहा अनुसन्धान आगे बढ़ाया जा सकता है।

पितर का अर्थ

पितर शब्द बहुत व्यापक है हम सामान्यत जिन्हें पितर समझते हैं वे हमारे पूर्वज हैं। ये पितर (१) प्रेत पितर कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त (२) दिव्य पितर और (३) ऋतु पितर भी हैं। इन तीनों प्रकार के पितरों को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम पितरों के स्वरूप को जानें। जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है साहित्य में पितर शब्द के अनेकानेक अर्थ दिये हैं जिनमें मुख्य यह हैं—अग्नि सोम ऋतु ओषधि यम देव प्राण प्रजापति तथा अन्न। प्रश्न होता है कि एक ही शब्द के इतने विभिन्न अर्थ कैसे हो सकते हैं ? और यदि एक ही शब्द के इतने भिन्न भिन्न अर्थ किये जायें तो फिर पितर शब्द का स्वरूप भी कैसे निर्धारित किया जा सकेगा ? वस्तुत यह समस्या वेद के अनेक शब्दों के सम्बन्ध में है। *ब्राह्मण ग्रन्थ एक शब्द के अनेकानेक अर्थ देते हैं।* तब यह प्रश्न होता है कि उस शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है ? क्योंकि यदि एक शब्द के बहुत सारे एसे अर्थ मान लिये जायें जिनका कोई पारस्परिक सम्बन्ध ही न हो तो फिर शब्द का अर्थ करना न करना बराबर हुआ क्योंकि किसी भी शब्द का मनमाना कुछ भी अर्थ कर दिया जायेगा ? ब्राह्मण ग्रन्थों की इसी प्रवृत्ति को देखकर पश्चिमी विद्वानों ने ब्राह्मण ग्रन्थों की उपेक्षा कर दी और यह घोषणा कर दी कि ब्राह्मण ग्रन्थ तो एक बीहड़ जंगल के समान हैं। वस्तुत स्थिति यह है कि

वेद के वे सब शब्द जिनके ब्राह्मण ग्रन्थों में विभिन्न अर्थ दिये हैं प्राण के सूचक हैं। इसलिये उस शब्द का मुख्य अर्थ तो प्राण विशेष होता है। किन्तु वह प्राण जिस पदार्थ में रहता है उस पदार्थ का भी उसी शब्द के द्वारा कह दिया जाता है। क्योंकि एक प्राण भिन्न भिन्न पदार्थों में रहता है इसीलिये वे सभी पदार्थ उस प्राण के बताने वाले शब्द द्वारा कह दिये जाते हैं। बारम्बार यह कहने की अपेक्षा कि अग्नि जिसमें पितर प्राण रहता है सोम जिसमें पितर प्राण रहता है ऋतु जिसमें पितर प्राण रहता है इत्यादि यह कह दिया जाता है कि अग्नि पितर है सोम पितर है ऋतु पितर है। वेदव्याख्या की इस शैली को समझ लेने के बाद ब्राह्मण ग्रन्थ बीहड जंगल नहीं रह जाते।

जब अग्नि को पितर कहा जा रहा है तो अभिप्राय यह है कि अग्नि के पितर प्राण पर बल दिया जा रहा है। इसी प्रकार सोम को पितर कहते समय सोम में रहने वाले पितर प्राण को कहा जा रहा है। क्योंकि अग्नि अन्नाद है और सोम अन्न है। इसलिये अग्नि से जुड़ा हुआ पितर प्राण अन्नाद पितर है सोम से जुड़ा हुआ पितर प्राण अन्न पितर है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए। वस्तुत वेद विज्ञान प्राण विज्ञान है और इसलिये उसमें प्राण की मुख्यता है और एक प्राण एक पदार्थ में ही नहीं रहता बल्कि अनेक पदार्थों में रहता है। इसलिये उस प्राण के वाचक शब्द के अनेक अर्थ हो जाते। पितर भी एक प्राण है जैसे देवता प्राण है। पितर प्राणों का सम्बन्ध सोम से है। इसलिए ऋग्वेद में कहा है पितर सोम्य है—*पितर सोम्यास*। पितरों का सम्बन्ध सोम से है देवताओं का सम्बन्ध अग्नि से है। हम पहले कह चुके हैं कि स्वयम्भू में ऋषि प्राण रहता है। इस ऋषि प्राण से परमेष्ठी के आप तत्त्व का विकास होता है। इस आप के दो भाग हैं—भृगु और अङ्गिरा। भृगु स्नेह का वाचक है अङ्गिरा तेज का। भृगु की भी तीन अवस्थायें हैं—अप् वायु और सोम। इनमें से अप् तत्त्व के आधार पर असुर सृष्टि बनती है सोम के आधार पर पितर सृष्टि का विकास होता है और वायु के आधार पर गन्धर्व सृष्टि का विकास होता है। अग्नि और सोम को सत्य और ऋत भी कहा जाता है। अग्नि सत्य है सोम ऋत है। इस प्रकार पितरों का सम्बन्ध ऋत से जुड़ जाता है। देवताओं का सम्बन्ध सत्य से है। सत्य वह है जिसका केन्द्र है ऋत वह है जिसका केन्द्र नहीं है। उदाहरणत पाषाण का एक केन्द्र है इसलिये पाषाण के एक भाग को पकड कर यदि ऊपर उठाये तो पूरा पाषाण ऊपर उठता है। जल ऋत है। उसका केन्द्र नहीं है। इसलिये जल के एक भाग को ऊपर उठाने पर दूसरा भाग ऊपर नहीं उठता।

खगोल मे पितर

प्रसिद्ध है कि भीष्मपितामह अर्जुन द्वारा रणभूमि में धराशायी कर देने के बाद भी इसलिये शरीर छोडने को तैयार नहीं हुए कि उस समय दक्षिणायन चल रहा था। उत्तरायण आने पर ही उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। दक्षिणायन पितृलोक का द्वार है उत्तरायण देवलोक का द्वार है। चन्द्रमा देवलोक और पितृलोक का विभाजन करने वाला है। चन्द्रमा के उत्तर में ध्रुव प्रदेश तक देवलोक है उसके आगे ब्रह्म लोक है। चन्द्रमा के दक्षिण में शनिश्चर तक पितृ लोक है। उसके आगे नरक है। पितृ लोक को प्रद्यौ कहते है। देवलोक में प्रकाश ही प्रकाश है। असुर लोक में अन्धकार ही अन्धकार है। पितृलोक इन दोनों का बीच की अवस्था है। इसमें सन्ध्या के समय की तरह

थोड़ा थोड़ा प्रकाश और थोड़ा अन्धेरा रहता है।

पितरो के भेद

पितर दो प्रकार के हैं—अग्नि पितर और अनग्नि पितर। जो पितर उष्ण पदार्थों से बने हैं उन्हें अग्निष्वात्ता कहा जाता है शीत पदार्थों से बनने वाले पितर सोमसद् कहलाते हैं तथा जो पितर जो न शीत हैं न उष्ण बर्हिषत् कहलाते हैं। ये तीनों नाम सार्थक हैं क्योंकि अग्नि उष्ण होता है सोम शीत और बर्हि अर्थात् कुशा न ठण्डी होती है न गर्म। पितृ लोक साममय है क्योंकि पितर साम प्रधान हैं। साम परमेष्ठी तथा चन्द्रमा दोनों में रहता है। परमेष्ठी का साम ब्रह्मणस्पति कहलाता है। वह परमेष्ठी का अधिष्ठाता है। चन्द्रमा का साम भास्वर साम कहलाता है। यह मन का अधिष्ठाता है।

देव प्राण प्राणदपानन् हैं। पितर प्राण केवल अपानत् हैं। अभिप्राय यह है कि देवों का सम्बन्ध अग्नि से है। अग्नि विकासशील है इसलिये उसमें गति और आगति दोनों रहती हैं। पितृ प्राण में साम मुख्य है। साम का स्वभाव सकोच है और सकोच में केवल गति ही रहती है। इसलिये पितरों में केवल अपानत् व्यापार होता है। पितरों के अनेक प्रकार हैं जिनमें तीन मुख्य हैं—नान्दीमुख पार्वण और अश्रुमुख। नान्दीमुख पितरों का सम्बन्ध द्यौ से है पार्वण का सम्बन्ध अन्तरिक्ष से है और अश्रुमुख का सम्बन्ध पृथ्वी से है। देवताओं को जो आहुति दी जाती है वह स्वाहा कहलाती है। पितरों को दी जाने वाली आहुति स्वधा है। स्वाहा का सम्बन्ध बहिर्याग से है स्वधा का सम्बन्ध अन्तर्याग से है। पितर एक यौगिक तत्त्व है। इस यौगिक तत्त्व का ब्रह्म मौलिक तत्त्व है। यह मौलिक तत्त्व ही यौगिक तत्त्व की प्रतिष्ठा है।

देव, पितर, ऋषि

देव और पितरों में हमने ऊपर यह भेद बताया कि पितरों का सम्बन्ध साम से है देवों का सम्बन्ध अग्नि से है। अग्नि को तेज और साम को स्नेह भी कहा जा सकता है। इसी स्नेह और तेज के सयोग से सृष्टि बनी है। स्नेह का दूसरा नाम भृगु और तेज का दूसरा नाम अग्नि है। अग्नि और साम एक साथ दो स्थितियों को बताते हैं। अग्नि सोम गति स्थिति का नाम भी है। अग्नि साम तेज स्नेह का नाम भी है। जब वे गति स्थिति के बोधक होते हैं तो यजु कहलाते हैं जिसमें यत् का सम्बन्ध गति से और स्थिति का सम्बन्ध जू से है। गति वायु है स्थिति आकाश है। इन दो का समन्वय ही यजु है। इधर तेज के रूप में अग्नि अङ्गिरा है और स्नेह के रूप में साम भृगु है। भृगु और अङ्गिरा का समन्वय ही आप है। यह अप् ही अथर्ववेद है जिसे सुब्रह्म कहा जाता है। गोपथ ब्राह्मण ने इसमें अप् की प्रधानता देखकर सुवेद अर्थात स्वेद कहा है। स्वयम्भू का प्राण तत्त्व असङ्ग है। असङ्ग से सृष्टि नहीं होती। परमेष्ठी का आप तत्त्व भृगु और अङ्गिरा की मैथुनी सृष्टि से युक्त है। अतः यहीं से सृष्टि का प्रारम्भ होता है। अथर्ववेद में परमेष्ठी के इस आप तत्त्व की व्याख्या करते हुए कहा गया है आप भृगु तथा अङ्गिरा रूप है भृगु तथा अङ्गिरामय है भृगु तथा अङ्गिरा के बीच ही सब वेद आश्रित हैं—

आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरेते त्रयो वदा भृगूनङ्गिरस श्रिता ॥

कौषीतकि न भृगु और अङ्गिरा का ही इस रूप म कहा है—*द्वय वा इद सर्व स्नेहश्चैव तेजश्च।*

उपर्युक्त भृगु आर अङ्गिरा क्रमश पितर आर दवों क आधार है। यजु का वाक् भाग भार्गव प्राण का जनक है। प्राण भाग अङ्गिरस प्राण का प्रवर्तक ह। भृगु स मम्बद्ध हाने के कारण पितर सोम्य हैं अग्नि से जुड हुए दव आग्नेय हैं। प्राण प्रधान अग्नि दव सृष्टि का कारण है वाक् प्रधान सोम पितृ सृष्टि का कारण है। प्राण मन के निकट है वाक् मन से दूर है। इसलिय दवता मन पर टिक ह पितर वाक् पर टिक ह—*पितरो वाक्यमिच्छन्ति भावमिच्छन्ति देवता।*

भृगु की घन तरल और विरल तान अवस्थाएँ हैं जिन्हें क्रमश आप वायु सोम कहा जाता ह। अङ्गिरा की तीन अवस्थाएँ अग्नि यम आर आदित्य ह। आप्य प्राण ९९ हैं जो असुर है वायव्य प्राण २७ हैं जा गन्धर्व है साम्य प्राण ८ हैं जा पितर हैं। साम्य प्राण पर असुर प्राणों का आक्रमण हाता ह ता वायव्य प्राण उसकी रक्षा करत हैं। जहाँ वायव्य प्राण रक्षा नहा करते हैं वहाँ आप्य प्राण वरुण प्रवेश कर जाता है और पदार्थ गलने लगता है। वायु पदार्थ को सडने नही देता।

शरीर म जब तक श्वास प्रश्वास का सञ्चार है शरीर का साम रक्षित है। श्वास प्रश्वास के न रहने पर शरीर सडन लगता ह।

पितरा का कार्य

पितरों का विकास परमष्ठी मण्डल स हाता ह ज्याति का विकास सूर्य म हाता है। इसलिये पितरों को दवों का जनक बतलाया गया है। जिस प्रकार भृगु के तीन भाग अग्नि वायु और साम असुर गन्धर्व और पितरों क प्रवर्तक हैं इसी प्रकार अङ्गिरा के अग्नि यम और आदित्य क्रमश वसु रुद्र और आदित्य क प्रवर्तक हैं। भृगु क तीन भाग और अङ्गिरा क तीन भाग मिलकर षट्कल सुब्रह्म बनता है। यह स्त्री रूप है क्योंकि सोम है। यही अथववद है। उधर त्रयी में ऋग्वद उक्थछन्द है सामवद पृष्ठछन्द है तथा यजुर्वेद का यत् प्राण है जो ऋषि तत्त्व का मूल है और जू वाक् है जो पितृ प्राण का प्रवर्तक है। ऋक् साम और यजु पुरुष है जिसकी चार कलाएँ हैं। ये चतुष्कलपुरुष षट्कल सुब्रह्म स्त्री से मिलकर दशकल विराट पुरुष बनता है जा सृष्टि का जन्म देता है। हमार शरीर के निर्माण में ऋषि पितर और देवता तीनों का योगदान है। स्वयम्भू स ऋषि तत्त्व परमेष्ठी से पितृतत्त्व और सूर्य स देवतत्त्व लेकर ही हम उत्पन्न होत हैं। इसलिय इन तीनों क प्रति हमारा ऋण है। ऋषि ऋण ब्रह्मचर्य द्वारा अर्थात् ज्ञान द्वारा दवऋण यज्ञ द्वारा और पितृ ऋण पुत्रोत्पत्ति द्वारा चुकाया जाता है।—*जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभि ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्य यज्ञेन देवेभ्य प्रजया पितृभ्य। एष वा अनृणी य पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी च।*

ध्यातव्य है कि यहाँ यद्यपि इन तीन ऋणों की बात ब्राह्मणों के लिये की गई है किन्तु यहाँ ब्राह्मण शब्द स चारों ही वर्ण समझने चाहिए। क्योंकि सभी वर्ण ब्रह्म स उत्पन्न हाते हैं इसलिय

सभी ब्राह्मण हैं। यह महत्वपूर्ण बात महाभारत में कही गई है।

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥

पर, मध्यम, अवर पितर

पितरों में सर्वप्रथम प्राकृतिक पितर आते हैं पितरों के सम्बन्ध में ऋग्वेद का कहना है कि ये तीन प्रकार के हैं—पर मध्यम और अपर।

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥
—ऋक् सं. १०/१५/१

पितरों को ऋतज्ञ कहा गया है क्योंकि पितरों का सम्बन्ध परमेष्ठी से है और परमेष्ठी का सम्बन्ध ऋत से है।

ऋतमेव परमेष्ठी ऋतं नात्येति किञ्चन।
ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरियमाश्रिता॥
—तैत्तिरीय संहिता १/५/५/१

ऊपर ऋग्वेद की ऋचा में पितरों को प्राणप्रद बताया था। छान्दोग्य उपनिषद् का कहना है कि अन्न से मन आप से प्राण और तेज से वाक् का निर्माण होता है—*अन्नमयं हि सौम्यमनः आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्*। परमेष्ठितत्व अप् प्रधान है। यहीं पितर रहते हैं इसलिये वे प्राण देने वाले समझे जाते हैं।

पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्यौ के तीन देवता—अग्नि वायु और आदित्य हैं। उसी प्रकार पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्यौ के तीन पितर भी अवर मध्यम और पर कहलाते हैं। अवर प्रेत पितर हैं मध्यम ऋतु पितर हैं पर दिव्य पितर हैं। इनका ही नाम क्रमश: अश्रुमुख पार्वण और नान्दीमुख है। पृथ्वी के पितर दु:ख रूप होने के कारण अश्रुमुख कहलाते हैं द्यौ के पितर आनन्द रूप होने के कारण नान्दीमुख कहलाते हैं और इन दोनों के बीच में स्थित होने के कारण अन्तरिक्ष के पितर पार्वण पितर कहलाते हैं। इन तीनों पितरों से अग्नि वायु और आदित्य देवता उत्पन्न होते हैं।

पितरों का सम्बन्ध सोम से है। सोम की तीन अवस्थाएं हैं—आप वायु और सोम। इन तीनों का सम्बन्ध प्रातः सवन माध्यन्दिन सवन और सायसवन से है। आप का सम्बन्ध अग्नि से वायु का यम से और सोम का आदित्य से है। अग्नि और आप के सहयोग से पृथ्वी उत्पन्न होती है। वायु और यम के सम्बन्ध से जल उत्पन्न होता है। यम रुद्र है जो विनाश का देवता है। वायु शिव है जो जन्म का देवता है। आदित्य और सोम के सम्बन्ध से द्युलोक में ज्योति उत्पन्न होती है। इस प्रकार आप—अग्नि वायु यम तथा सोम आदित्य ये तीन दम्पती हैं जो तीन लोकों को जन्म देते हैं।

अङ्गिरा अग्नि रूप है जो विकासशील है। भृगु सकोचशील है जो स्नेहधर्मा है और यम उष्ण और शीत के बीच अनुष्ण अशीत है। इनका वर्णन यजुर्वेद में हुआ है।

अङ्गिरसो न पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगव सौम्यास ।—यजुर्वेद १९,५०

तर्मियम सराणो हवीष्युशनुशद्‌भि प्रतिकाममत्तु॥—यजुर्वेद १९/५१

इनमें अङ्गिरा अवर पितर है भृगु पर पितर है और यम मध्यम पितर है। अङ्गिरा का सम्बन्ध दक्षिण से है क्योंकि दक्षिण भाग अग्निप्रधान होता है। दक्षिण भाग नीचा रहता है इसलिये वहाँ के पितर अवर पितर हैं। भृगु पितर परपितर है। सोम का स्थान उत्तर में है और उत्तर का अर्थ ऊँचा है इसलिये भृगु पितर को पर पितर कहा जाता है। यम इन दोनों के बीच में है। अग्नि और सोम के भी दो दो रूप हैं ऋत सत्य। ऋताग्नि वायु रूप है। इसका सम्बन्ध दक्षिण से है। सत्याग्नि सूर्य पिण्ड है। इसका सम्बन्ध पूर्व से है। ऋत सोम रस रूप है। इसका सम्बन्ध उत्तर से है। सत्य सोम चन्द्र पिण्ड है। इसका सम्बन्ध पश्चिम से है। सोम के अनेक रूपों में से सह नाम के सोम का सम्बन्ध पितरों से है। २८ नक्षत्रों के सम्बन्ध से यह सह सोम २८ अवस्थाओं में परिणत होता है। इस सह सोम की तीन अवस्थाएँ हैं। घन अवस्था का नाम रेत है जिसे हम शुक्र नाम से जानते हैं। तरल अवस्था का नाम श्रद्धा है जिसे हम आप नाम से जानते हैं। विरल अवस्था का नाम यश है जिसे हम प्राण नाम से जानते हैं। यह सह नाम का सोम बल वंशानुक्रम से पूर्वजों से पुरुष को प्राप्त होता है। इस प्रकार उस पर पितरों का ऋण रहता है इस ऋण को चुकाने का उपाय श्रद्धा है। श्रद्धा भी सोम का ही तरल रूप है। यह अपनी तरलता के कारण पितरों को श्रद्धापूर्वक अर्पित किये गये पदार्थ हैं।

सात पितर

दिव्य पितर सात हैं जिनमें से तीन अन्न पितर हैं और तीन अन्नाद पितर हैं। अन्न तीन प्रकार का है उष्ण शीत और अनुष्ण अशीत। पहले कहा जा चुका है कि उष्ण द्रव्य से युक्त आग्नेय पितर अग्निष्वात्ता कहलाते हैं तथा अनुष्ण अशीत से युक्त याम्य पितर बर्हिषद् कहलाते हैं। अन्नाद पितर भी तीन प्रकार के हैं क्योंकि भोग्य पदार्थ तीन प्रकार के हैं—घन तरल विरल घन पदार्थों के भोक्ता हविर्भुज कहलाते हैं तरल पदार्थों के भोक्ता आज्यपा कहलाते हैं और विरल पदार्थों के भोक्ता सोमपा कहलाते हैं। अन्न पितर सौम्य हैं, अन्नाद पितर आग्नेय हैं। इन दोनों के बीच में याम्य पितर हैं जो न अन्न रूप हैं न अन्नाद रूप हैं। इनका नाम शुकाल है ये पदार्थ को स्तम्भित रखते हैं।

ये सातों प्राण देवों को उत्पन्न करते हैं इसलिये इन्हें दिव्य पितर कहा जाता है। ये सातों प्राण स्वय ऋषियों से उत्पन्न होते हैं—अग्निष्वात्त भृगु से उत्पन्न होते हैं बर्हिषत् अङ्गिरा से उत्पन्न होते हैं और सोमपत् अत्रि से उत्पन्न होते हैं। समष्टिरूप में इन तीनों की प्रतिष्ठा भृगु ऋषि है। हविर्भुक् पितर पुलह ऋषिप्राण से मिश्रित अङ्गिरा ऋषि से उत्पन्न होते हैं। आज्यपा पितर कर्दम प्राणगर्भितपुलस्त्यऋषि से उत्पन्न होते हैं और सोमपा अन्नाद पितर विराटप्राणगर्भित भृगु ऋषि से उत्पन्न होते हैं। समष्टि रूप में अन्न पितरों की प्रतिष्ठा अङ्गिरा ऋषि हैं। शुकाली नाम के पितरों

का उपादान वसिष्ठ प्राण ह । इस प्रकार अन्न पितर भृगु म अन्नाद पितर अङ्गिरा म आर शुकाला पितर वसिष्ठ म उत्पन्न हात हैं । इनम अन्नाद पितर पर हैं अन्न पितर मध्यम ह आर अनुभय पितर अवर ह । हविर्भुज पितरों का दवता इन्द्र ह । य क्षत्रियों क पितर ह । आज्यपा पितरों क दव वैष्णवदव हैं । य वश्यों के पितर हैं । सामपा पितरा क दव अग्नि हैं य ब्राह्मणों क दव हैं आर शुकाला पितरा क दव पूषा हैं य शूद्रों क दव ह । पितरों का दवताआ म सम्बन्ध इस रूप में जानना चाहिय कि साम अन्न ह अग्नि अन्नाद ह । यम वायु अङ्गिरम ह । अङ्गिरा का ही अवस्था अग्नि ह इसलिय यम का अन्तर्भाव अग्नि में हा जाता ह । अङ्गिरा क तान रूप ह अग्नि वायु आर आदित्य जिनका सम्बन्ध वसु रुद्र आर आदित्य दवताआ म ह । इस प्रकार दवता पितरों स जुड हुए ह ।

सृष्टि के पितर

समष्टि क सन्दर्भ में भा पितरों का स्वरूप समझा जा सकता ह । सृष्टि की सातवी पीढी वृद्धातिवृद्धप्रपितामह ह । य अव्यय पुरुष हैं । छठी पीढी अतिवृद्धप्रपितामह ह जा अक्षर पुरुष ह । हिरण्यगर्भ प्रजापति पाँचवी पीढी वृद्धप्रपितामह ह । मनु चाथी पीढी प्रपितामह ह और सप्तऋषि तासरी पीढी पितामह ह तथा पितर पिता ह आर सारी सृष्टि पुत्र ह । ऊपर जसा कहा गया है पितर दवता आर असुरों क बाच की स्थिति ह । इन्द्र तत्त्व ज्यातिरूप हैं भृगु तत्त्व साम रूप ह वरुण तत्त्व आप ह । इन्द्र स देवता जुड ह जा प्रकाश रूप हैं । भृगु स पितर जुड हैं जा छाया रूप ह आर वरुण स असुर जुड हैं जा अन्धकार रूप ह । इसा दृष्टि स पितरों का कूप कहा गया है क्योंकि कूप म न तो पूरी तरह प्रकाश हाता है न पूरी तरह अन्धकार हाता है—*पितृदेवत्यो वै कूप खात* (शतपथ ३/६/१/१३) ।

ऋतु पितर

जा भी उत्पन्न करता है वह पितर है । सृष्टि में उत्पत्ति में ऋतुओं का गहरा हाथ है । इसलिय ऋतु भी पितर कहलाती है । हमने ऊपर सूर्य चन्द्र और अग्नि साम का उल्लेख किया ह । अग्नि और सोम सम्बन्ध ही यज्ञ है । यह यज्ञ सृष्टि में चल रहा है और उसी स ऋतुओं की उत्पत्ति हा रही है । ये ऋतुएँ सृष्टि का जन्म दती हैं ।

ऋतवो वा असृज्यन्त । ते सृष्टा नानैवासन् ।
तेऽब्रुवन् स वा इत्थ सन्त शक्ष्याम प्रजनयितुम् ।
रूपै समायामेति । त एकैकमृतु रूपै समायन्
तस्मादेकैकस्मिन् ऋता सर्वेषा ऋतूना रूपम्
—शतपथ ८/७/१/२ ३

अभिप्राय यह ह कि एक ऋतु में भी सब ऋतुएँ रहती हैं । वसन्त ग्रीष्म इत्यादि ऋतुओं का विभाजन कवल प्रधानता की दृष्टि स किया गया ह अन्यथा अग्नि आर साम का सामञ्जस्य प्रत्यक क्षण में हाता रहा ह । अग्नि का सम्बन्ध उष्ण ऋतु स है सोम का सम्बन्ध शीत ऋतु से है । उष्ण

हैं ऋतु पितर यम प्रधान हैं अश्रुमुख पितर अग्नि प्रधान हैं। इनमें प्रत्येक की ऊपर बताया गयी सात अवस्थाएँ होती हैं। अग्नि के भी तीन रूप हैं—पार्थिव आन्तरिक्ष्य तथा दिव्य। इन तीनों को क्रमश गायत्राग्नि नाक्षत्रिकाग्नि और सावित्राग्नि कहा जाता है। आन्तरिक्ष्य साम गन्धर्व है और पार्थिव दिक् साम है। इन तीन अग्नियों तथा तीन सोमों से सम्बद्ध तीन तीन पितर तीनों कोटियों में होकर १८ पितर हो जाते हैं। जहाँ तक यम का सम्बन्ध है उसकी तीन कोटियाँ नही बनती हैं। पृथ्वी का यम पवमान अन्तरिक्ष का यम पावक और दिव्य यम शुचि कहलाता है। इन तीनों से सम्बद्ध तीन पितर जुडकर ३१ पितर हो जाते हैं। सोम का स्थान परमेष्ठी है। यही प्रद्यौ कहलाता है। यही पितरों का अपना लोक है। जैसा कि यजुर्वेद में कहा है—*तृतीयाह प्रद्यौ यस्या पितर आसते*। पितर प्रजा के उत्पादक हैं।

त्रिगुणात्मक पितर

उत्पत्ति में तीन अनुबन्ध रहते हैं—इच्छा तप और श्रम जिनका सम्बन्ध मन प्राण और वाक् से है। मन का सम्बन्ध ज्ञानमूर्ति अव्यय से है। क्रिया का सम्बन्ध प्राणमूर्ति अक्षर से है और तप का सम्बन्ध अर्थमूर्ति क्षर से है। सोम प्रधान ज्ञानमूर्ति नान्दीमुख ज्ञान के अधिष्ठाता है। इन्ही से इच्छा जुडी है। वायुप्रधान क्रियामूर्ति ऋतु पितर तप से जुडे हैं। अग्निप्रधान अर्थमूर्ति प्रेत पितर श्रम से जुडे हैं। इस प्रकार तीनों पितर मिलकर सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं। इन तीनों में क्रमश तीन गुण मुख्य हैं—ज्ञानप्रधान नान्दीमुख पितरों में सत्व प्रधान है क्रिया प्रधान ऋतु पितरों में रजोगुण प्रधान है तथा अर्थ प्रधान प्रेत पितरों में तमोगुण प्रधान है। ये तीनों पितर तीन प्रकार की सृष्टियों का निर्माण करते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि नान्दीमुख पितर द्यौ लोक से जुडे हुए हैं तीनों पितरों के तीन देवता सहयोगी हैं—अत्रि के साथ सोम अङ्गिरा के साथ अग्नि और भृगु के साथ यम का सम्बन्ध होने पर क्रमश सोमसद् अग्निष्वात्त और वैभ्राज पितरों की उत्पत्ति होती है। नान्दीमुख पितर तीन हैं। ये तीन ऋषियों से तीन देवताओं का सम्बन्ध होने पर उत्पन्न होते हैं।

पार्वण पितरों में हविर्भुज पितरों का सम्बन्ध ग्रीष्म ऋतु से है आज्यपा पितरों का सम्बन्ध वर्षा ऋतु से है सोमपा पितरों का सम्बन्ध शीत ऋतु से है। ये चन्द्रमा के प्रकाश में रहते हैं सौर प्रकाश में नही रह सकते। इस प्रकार चार पार्वण पितर चार देवताओं चार ऋषियों और चार वर्णों से जुडे हैं। प्रेत पितर वे पितर हैं जिनका सम्बन्ध हमारे पूर्वजों से है।

इन प्रकार इस अधिकरण में हमने देवता शब्द का एक व्यापक अर्थ लेकर देव ऋषि पितर तथा छन्दों का तात्त्विक रूप बताया है अब अगले अधिकरण में वेदों का तात्त्विक रूप निरूपित होगा।

षष्ठ अध्याय

तत्त्ववेदाधिकरण

शास्त्रों में वेद से सृष्टि की उत्पत्ति का उल्लेख हुआ है। मनु का यह वचन इस सम्बन्ध में सबसे अधिक स्पष्ट है कि शब्द स्पर्श रूप रस तथा गन्ध वेद से ही उत्पन्न हुए—

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिर्गुणकर्मतः ॥ (मनुस्मृति १२ ९८)

दूसरी ओर ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति हुई ऐसा उपनिषदों में बारम्बार कहा गया है। उपनिषदों की इस घोषणा का आधार बनाकर ब्रह्मसूत्र ने कहा कि ब्रह्म का लक्षण है जिससे संसार की उत्पत्ति आदि होती है—*जन्माद्यस्य यतः* (ब्रह्मसूत्र १/१२)। वस्तुतः वेद और ब्रह्म शब्द पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इसीलिये जैमिनीयब्राह्मणोपनिषद् कहता है—*वेदो ब्रह्म* (जैमिनीय ब्राह्मणोपनिषद् ४.११ ४.३) ब्रह्मतत्त्व के पर्यायवाची के रूप में ही तैत्तिरीयब्राह्मण ने वेदों को अनन्त कहा है—*अनन्ता वै वेदाः* (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ १० ११ ३)। वेद नामक ग्रन्थ चार हैं ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद—*चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेद इति* (गोपथ ब्राह्मण १ २ १६)। इन चारों वेदों में तीन प्रकार के वचन हैं—ऋक् यजुः और साम। जो छन्दोबद्ध है वह ऋक् है जो संगीतबद्ध है वह साम है और शेष गद्य यजुः है। तैत्तिरीय संहिता कहती है ऋक् भी परिमित है साम भी परिमित है यजुः भी परिमित है केवल एक ब्रह्म ही ऐसा है जिसका कोई अन्त नहीं है—*परिमिता वा ऋचः परिमितानि सामानि यजूंष्यथैतस्यैवान्तो नास्ति यद्ब्रह्म* (तैत्तिरीय संहिता ७ ३ १ ४)। अभिप्राय स्पष्ट है कि प्रतिपादक वचन चाहे वे छन्दोबद्ध हैं चाहे संगीतबद्ध चाहे गद्यात्मक सीमित हैं किन्तु उनका प्रतिपाद्य ब्रह्म अपरिमित है।

वेद तथा ब्रह्म की सच्चिदानन्दात्मकता

ब्रह्म को हम सच्चिदानन्द मानते हैं। इधर सायणाचार्य ने वेद शब्द की व्युत्पत्ति देते समय तीन विद् धातुओं का उल्लेख किया है—एक विद् का अर्थ है—ज्ञान दूसरे का अर्थ है—सत्ता तीसरे का अर्थ है—लाभ। एक चौथा भी विद् धातु है जिसका अर्थ है—विचार। इस प्रकार वेद

का अर्थ है सत्ता ज्ञान और लाभ अथवा आनन्द। वेद भी ब्रह्म की तरह सच्चिदानन्द ही है। सायण कहते हैं—

विद् ज्ञाने विद् सत्तायाम् विद्लृ लाभे विद् विचारणे एतेभ्यो हलश्चेतिसूत्रेण करणाधिकरणयोर्घञ् प्रत्यये कृते वेदशब्द साध्यते। विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति_विचारयन्ति सर्वे मनुष्या सर्वा सत्या विद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदा

सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे।
विन्दते विन्दति प्राप्तौ श्यन्लुक् श्नम् शेष्वद क्रमात्।

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ २८)

इस प्रकार वेद भी सच्चिदानन्द रूप ही है जो कि ब्रह्म का स्वरूप है। अत वेद को यदि सृष्टि का मूल माना गया है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। शतपथ ब्राह्मण कहता है—*सत्य ब्रह्म*। तैत्तिरीय आरण्यक कहता है—*विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात्* तथा *आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्*। यह सच्चिदानन्द ब्रह्म ही समस्त सृष्टि का मूल है—*ब्रह्मण प्रजा प्रजायन्ते*।

वेद तत्त्व के प्रतिपादक ग्रन्थों को भी वेद कहते हैं इसलिए इन दोनों के बीच भेद करने के लिए हम प्रतिपाद्य वेद को तत्त्व वेद तथा प्रतिपादक वेद को शब्द वेद कहकर दोनों के बीच का भेद अभिव्यक्त कर सकते हैं।

त्रयी की सर्वव्यापकता

वेद से सृष्टि उत्पन्न ही नहीं हुई अपितु वेद समस्त पदार्थों में व्याप्त भी है। इस बात को समझने के लिए पदार्थ का स्वरूप जानना होगा। आपातत पदार्थ पिण्ड प्रतीत होता है किन्तु कोई भी पिण्ड निष्क्रिय नहीं है। उसमें निरन्तर क्रिया होती रहती है। इस क्रिया के अतिरिक्त पदार्थ की दृश्यमत्ता का एक क्षेत्र है जहाँ तक पदार्थ दिखाई देता है। एक सीमा के बाद पदार्थ का दिखाई देना बन्द हो जाता है। वह सीमा ही उस पदार्थ का महिमामण्डल कहलाता है।

(१) पिण्ड का निर्माण अग्नि के रूप में ऋग्वेद करता है (२) क्रिया का सञ्चालन वायु के रूप में यजुर्वेद करता है और (३) महिमामण्डल का वितान आदित्य के रूप में सामवेद करता है। *इस प्रकार ऋक् यजु साम की त्रयी विद्या में सारे पदार्थ स्थित हैं—त्रय्यामेव विद्यायां सर्वाणि भूतानि* (शतपथ ब्राह्मण १० ४ २ २१) शतपथ ब्राह्मण कहता है कि जो कुछ भी सत्य है वह त्रयी विद्या है—*यद्वत् तत्सत्य त्रयी सा विद्या* (शतपथ ब्राह्मण ९.५ १ १८)।

ऋक् से मूर्त्ति

मूर्तपिण्ड को आच्छादित करने वाला जो उसका आकार है वह आच्छादन के कारण छन्द कहलाता है। *क्योंकि मूर्ति का निर्माण ऋग्वेद करता है इसीलिए ऋग्वेद को छन्दोवेद भी कहते* हैं। यह पिण्ड की गति रूप यजु तथा विकास रूप साम का आधार है। अत वह उक्थ भी कहलाता है।

यजु से क्रिया

पदार्थ का सार उसमें होने वाली क्रिया ही है। आधुनिक विज्ञान भी इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि पदार्थ वस्तुत क्रिया प्रतिक्रिया की समष्टि है। पदार्थ में होने वाली यह क्रिया ही पदार्थ का सार है उसका रस है और यह क्रिया यजुर्वेद के कारण है—*सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्*। यजुर्वेद को रसवेद कहा गया है क्योंकि यह क्रिया ही वस्तु का रस अथवा सार है।

साम से तेज

जो हमें दिखायी देता है वह पदार्थ का पिण्ड नहीं अपितु पिण्ड से बाहर की तरफ फैलने वाला महिमामण्डल है जो पदार्थ की प्राणाग्नि से बनता है। यह महिमामण्डल सामवेद है। यह पदार्थ का ही विकास या वितान है इसीलिए सामवेद को वितानवेद भी कहते हैं। पिण्ड रूप ऋक् यदि प्रस्ताव है तो महिमामण्डल रूप साम निधन है। साम के दो भाग हैं—छन्दार्चिक तथा उत्तरार्चिक। पिण्ड में रहने वाला अग्नि छन्दार्चिक है महिमामण्डल में रहने वाला अग्नि उत्तरार्चिक है। साम का सामत्व यह है कि साम द्वारा पदार्थ का महण होता है—*साम्ना समानयन् तत् साम्न सामत्वम्* (तैत्तिरीय ब्राह्मण २ २ ८ ७) साम का आधार ऋक् है—*ऋचि साम गीयते* (शतपथ ब्राह्मण ८.१ ३ ३) अर्थात् पिण्ड ही उसके महिमामण्डल का आधार है। समस्त तेज सामरूप है—*सर्वं तेज सामरूप्य ह शश्वत्*।

ऋक् और साम मे यजु

अभी हमने कहा है कि यजुर्वेद रसवेद है। पिण्ड पदार्थ की एक सीमा है महिमामण्डल दूसरी सीमा है। इस सीमा के भीतर गतिरूप यजु के प्रस्तावित रहने के कारण यजुर्वेद रसवेद कहलाता है। इसलिए गतिशील यजु को ऋक् और साम के बीच प्रतिष्ठित बताया गया है—

अय वाव यजुर्योऽय पवते।
तदेतद्यजुर्ऋक्सामया प्रतिष्ठितम्॥ (शतपथ ब्राह्मण १० ३ ५ १)

क्योंकि पिण्ड और मण्डल दोनों सीमा से आच्छादित हैं अत वे दोनों छन्दोबद्ध हैं। इसलिये ऋक् तथा साम पद्यात्मक हैं। यजुर्वेद छन्द की सीमा से मुक्त है। अत वह गद्यात्मक है। पिण्ड तथा मण्डल दोनों स्थिर हैं। ये दोनों सीमा में बँधे हैं। इन दोनो के बीच यजु गतिमान् है। अमृत ऋक् साम से घिरा होने के कारण यजु भी दो अमृतों के बीच मरता नहीं—*तस्मान्मृत्युर्न म्रियते अमृते ह्यन्त* (शतपथ ब्राह्मण १० ५ १ ४)।

पदार्थ की ध्रुवता में परिवर्तनशीलता

अग्नि वायु आदित्य अथवा ऋक् यजु साम की समस्त सृष्टि जो आदित्य से नीचे नीचे है परिवर्तनशील है—*तद्यत् किञ्चार्वाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्*। (शतपथ ब्राह्मण १० ५ १ ४) । पदार्थ का यह परिवर्तनशीलता यजु की गति के कारण ही है। फिर भी पदार्थ में "स एवायम्" यह प्रत्यभिज्ञा ऋक् साम के कारण होती रहती है क्योंकि ये दोनों अटल हैं कोई

ऋक् साम यजु के बिना नहीं है और कोई यजु ऋक् साम के बिना नहीं है। यही पदार्थ की स्थिरता रूपी अमृतत्त्व में परिवर्तनशीलता रूपी मृत्यु का तथा परिवर्तनशीलता रूपी मृत्यु में स्थिरता रूपी अमृतत्व का संनिवेश है जो पदार्थ के पूर्ण स्वरूप को प्रकट करता है—*अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्* (शतपथ ब्राह्मण १० ५.२ ४) । इसी को अमृत और मृत्यु का एक दूसरे में सन्निवेश करना कहा गया है—*निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च*।

प्रजापति से तत्त्ववेद की उत्पत्ति

वेद की उत्पत्ति प्रजापति से बतायी गयी है। अग्नि वायु आदित्य ही संवत्सर प्रजापति हैं। अग्नि पिण्डभाव में आकर छन्द रूप में परिवर्तित होकर ऋग्वेद बनता है। वायु गतिभाव में आकर रस रूप में यजुर्वेद बन जाता है। आदित्य तेजोभाव में आकर वितान रूप में परिणत होकर सामवेद बन जाता है। इस प्रकार प्रजापति से वेद उत्पन्न होते हैं।

यह त्रयी पदार्थ के स्वरूप का निर्माण करने के कारण स्वयं भी प्रजापति बनी हुई है। प्रजापति एक सर्वव्यापक तत्त्व है—*यद् वै किञ्च प्राणि स प्रजापतिः*। इसलिए प्रजापतित्व विश्व के सभी पर्वों में भी है।

स्वयम्भूमण्डल में सत्यप्रजापति के रूप में

स्वयम्भू मण्डल में यह त्रयी प्रजापति नाभि महिमा और मूर्ति के रूप में प्रकट हुई है। नाभि मन है महिमा प्राण है मूर्ति वाक् है। जिस पदार्थ का भी अस्तित्व हम देखते हैं उसके अस्तित्व का कारण स्वयम्भू की यह त्रयी है जो प्रत्येक पिण्ड में वाक् के द्वारा उसके शरीर को बनाती है प्राण के द्वारा उसमें गति देती है और मन के द्वारा ज्ञान देती है। यह मन प्राण वाक् ही सब पदार्थों की आत्मा है—*स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः*। इन तीनों में शरीर का निर्माण करने वाली वाक् ऋक् है क्रिया करने वाला प्राण यजु है और ज्ञान कराने वाला मन साम है। मन केन्द्र में है प्राण महिमामण्डल में है और वाक् पिण्ड में। केन्द्र नभ्य प्रजापति मूर्ति उद्गीथ प्रजापति और महिमामण्डल सर्वप्रजापति है। वह त्रयी जड चेतन सब में है। यही सत्यप्रजापति है। इस सत्यप्रजापति के भी तीन रूप हैं। विश्वातीत रूप में वह मन प्रधान है विश्वात्मा रूप में वह प्राण प्रधान है तथा विश्व के रूप में वह वाक् प्रधान है। प्रजापति की नाभि अणोरणीयान् है। मूर्ति मध्यभाव है और महिमा महतोमहीयान् है। मन प्रजापति का केन्द्र है। यही नाभि है। यही अणोरणीयान् है। प्राण भाग महतोमहीयान् है क्योंकि यह महिमामण्डल है जिसके उदर में सब कुछ समाया है। वाग्भाग पिण्ड रूप है यही मध्यस्थ है। उस उद्गीथ प्रजापति कहते हैं। नाभि या मन ज्ञाता है मूर्ति या वाक् ज्ञेय है महिमा या प्राण ज्ञान है। इनमें केवल मूर्ति ही व्याकृत है। मन और प्राण दोनों अव्याकृत हैं। मूर्ति को उद्गीथप्रजापति कहते हैं। यह उद्गीथप्रजापति ही वेदवाङ्मय है। प्रत्येक पदार्थ के तीन भाग हैं—प्रज्ञा ज्ञाता है प्राण ज्ञान है और भूत ज्ञेय है। प्रत्येक मनुष्य में भी तीनों भाग रहते हैं। जहां इन्द्रियां नहीं हैं उसे ही हम जड कहते हैं। आत्मा ज्ञाता है। ज्ञान उस आत्मा की रश्मियां हैं ज्ञेय भाग प्रवर्ग्य है। आत्मा चित् है रश्मियां चेतना हैं प्रवर्ग्य अचित् है।

परमेष्ठीमण्डल मे यज्ञ प्रजापति के रूप मे त्रयी

इस त्रयी में ही रसाग्नि यजु अन्न का आहरण करता है जिसके कारण पदार्थ में परिवर्तन होता है अन्नाद में अन्न का आहरण ही यज्ञ कहलाता है। यह पदार्थ के बनाये रखने में भी सहायक है। इसलिए पदार्थ के स्वरूप का निर्माण करने वाले स्वयम्भूमण्डल के सत्यप्रजापति की त्रयी के समान यह परमेष्ठीमण्डल में यज्ञप्रजापति की दूसरी त्रयी है। इस त्रयी में मन प्राण तथा वाक् परस्पर मिल जाते हैं। उनका यह सङ्गतिकरण ही यज्ञ है जिसके कारण परमेष्ठीमण्डल में उन्हें यज्ञप्रजापति कहा जाता है।

विराट्-प्रजापति सूर्यमण्डल की त्रयी

एक तीसरी त्रयी सूर्य मण्डल की है जो सवत्सर का जन्म देकर प्रजा की सृष्टि करने के कारण विराट प्रजापति कहलाता है। यह सूर्य की त्रयी विराट प्रजापति है जो पुरुषसूक्त के *सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष* सहस्रपाद् वाले उस विराट को जन्म देती है जो अग्नि वायु आदित्य के रूप में वैश्वानर नाम से मैथुनी सृष्टि का कारण है। इसीलिए सूर्य का घर अवर सबकी आत्मा बताया गया है—*सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च*।

चतुर्विध प्रजापति की चतुर्विध माया

इन सत्य यज्ञ तथा विराट प्रजापति के अतिरिक्त एक अमृत प्रजापति है। सत्य प्रजापति एक पञ्चपर्वा विश्व का स्वामी है। ऐसे एस अनक विश्वों का स्वामी अमृत प्रजापति कहलाता है। अमृत प्रजापति की माया महामाया है सत्य प्रजापति की माया योगमाया है यज्ञ प्रजापति की माया योगनिद्रा है तथा विराट प्रजापति की माया गुणमाया है।

स्वयम्भू, परमेष्ठी और सूर्य में तो त्रयी व्याप्त है ही पृथ्वी और चन्द्र पर भी त्रयी का साम्राज्य है। इन पाँच पिण्डों में स्वयभू, सूर्य और पृथ्वी अग्निप्रधान है इनमें ऋक् यजु साम ये तीन अग्नि वेद हैं तथा परमेष्ठी और चन्द्र सामप्रधान है। उनमें अथर्व नाम का चौथा वेद सोमवेद है।

प्रत्येक अणु मे त्रयी

क्रमश त्रयी का विवेचन करते हुए त्रयी का यज्ञ से भी सम्बन्ध जान लेना चाहिये। यज्ञ से अपूर्व की उत्पत्ति होती है। इसलिए जहाँ प्रजा है वहाँ प्रजापति होना ही चाहिये। केन्द्र में स्थित वागग्नि ही यह प्रजापति है। यही जब पिण्ड और महिमामण्डल में वितत होता है तो देवता कहलाता है। ये देवता तीन भागों में बँटे हैं—अग्नि वायु और आदित्य। ये तीनों ऋक् यजु साम से जुड़े हैं होता अध्वर्यु उद्गाता स जुडे हैं और गार्हपत्य धिष्ण्य तथा आहवनीय अग्नि से जुड़े हैं—*ऋग्वेदाद्गार्हपत्यो यजुर्वेदाद्दक्षिणाग्नि सामवेदादाहवनीय* (षड्विंश ब्राह्मण ५/१/२)। इस प्रकार प्रजापति ही यज्ञ के रूप में वितत हो रहे हैं वे ही तीन अग्नि हैं वे ही तीन पुरोहित हैं।

प्रजापति वेद और यज्ञ के साथ चौथी आवश्यक वस्तु वेदी है जिस पर यज्ञ होता है। निस

यज्ञ की हम चर्चा कर रहे हैं वह अणु अणु में चल रहा है। इसलिए सारी पृथिवी ही वेदी है। एक एक पिण्ड में जो यज्ञ चल रहा है उसे विश्वदानि यज्ञ कहते हैं। इस विश्वदानि यज्ञ की ही वेदि पूरी पृथ्वी है—*(तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ ४७ १२)* ।

विराट यज्ञ पर प्रतिष्ठित है तथा यज्ञ सत्य पर प्रतिष्ठित है। शतपथब्राह्मण में त्रयी की इस सर्व व्यापकता का बहुत विस्तृत वर्णन है।

स्वयम्भू मे त्रयी

यदि वेद ब्रह्म का पर्याय है और सृष्टि का मूल है तो उसे सर्वव्यापक होना चाहिये। सृष्टि की प्रक्रिया में तीन कार्य महत्त्वपूर्ण हैं—काम तप और श्रम। त्रयी के साथ इन तीनों का पाँच बार मिश्रण होने पर सृष्टि के पाँचों पर्वों पर पाँच बार त्रयी का जन्म हुआ। पृथक् पृथक् पर्व की पृथक्-पृथक् त्रयी है। पाँचों पर्वों में क्रमश सर्वप्रथम स्वयम्भू की त्रयी को लें। शतपथ ब्राह्मण कहता है—

प्रजापति पुरुष ने कामना की मैं अनेक हो जाऊ। इसलिए मुझे सन्तति उत्पन्न करनी चाहिये। उसने श्रम किया तप किया तथा इस श्रम और तप से सर्वप्रथम ब्रह्म का सर्जन किया अर्थात् त्रयी विद्या को जन्म दिया। वही उसके लिए प्रतिष्ठा बन गई। इसीलिए कहा जाता है कि ब्रह्म सबकी प्रतिष्ठा है। जो स्वाध्याय करता है। वह प्रतिष्ठित होता है। ब्रह्म ही प्रतिष्ठा है। उस पर प्रतिष्ठित होकर उसने फिर तप किया। मूल पाठ इस प्रकार है—*सोऽयं पुरुष प्रजापतिरकामयत। भूयान्त्स्या प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत स श्रान्ततेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्या सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत्तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठेति तस्मादनूच्य प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठा ह्येषा यद् ब्रह्म तस्या प्रतिष्ठाया प्रतिष्ठितोऽतप्यत।* (शतपथ ब्राह्मण ६/१/१/८)

प्रथमत्रयी ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति

इसके अनन्तर त्रयीविद्या पर प्रतिष्ठित होकर तप के द्वारा प्रजापति ने आप की सृष्टि की जिस आप में वह त्रयीविद्या सहित प्रविष्ट हो गया। आप को वारि भी कहा जाता है क्योंकि उसने सबका सवरण कर रखा है। उसे आप इसलिए कहलाता है कि वह सर्वत्र व्याप्त है। आप में त्रयीविद्या सहित प्रजापति के प्रवेश का यह फल हुआ कि आप जो ऋत रूप था वह आण्ड रूप अर्थात् सत्यरूप में परिणत हो गया। ब्रह्म प्रवेश के कारण ही वह ब्रह्माण्ड कहलाया। इस आपोमय आण्ड में प्रतिष्ठित प्रजापति ने फिर त्रयी को जन्म दिया। अब तक जिस त्रयी को जन्म दिया था वह स्वयम्भू पर्व की त्रयी सबकी प्रतिष्ठा थी। अब जिस त्रयी का जन्म हुआ वह प्रथमज त्रयी कहलायी। इस त्रयी का सम्बन्ध सूर्य से है। मूल पाठ इस प्रकार है—

सोऽकामयत आभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेयेति सोऽनया त्रय्या विद्यया सहाप प्राविशतत आण्ड समवर्तत तदभ्यमृशदस्त्वित्यस्तु भूयोऽस्त्वित्येव तद्ब्रवीत्ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजम्। (शतपथ ब्राह्मण ६ १ १ १०)

इसी प्रथमज वेद की महिमा बताते हुए शतपथ ब्राह्मण कहता है कि वह प्रथमज वद बहुत बग यक्ष है। यह सत्य ब्रह्म है। जो इस सत्यब्रह्म को जान लेता है वह तीनों लोकों को जीत लता है—

सत्यमेव स यो हैवमेतन्महद्यक्ष प्रथमज वेद सत्य ब्रह्मेति
जयतीमाल्लोकाञ्जित । (शतपथ ब्राह्मण १४ ८.८.१)

तीन अग्निवेद

शतपथ ब्राह्मण में ही अन्यत्र अग्नि वायु और सूर्य से क्रमश ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद की उत्पत्ति का वर्णन है तथा इसी त्रयी विद्या से यज्ञ सम्पन्न करने का उल्लेख है। ये वद अग्नि के तीन रूप अग्नि वायु और आदित्य से उत्पन्न हुए तथा यज्ञ में उपयोगी हैं। इसलिए य अग्निमय पार्थिव यज्ञमात्रिक वेद हं। इनका वर्णन इस प्रकार है—

स इमानि त्रीणि ज्योतीष्यभितताप । तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा
अजायन्तानेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद सूर्यात्सामवेद ।
(शतपथ ब्राह्मण ११ ५ ८.३)

तदाटु यदृचा होत्र क्रियते यजुपाध्वर्यव साम्नोद्गीथोऽथ
केन ब्रह्मत्वमित्यनया त्रय्या विद्ययेति ह ब्रूयात् ।
(शतपथ ब्राह्मण ११ ५ ८.७)

ऊपर जिन तीन वेदों का हमनें उल्लख किया उनमें प्रथम स्वयभू वेद ब्रह्माग्नि रूप है जिस शास्त्र यस्य निश्वसित वेदा कहते हैं। सूर्य क वेद दवाग्नि वेद है जिसे सूर्य के सम्बन्ध के कारण गायत्री मात्रिक वद भी कहा जाता है। तीसरा पार्थिव वेद भूताग्नि से जुडा है जिसे यज्ञमात्रिकवेद भी कहा जाता है। शेप दो पर्व बचे—परमष्ठी और चन्द्रमा। इन दोनों में सोम तत्त्व मुख्य है अग्नि तत्त्व नहीं। जब हम त्रयी की बात करते हैं तो सोमवेद अथर्ववेद को सोम के अन्न हाने के कारण उस अन्नाद अग्नि में ही अन्तर्भूत मान लेत हैं। इससे पूर्व कि हम सोमवेद अथवा अथर्ववद का उल्लेख करें उचित होगा कि तीन अग्नि वेदों का सृष्टि में क्या योगदान है—इसकी चर्चा थोडे विस्तार से कर लें।

नामरूपकर्मात्मक जगत्

स्वयभू वद प्रतिष्ठा वेद है इसलिए ससार क प्रत्येक पदार्थ की प्रतिष्ठा स्वयम्भू वेद क कारण है। मन प्राण और वाक् ही पदार्थ की प्रतिष्ठा है यह प्रतिष्ठा या अस्तिभाव स्वयम्भू वेदत्रयी का फल है। ये मन प्राण वाक् अमृत भाग हैं। उनका मर्त्य भाग नाम रूप और कर्म है—*त्रय वा इद नाम रूप कर्म* । (शतपथ ब्राह्मण १४४४१) पदार्थ का नामरूप सार वदत्रयी का फल है। सूर्य इन्द्र के रूप में पदार्थों में शुक्ल कृष्ण पीत आदि वर्ण उत्पन्न करता है त्वष्टा के रूप में गोल त्रिकोण चौकोर इत्यादि आकार बनाता है और एन्द्री वाक् क रूप में नाम का निमाण करता है। एन्द्री वाक् वाक् का वह स्वरूप है जा बुद्धिपूर्वक घट पट आदि सार्थक शब्दों के रूप में प्रयुक्त

होता है। यही व्याकृत वाक् कहलाती है। इसी अर्थ में इन्द्र को व्याकरण का प्रथम कर्ता माना जाता है। इस व्याकृत वाक् के कारण ही नाम बनता है पशुओं की अव्याकृत निरर्थक वाक् पदार्थों का नामकरण नहीं कर सकती। इस प्रकार नाम और रूप दोनों का निर्माण सौर की वेदत्रयी कर रहा है।

पदार्थ का नामरूप के बाद तीसरा अंश कर्म है। कर्म का अर्थ है—आदान प्रदान। अग्नि और सोम का सम्बन्ध ही आदान प्रदान कर्म है। यही यज्ञ है इसलिए समस्त कर्म का आधार पार्थिव वेद है जिसे हमनें ऊपर यज्ञवेद भी कहा है—*एतया हि त्रय्या विद्यया यज्ञ तन्वते।* (शतपथ ब्राह्मण ७ ५ ३ २)

इस प्रकार पदार्थ का मन प्राण वाक् रूप प्रतिष्ठा का भाग स्वयम्भू त्रयी से नाम तथा रूप सौर त्रयी से और कर्म पार्थिव त्रयी से बन रहा है। इस वैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखकर ब्राह्मणग्रन्थ ने यह घोषणा की थी कि सार भूत त्रयी विद्या में है—*त्रय्या वाव विद्याया सर्वाणि भूतानि।* (शतपथ ब्राह्मण १० ४ २ २ २)

इनमें प्रतिष्ठा ब्रह्म है कर्म अन्न है क्योंकि (i) प्रतिष्ठा (ii) नाम और रूप तथा (iii) कर्म—ये तीनों ही त्रयी पर टिके हैं इसलिए मुण्डकोपनिषद् ने घोषणा की कि जिस प्रजापति का तप ज्ञान रूप है उसी से ब्रह्म अर्थात् प्रतिष्ठा नाम रूप और अन्न अर्थात् कर्म उत्पन्न होता है—

य सर्वज्ञ सर्ववित् यस्य ज्ञानमय तप।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्न च जायते॥
(मुण्डकोपनिषत् १ १)

सोमवेद अथर्ववेद

त्रयी का विवरण देने के बाद अब चौथे वेद सोमवेद (अथर्ववेद) का भी थोडा सा विवरण देना उचित होगा—तत्त्ववेद के स्वरूप को न जानने वाले लोगों ने बारम्बार त्रयी शब्द का प्रयोग देखकर एक कल्पना की कि ऋक् यजु और साम प्राचीन वेद हैं तथा अथर्ववेद का समावेश बहुत बाद में हुआ। वेद नामक ग्रन्थों के ऐतिहासिक पक्ष पर विचार करना यहाँ नितान्त अप्रासङ्गिक होगा। यहाँ हम तत्व वेद की चर्चा कर रहे हैं। हमें अत केवल इतना ही कहना प्रासङ्गिक है कि सोमवेद का सम्बन्ध परमेष्ठीलोक से है। परमेष्ठीलोक स्वयम्भूलोक के अनन्तर है। अत अथर्ववेद स्वायम्भुवीत्रयी का परवर्ती किन्तु सौरत्रयी तथा पार्थिवत्रयी का पूर्ववर्ती है।

अथर्वाङ्गिरसवेद मे ही त्रयी प्रतिष्ठित है

ऊपर हमनें प्रजापति के आप में प्रविष्ट होकर उस आण्डरूप प्रदान करने का उल्लेख किया है। गोपथ ब्राह्मण का कहना है कि यह आप दो तत्त्वों का समवाय है—भृगु और अङ्गिरा। इन दोनों तत्त्वों के बीच में भी एक त्रयी स्थित है—

आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरस श्रिता॥

गोपथ ब्राह्मण ने इस वेद को भूयिष्ठब्रह्म कहा है— *एतद् वै भूयिष्ठ ब्रह्म यद् भृग्वङ्गिरस* (गोपथ ब्राह्मण १ ३ ४) भृगु और अङ्गिरा तेज और स्नेह हैं। भृगु स्नेह है और अङ्गिरा तेज। भृगु अङ्गिरा कहें या स्नेह तेज कहें या शुष्क आर्द्र कहें अथवा साम अग्नि कहें बात एक ही है—

द्वय वा इद न तृतीयमस्ति आर्द्रञ्चैव शुष्कञ्च यच्छुष्क तदाग्नेय यदार्द्र तत्सौम्यम्। (शतपथ ब्राह्मण १ ६ ३ २३)

इन्हें सूर्य, चन्द्र अहोरात्र अथवा शुक्लपक्ष कृष्णपक्ष भी कहते हैं।

सूर्य एवाग्नेय चन्द्रमा सौम्योऽहरेवाग्नेय रात्रि सौम्या
य एवापूर्वतेऽर्द्धमास स आग्नेयो योऽपक्षीयते स सौम्य। (शतपथ ब्राह्मण, १/६/३/२४)

इस भृगु अङ्गिरा में स्थित वेद को भृग्वङ्गिरो वेद कहना उचित होगा। चन्द्रमा भी सोमप्रधान है। अत सोमवेद चन्द्रमा में प्रतिष्ठित है। इसीलिये अथर्ववेद को चन्द्रमा का वेद बताया गया है—

कालेऽयमथर्वा देव अथर्वणा चन्द्रमा दैवतम्
तदेव ज्योति सर्वाणि छन्दांसि आप स्थानम्। (गोपथ ब्राह्मण, १ २४)

इस प्रकार पाँचों ही पर्वों में त्रयी विद्यमान है और सबका अलग अलग रूप है।

तत्त्ववेद के आलोक मे शब्दवेद के अर्थ

हम ग्रन्थ रूप में उपलब्ध चार वेदों से सुपरिचित है। प्रश्न होता है कि तत्ववद क उपर्युक्त विवरण से शब्दवेद का क्या सम्बन्ध है। वस्तुस्थिति यह है कि तत्ववेद के स्वरूप को समझने क बाद वैदिक साहित्य को पढने की हमारी दृष्टि बदल जाती है। परिणाम यह होता है कि वेद मन्त्रों क अनक भाग नवीन अर्थ देने लगते हैं। उदाहरणत ऋग्वेद का यह मन्त्र देख—

यमग्नि मेध्यातिथि कण्व ईध ऋतादधि।
तस्य प्रेषो दीदियुस्तमिमा ऋचस्तमग्नि वर्धयामसि॥ (ऋग्वेद १ ३६ ११)

मन्त्र का चौथा पद कहता है कि ऋचाए उस अग्नि का प्रवृद्ध करती हैं। वेदतत्त्व को जाने बिना सामान्यत इस पङ्क्ति का यह अर्थ लगेगा कि जो ऋचाए यज्ञ में ऋत्विज बाल रहे हैं उन ऋचाओं से अग्नि प्रवृद्ध हो रही है। सायणाचार्य ने यही अर्थ किया भी है—*तमग्निमिमा अस्माभि प्रयुज्यमाना ऋचो वर्धयन्तीति शेष*। यदि हम ऋक्तत्त्व की ओर ध्यान दें तो इस पङ्क्ति का एक वैज्ञानिक अर्थ होता है कि ऋक् ही अग्नि का उक्थ है तथा ऋक् तत्त्व से ही *अग्नि प्रवृद्ध होता* है।

पुरुषसूक्त का यह मन्त्र भी वद तत्त्व के आलाक में नया ही अर्थ दगा—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ (ऋग्वद १०/९०/९)

स्पष्ट है कि किसी यज्ञ से कोई ग्रन्थ ता उत्पन्न हो नहीं सकते। पुरुष सूक्त में विराट पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन है। यह विराट पुरुष ही प्रजा सृष्टि का प्रवर्तन करता है। इसका सम्बन्ध

सौरमण्डल से है। अत सौरमण्डल में चलने वाले यज्ञ से जिस त्रयी की उत्पत्ति होती है यहाँ उसी का उल्लेख है।

ऋग्वेद के समान ही यजुर्वेद के ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनका अर्थ तत्त्ववेद के आलोक में ही ठीक समझा जा सकता है। उदाहरणत एक मन्त्र ने—*ऋच वाच प्रपद्ये मनो यजु प्रपद्ये साम प्राण प्रपद्य।* (यजुर्वेद ३६ १) मन्त्र का शब्दार्थ स्पष्ट है—मैं ऋग्रूप वाक् का आश्रय लेता हूँ, यजुरूप मन की शरण में जाता हूँ, प्राणरूप साम का सहारा लेता हूँ। दूसरी ओर हम यह देख चुके हैं कि शतपथ ब्राह्मण वाक् प्राण मन को आत्मा कह चुका है। त्रयी से विश्व की उत्पत्ति होती है—यह पहले कहा जा चुका है। आत्मा से भी सृष्टि की उत्पत्ति उपनिषदों में कही गई है—*आत्मन सकाशादाकाश सम्भूत इत्यादि।* अत आत्मा और त्रयी के बीच तादात्म्य सम्बन्ध होना चाहिए। वही तादात्म्य सम्बन्ध इस मन्त्र में बताया गया है। इस मन्त्र का मर्म तभी समझा जा सकता है जब हम तत्त्ववेद के स्वरूप से परिचित हों। यदि ऋक् यजु साम को कोई तत्त्व न मानें और मन्त्रों का समूह मानें तो इस बात की कोई सङ्गति ही नही बनेगी कि ऋक् को तो हम वाणी कहें और यजु और साम को वाणी न कह कर मन और प्राण कहें। ग्रन्थ रूप में तो ऋक् यजु साम तीनों ही वाणी हैं।

यजुर्वेद का ही एक दूसरा मन्त्र लें—*प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टया नाम।* (यजुर्वेद १८ ४३) मन्त्र का शब्दार्थ है—विश्वकर्मा प्रजापति है मन गन्धर्व है। ऋक् और साम इस गन्धर्व को बल देने वाली एष्टय नाम की अप्सरा है। यजुर्वेद के उपर्युक्त मन्त्र को ध्यान में रखें तो यहाँ ऋक् और साम का अर्थ वाक् और प्राण लेने पर यह होगा कि वाक् और प्राण मन रूपी गन्धर्व की इच्छाए पूरी करते हैं। यदि वाक् और प्राण सहयोग न कर तो मन की इच्छा पूरी नही हो सकती। यदि यहाँ ऋक् और साम का अर्थ ग्रन्थविशेष लें तो यह मन्त्र बहुत ही साधारण सा प्रतीत होगा।

ब्राह्मणो मे तत्त्वो की व्याख्या का आधार तत्त्ववेद

अथर्ववेद का एक मन्त्र है—

> *सामाहमस्मि ऋक् त्व द्यौरह पृथिवी त्वम्।*
> *ताविह सम्भवाव प्रजामाजनयावहै॥* (अथर्ववेद १४ २ ७१)

यहा विवाह के समय वर वधू को कह रहा है कि मैं साम हूँ तुम ऋक् हो मैं द्यौ हू, तुम पृथ्वी हो। यदि यहा साम और ऋक् का अर्थ तत्त्ववेद न लिया जाय तो यह मन्त्र भी अस्पष्ट ही रह जायेगा। मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है—पुरुष परिवार का महिमामण्डल बनता है, स्त्री आधार बनती है। दोनों का समन्वय ही दाम्पत्य की परिपूर्णता है। ऐतरेय ब्राह्मण में इस अश को बहुत रोचक ढग से बताया गया है—

> "सा ऋक् का नाम है अम् साम का नाम है। ऋक् ने साम से कहा—आओ हम दोनों मिलकर सन्तान उत्पन्न करें। साम ने कहा—मेरी महिमा बहुत अधिक है मैं

तुम्हारे साथ नही मिलूगा। तब दो ऋक् मिलकर आयी और साम से वही बात कही। साम तब भी नही माना। अन्त मे तीन ऋचाए मिलकर आयी और उन्होंने वही बात दोहराई तो साम ने यह माना कि तीन ऋचायें मिलकर मेरे बराबर हो गई हैं। इसलिए उसने उनसे सम्बन्ध करना स्वीकार कर लिया क्योंकि तीन ऋचाओं से ही उद्गाता सामगान करते हैं—*"ऋक् च वा इदमग्रे साम चास्ताम्। सैव नाम ऋगासीत्, अमो नाम साम। सा वा ऋक् सामोपावदन मिथुन सम्भवाव प्रजात्या" इति। नेत्यब्रवीत् साम। ज्यायान् वा अतो मम महिमा इति। ते द्वे भूत्वापावदताम्। तेन प्रतिवचन समवदत्। तास्तिस्रो भूत्वोपावदन्। तत्तिसृभि सम्भवत्। यत् तिसृभि सम्भवत्, तस्मात् तिसृभि स्तुवन्ति तिसृभिरुद्गायन्ति। तिसृभिर्हि साम सम्मितम्।* (एतरेय ब्राह्मण १२/१२/२३)

यह सन्दर्भ इस बात का सूचक है कि ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्र भाग की वैज्ञानिक व्याख्या कर रहे थे। ऋक् व्यास है साम परिधि। परिधि व्यास की लगभग तिगुनी होती हैं इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थ कहता है कि एक साम तीन ऋचाओं के बराबर है। परिधि का निर्माण व्यास से ही होता है। अत साम में ऋक् भी शामिल ही है।

वस्तुत ब्राह्मण ग्रन्थ ऋक् और यजु की तात्त्विक व्याख्या स भरे हुए ही हैं। उपनिषद् भी तत्त्ववेद की विस्तृत चर्चा करते हैं। उदाहरणत ऊपर दिए गए यजुर्वेद के मन्त्र— *ऋच वाच प्रपद्ये मनो यजु प्रपद्ये साम प्राण प्रपद्ये* की व्याख्या करते हुए छान्दोग्यापनिषद् कहता है कि वाक् ही ऋक् है। प्राण साम है। ऋक् पर साम आधारित है। वाक् का नाम सा" है। प्राण का नाम अम् है—

अथाध्यात्म वागेव ऋक् प्राण साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ साम
तस्मादृच्यध्यूढ साम गीयते वागेव "सा" प्राणोऽम तत् नाम। (छान्दोग्योपनिषद् १ ७ १)

पुराणो मे तत्त्ववेद

उपनिषद् ही नही पुराण भी त्रयी विद्या के सन्दर्भ में ब्राह्मणों की अवधारणा को ज्यों का त्यों दोहरा रहे हैं। उदाहरणत तैत्तिरीय ब्राह्मण कहता है—

ऋग्भि पूर्वाह्णे दिवि देव इयते यजुर्वेदे तिष्ठति मध्येऽ ह्न।
सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशेषैस्त्रिभिरेति सूर्य्य॥ (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ १२)

इसी बात को मार्कण्डेय पुराण इस प्रकार कहता है—

ऋचस्तपन्ति पूर्वाह्णे मध्याह्ने च यजूंषि वं।
सामानि चापराह्णे तु तपन्ति मुनिसत्तम॥
(मार्कण्डेय पुराण)

दोनों सन्दर्भों का एक ही अर्थ ह पूर्वाह्न में ऋक् है मध्याह्न में यजु है तथा अपराह्न में साम है। इतना ही नहीं मार्कण्डेय पुराण त्रयी तत्त्व को हमार लिए अधिक परिचित भाषा में खोलते हुए

कहता है कि ऋक् रजोगुण है जो जन्म देता है यजु सत्वगुण है जो स्थिति बनता है और साम तमोगुण है जो प्रलय करता है। इसलिए ऋक् ब्रह्मा है। यजु विष्णु है। साम रुद्र है—

ऋचो रजोगुण सत्व यजुषा च गुणो मुने।
तमोगुणानि सामानि तम सत्वमथर्वसु ॥ (मार्कण्डेय पुराण)

सृष्टो ऋड्मयो ब्रह्मा स्थितौ विष्णुर्यजुर्मय।
रुद्र साममयोऽन्ते च तस्मातस्याशुचिर्ध्वनि ॥ (मार्कण्डेय पुराण)

स्पष्ट है कि मन्त्र भाग में प्रतिपादित विचारधारा ब्राह्मण उपनिषद् और पुराणों तक अविच्छिन्न चली आई है, इसीलिए वेदव्यास ने यह घोषणा की कि वेद के अर्थ का इतिहास और पुराण की सहायता से विशद कर लेना चाहिए। अल्पश्रुत व्यक्ति से वेद डरता है क्योंकि वह सोचता है कि यह मुझे चोट पहुँचायगा—*इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।* (महाभारत) ।

दिक्, देश, काल में त्रयी

अब तक हम वेदों को ब्रह्मा विष्णु और शिव के रूप में मन प्राण और वाक् के रूप में सत्, चित् और आनन्द के रूप में आरम्भ मध्य और अवसान के रूप में व्यास केन्द्र और परिधि के रूप में देख चुके हैं। अब विषयप्रवेश में उद्धृत तैत्तिरीय ब्राह्मण के चार मन्त्रों के आधार पर त्रयी का दिग् देश और काल में भी विस्तार देख सकते हैं।

दिग् के क्षेत्र में पूर्व दिशा को ऋक् की दिशा कहा गया है। जिस प्रकार ऋक् पदार्थ का उक्थ है उसी प्रकार पूर्व दिशा दिशाओं के मूल में है। प्राची में सूर्य का उदय होता है इसलिए इसे ऐन्द्री दिशा कहा गया है। यजुर्वेद का सम्बन्ध दक्षिण दिशा से है। दक्षिण दिशा अग्नि की दिशा है। दक्षिणीगोलार्ध में इसीलिए अधिक गर्मी रहती है। यजुर्वेद भी अग्नि के रूप में ही (पदार्थ के सार रूप में) रसवेद बनता है। उत्तर दिशा शीतल है सोममयी है उसका सम्बन्ध सामवेद से है। पश्चिम दिशा जल प्रधान वारुणी दिशा है सहज ही उसका सम्बन्ध भोग प्रधान अथर्ववेद से जुड़ जाता है।

दिग् भातिसिद्ध है किन्तु देश सत्तासिद्ध है। सत्तासिद्ध पदार्थ ही पिण्ड कहलाता है। पिण्ड का उक्थ ऋग्वेद है जिससे मूर्त पदार्थ उत्पन्न होता है। उस पदार्थ में होने वाली गति यजु से बनती है जो वायु गति स्थिति पर टिका हुई होने से केवल यत् न होकर यत् + जू है अर्थात् गति और स्थिति दोनों उसमें हैं। पदार्थ का महिमामण्डल सामवेद है क्योंकि वह आदित्यरूप है और तीनों की समष्टि अथर्ववेद है क्योंकि अथर्ववेद के साम पर ही ऋक् यजु साम की अग्नि टिकी हुई है।

काल में पूर्वाह्न भूतकाल का वाचक है वह उक्थ है आरम्भ बिन्दु है। मध्याह्न वर्तमान काल है। वह यजुर्वेद है। अपराह्न भविष्यत् काल है। वह सामवेद है।

वर्णों मे त्रयी

इसी प्रकार समस्त दिग्, देश और काल तो त्रयी स उत्पन्न हुए ही हैं समस्त वर्ण भी त्रयी से उत्पन्न हुए हैं। अर्थ की उपासना करने वाला वैश्य अग्नि वेद ऋग्वेद से जुडा है क्योंकि अग्नि ही पदार्थ को जन्म दती है। क्रिया की उपासना करने वाला क्षत्रिय क्रिया के सूचक वायु के यजुर्वेद से जुडा है और ज्ञान की उपासना करने वाला ब्राह्मण ज्ञान के प्रतीक आदित्य के वेद साम वेद से जुडा है।

स्पष्ट है कि इस प्रकार ब्रह्म का ही अपर पर्याय त्रयी ब्रह्म ही समस्त विश्व में व्याप्त है। वेदान्त को सर्वं ब्रह्ममय जगत् के स्थान पर हम सर्वं वेदमय जगत् भी कह सकते हैं। इसीलिए तो मनु ने कहा था कि सारे नाम और कर्म वेद से ही उत्पन्न हुए, सभी सस्थाए वद से बनी—

सर्वेषा तु स नामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् सस्थाश्च निर्म्ममे॥ (मनुस्मृति १/२१)

त्रयी का विस्तार

त्रयी की इस सर्वव्यापकता का ओर छार पाना कठिन है। आनन्द विज्ञान मन प्राण और वाक् ये अव्ययपुरुष की पाँच कलाए हैं। उससे अक्षर पुरुष की क्रमश पाँच कलाए ब्रह्मा विष्णु इन्द्र सोम और अग्नि जुडी हैं। इस अक्षर स ही सारा क्षर प्रपञ्च उत्पन्न होता है। इनमें आनन्द ब्रह्मा यजुर्वेद है विज्ञान विष्णु और मन इन्द्र सामवद है प्राण साम तथा वाक् अग्नि ऋग्वेद है। प्रकृति में आकर मर्त्य ब्रह्मा प्राण मर्त्य विष्णु आप मर्त्य इन्द्र वाक् मर्त्य सोम अन्न तथा मर्त्य अग्नि अन्नाद है। प्राण ऋषि है। प्राण आप और वाक् की समष्टि पितृ प्राणगर्भित देवता है तथा अन्न अन्नाद की समष्टि भूत है। इनमें ऋषि यजुर्वेद से पितृगर्भित देव सामवेद से तथा भूत ऋग्वेद से जुडा है। ऋषि ज्ञान के अधिष्ठाता है। पितृगर्भित देव क्रिया के अधिष्ठाता है भूत अर्थ के अधिष्ठाता हैं।

वेद, विद्या तथा ब्रह्म

वेद विद्या और ब्रह्म तीनों समानार्थक हैं। विज्ञान का वृत्ति के साथ सम्बन्ध हान पर ज्ञान विषयावच्छिन्न हो जाता है। इस विषयावच्छिन्न ज्ञान को ब्रह्म कहते हैं। अर्थात् विषयाकाराकारित अन्त करणवृत्ति ब्रह्म है। यही ज्ञान शब्दावच्छिन्न होने पर वेद कहलाता है अर्थात् शब्दाकाराकारित अन्त करण वृत्ति वेद है। शब्द और अर्थ क द्वारा यही ज्ञान जब सस्कारावच्छिन्न होता है तो विद्या कहलाता है। इसलिए त्रय ब्रह्म "त्रयोवेदा तथा त्रयी विद्या कहा जाता है। ब्रह्म अर्थ सृष्टि का मूल है विद्या स सस्कारसृष्टि का उदय होता है। इनमें विषय सस्कार उक्थ है। जब तक उक्थ है तभी तक अर्क है। अर्क अशाति है—*अशातिर्भिर्हि महदुक्थमाप्यायते।* इनमें विषयावच्छिन्न ज्ञान ब्रह्म है। वही प्रतिष्ठा है। इसकी तीन कलाए हैं—नाम रूप कर्म। नाम प्रपञ्च वाङमय ऋग्वेद है रूप प्रपञ्च मनोमय यजुर्वेद है कर्म प्रपञ्च प्राणमय सामवेद है।

शब्दावच्छिन्न ज्ञान वेद है। यह ज्योतिष तत्त्व है। यही साम तत्त्व है। संस्कारावच्छिन्न ज्ञान विद्या है यह यजुर्वेद है। प्रतिष्ठा ऋग्वेद है। इस प्रकार प्रतिष्ठात्मक सत्ता में नाम रूप और कर्म वाक् मन और प्राण से जुड़ कर प्रतिष्ठा ज्योति आत्मा क्रमशः ऋक् साम यजु बनते हैं। ज्योतिर्लक्षणचिन्मयवेद में पद्यात्मक ऋग्वेद प्रतिष्ठा है गानात्मक सामवेद ज्योति है गद्यात्मक यजुर्वेद आत्मा है। विद्या के क्षेत्र में शब्दावच्छिन्न संस्कार ऋग्वेद है कर्मजनित संस्कार सामवेद है ज्ञानजनित संस्कार यजुर्वेद है।

संसार की प्रत्येक वस्तु में तीन पर्व हैं—उक्थ पृष्ठ और ब्रह्म। उक्थ के लिए पारिभाषिक शब्द प्रस्ताव है इसका अर्थ है—आरम्भ। आरम्भ वस्तु का हृदय है यही उक्थ है। यह अग्नि तत्त्व है इसे ऋचा कहा जाता है। वस्तु का अवसान निधन है। निधन का अभिप्राय मृत्यु नहीं है अपितु वस्तु का अन्तिम आवरण है। इसे ही छन्द या वयोनाध कहते हैं। यही पृष्ठ है यही साम है। ऋक् यदि वस्तु का हृदय अथवा केन्द्र है तो साम उसकी परिधि है। इसलिए ऋक् पर ही साम प्रतिष्ठित है—*ऋच्यध्यूढ सामगीयते*। उक्थ और पृष्ठ के मध्य में ब्रह्म है जो सत्ता सिद्ध है जबकि उक्थ और पृष्ठ भातिसिद्ध है। यह ब्रह्म ही यजु है। छः भाव विकारों को लें तो जन्म ऋग्वेद है नाश सामवेद है मध्य के चार भाव विकार यजुर्वेद हैं।

तालिका के रूप में त्रयी विद्या का उपर्युक्त विस्तार का महत्त्वपूर्ण अंश इस प्रकार अङ्कित किया जा सकता है—

वेद	ऋक्	यजुः	साम
ब्रह्म	सत्	चित्	आनन्द
पिण्ड	मूर्ति	गति	तेज
वर्ण	वैश्य	क्षात्रम	ब्राह्मण
काल	प्रातः	मध्याह्न	सायंकाल
शरीर	स्थूल	सूक्ष्म	कारण
आत्मा	वाक्	प्राण	मन
व्यष्टि	वैश्वानर	तैजस	प्राज्ञ
समष्टि	विराट	हिरण्यगर्भ	सर्वज्ञ
पुरुष	क्षर	अक्षर	अव्यय

सूर्य में त्रयी

शतपथ ब्राह्मण में सूर्य में तीनों वेदों का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है कि जो सूर्यमण्डल है जिसे उक्थ कहा जाता है वह ऋक् है। जो किरणें हैं वे साम हैं उन्हें महाव्रत भी कहा जाता है और सूर्यमण्डल की अग्नि यजु है। इस प्रकार सूर्य में त्रयी को साक्षात् देखा जा सकता है—

यदेतन्मण्डल तपति तन्महदुक्थ ता ऋच । स ऋचा
लोको अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतम् । तानि सामानि ।
स साम्ना लोको ऽथ य एप एतस्मिन् मण्डले पुरुष सोऽग्नि
तानि यजूँषि । सैषा त्रय्यैव विद्या तपति । (शतपथ ब्राह्मण १ ३ ५ ३)

उक्थ का अर्थ है जहाँ से पदाथ का उद्भव होता है । पिण्ड ही उक्थ है क्योंकि उसके बिना न गति है न महिमामण्डल ।

व्रत का अर्थ है समापन । साममण्डल पर पदार्थ समाप्त हो जाता है इसलिए साम को व्रत कहा गया है ।

पञ्चपवो मे त्रयी

वेद से सृष्टि की उत्पत्ति की प्रक्रिया का थोडा सा सङ्केत हमनें विषयप्रवेश में कामप्र यज्ञ क सन्दर्भ में दिया है—त्रयी विद्या के महत्त्व की दृष्टि से इस प्रसङ्ग का भी थोडा विस्तार से जान लेना उपयोगी होगा । स्वयम्भू प्रजापति में ऋषि प्राण मुख्य है । यहाँ वद ब्रह्म नि श्वसित कहलाता है । यहा वेद ब्रह्माग्नि है वह स्वयम्भू है कही से उत्पन्न नही हुआ । जब इसमें एक से अनेक होने की कामना उत्पन्न हुई ता उस कामना ने इसे श्रमशील और तपस्वी बना दिया । उसी स इसमें त्रयी विद्या उत्पन्न हुई । यहाँ त्रयी सबकी प्रतिष्ठा है । स्वयम्भू के इस ब्रह्मनि श्वसित प्राणात्मक वेद से अप तत्त्व प्रधान तथा पितृ प्राण प्रधान परमेष्ठी उत्पन्न हुआ । स्वयम्भू का वेद ब्रह्म कहलाया परमेष्ठी का वेद सुब्रह्म । जैसे शरीर में अग्नि स्वेद उत्पन्न करती है वैसे ही स्वयम्भू के अग्नि तत्त्व से परमेष्ठी का अप् तत्त्व उत्पन्न हुआ इसीलिए परमेष्ठी के अप् तत्व को स्वेद कहा गया और वहा का वेद सुवेद कहलाया । आप प्रधान होने के कारण यह ब्रह्मस्वेद सत्य न होकर ऋत् था किन्तु परमेष्ठी का अग्नि तत्त्व उसमें प्रविष्ट हो गया । इसलिए वह भी सत्य कह दिया गया । इस अग्नि के प्रवेश से ही आप अण्ड रूप में परिणत हो गया—*तद्यत् तत्सत्यम् आप एव तदापो हि वै सत्यम् स त्रय्या विद्यया सहाप प्राविशत् । तत आण्ड समवर्तत ।* (शतपथ ब्राह्मण ६ १ १ ७) । अग्नि क ससर्ग स ऋत का सत्य में बदल जाना ही आण्डभाव है । पानी की बूँद इसी सत्य भाव के कारण सदा गोल बनती है । एक ओर आप अग्नि से उत्पन्न हो रहा है दूसरी ओर वह सूर्य को जन्म देने के कारण अग्नि का पिता भी है । यह सौर्य अग्नि ही देवाग्नि है । यहाँ देव प्राण प्रधान है और इसका वेद गायत्री मात्रिक है । चन्द्रमा का वेद भी सुब्रह्म है सोमवेद है । अन्तर इतना है कि परमेष्ठी का देवता पवमान सोम है चन्द्रमा का देवता वृत्र सोम है । इसके अनन्तर पुन अग्निवेद पृथ्वी का यज्ञ मात्रिक वेद आता है ।

इस प्रकार विश्व क पाँचों पर्वो में पाँचों वेदों का देव तथा प्राण की दृष्टि से निम्न रूप होगा—

वद	लाक	दव	प्राण
ब्रह्मनि श्वसित	स्वयम्भू	ब्रह्माग्नि	ऋषि

ब्रह्मस्वद	परमेष्ठी	पवमानसोम	पितृ
गायत्रीमात्रिक	सूर्य	देवाग्नि	दव
सुब्रह्म	चन्द्र	वृत्रसाम	पशु
भूतवेद	पृथ्वी	भूताग्नि	भूत

विश्व के पाँच पर्वो मे प्रत्येक के तीन तीन मनोता

पाँचों पर्वों से जुडे इन पाँचों वेदों के अपने अपने मनोता अर्थात् मन प्राण और वाक् हैं। ये मन प्राण वाक् ही आत्मा है। ब्रह्माग्निदेवताक स्वयम्भू वद का वाक् वेद है प्राण सूत्र है मन नियति है। वेद से प्रजा की सृष्टि होती है। सूत्र मात्रा निर्धारित करता है और नियति स्वभाव या प्रकृति निर्धारित करती है। इसक प्राण ऋषि हैं। ऋषितत्त्व का विवेचन देवनाधिकरण में पृथक् से किया गया है। साम देवताकपरमष्ठी लोक के ब्रह्मस्वेद नामक सोम वेद के तीन मनोता हैं—इरा ठर्क और गौ जो क्रमश वाक् प्राण और मन है। देवाग्नि देवताक सूर्य के गायत्री मातृक वद के वाक् प्राण मन क्रमश ज्योति गौ और आयु है। यहाँ के प्राण देव हैं इनका वर्णन देवताधिकरण में है। वृत्रसाम देवता चन्द्रलोक क अथर्ववेद के वाक् प्राण और मन क्रमश रेत यज्ञ और श्रद्धा है। भूताग्नि देवताक पृथ्वी लोक के यज्ञ मात्रिक वेद के वाक् प्राण और मन—ऋक् साम और यजु है। इस प्रकार पाँच पर्व के पाँच वेदों के तीन तीन मनोता है। *छान्दोग्योपनिषद्* इन्ही मनोताओं के य पाँच पर्वों के तीन तीन मनाताओं के लिए कहा गया है *यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि* (छान्दाग्य उपनिषद् २/२/३)। प्रकृति के सदा पाँच तत्त्व हाते हैं। आत्मा का सम्बन्ध तीन से है। पाँच लाक पाँच चन्द्र कलाओं से जुडे हैं—स्वयम्भू प्राण से परमेष्ठी आप से सूर्य वाक् से चन्द्र अन्न स तथा पृथ्वी अन्नाद से। ये ही पाँच पर्व क्रमश पाँच भूतों से ही जुडे हैं—स्वयम्भू आकाश से परमेष्ठी जल स सूर्य अग्नि से चन्द्रमा वायु से और पृथ्वी पृथ्वी से।

ऊपर दिये गये तत्त्ववेद के स्वरूप को हमनें शास्त्रीय सन्दर्भों के आधार पर व्याख्यायित किया है। इससे यह बात भली भाँति स्पष्ट हो गयी है कि वेदतत्त्व समस्त सृष्टि के निर्माण की प्रक्रिया में ओत प्रोत है। इसमें ऋक् यजुष् साम की त्रयी तथा अथर्वा का अपना अपना योगदान देते हैं। अब सिंहावलाकन की दृष्टि से प्रथम त्रयी के समष्टि रूप को और पुन ऋक् यजु आर साम के पृथक् पृथक् स्वरूप को एकत्र दे दिया जाता है ताकि तत्त्ववेद का स्वरूप और अधिक स्पष्ट हो सके। क्योंकि यद्यपि यह विषय सरल नहीं तथापि विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त सारगर्भित है। इसीलिये इसका विस्तार किया जा रहा है।

त्रयी के अनेक आयाम

ऋक् यजु और साम तीनों परस्पर जुडे हुए हैं। तीनों को एक दूसरे के साथ जोडकर ठीक से समझा जा सकता है। ऋक् वेद का सम्बन्ध अग्नि से है किन्तु अग्नि में वायु और आदित्य भी समाहित हैं। इसलिए ऋक् में दूसरे भा तत्त्व हैं। नभ्य प्रजापित ऋग्वद है महिमा प्रजापति सामवेद है और उद्गीथ यजुर्वेद है। ऋक् आत्मप्रतिष्ठ है साम परप्रतिष्ठ है यजुर्वेद भूतप्रतिष्ठ है। ऋग्वेद

प्रतिष्ठा वद है यजुर्वेद आत्मवेद है सामवेद ज्योतिर्वेद है। ऋग्वेद आत्मधृति है। यजुर्वेद असताधृति है सामवेद सतोधृति है यजुर्वेद असताधृति है सामवेद सताधृति है। यह ऋक् की दृष्टि से है। यजु की दृष्टि मे ऋग्वेद उक्थ है यजुर्वेद ब्रह्म है सामवेद साम है। साम की दृष्टि से ऋग्वद ज्ञान ज्योति है यजुर्वेद भूत ज्याति है साम वेद सत्य ज्योति है। मन से युक्त होने पर साम वद आनन्द है यजुर्वेद प्राण है ऋग्वेद वाक् है। ऋग्वेद विष्कम्भ है यजुर्वेद हृदय है साम परिणाह। ऋग्वेद महदुक्थ है यजुर्वेद पुरुष है सामवद महाव्रत है।

ऊपर हमनें तीन प्रकार की धृति बताई है। इनमें आत्मधृति का अर्थ है पदार्थ का होना असतोधृति का अर्थ है अपूर्व की उत्पत्ति और सतोधृति का अर्थ है एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ पर टिकना। इसी प्रकार तीन ज्योतियों में सूर्य चन्द्र तारक विद्युत् और अग्नि य भूत ज्योति हैं। नाम रूप सत्यज्योति है और निर्विषयक तथा सविषयक ज्ञान ज्योति है। ज्ञान ज्योति होने पर भी भूत ज्याति तभी तक काम करती है जब तक उसे भूत ज्योति का अन्न मिलता रहता है।

भूत ज्योतियों में सूर्य मुख्य है। सूर्य के अभाव में चन्द्र चन्द्र क अभाव में अग्नि अग्नि के अभाव में भी शब्द का सहारा लेत हैं। किन्तु यदि शब्द भी नहीं हो तो आत्मा का सहारा लेत हैं। अत आत्मज्योति ही सब ज्योतियों का आधार है—*तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्*।

अब तक हमनें त्रयी को समष्टि रूप में कहा व्यष्टि रूप में भी त्रयी को बता देना उचित होगा। सर्वप्रथम ऋक् का लें। ऋक् पिण्ड का निर्माण करता है इसलिए प्रजापति है। ऋक् प्रजापति ने क्योंकि सञ्चय करके शरीर की रचना की इसलिए उसका नाम ऋच हो गया—

अथेमानि प्रजापतिर्ऋक्पदानि शरीराणि सञ्चित्याभ्यर्चत।
यदभ्यर्चत ता एवर्चोऽभवत्। (जैमिनीय ब्राह्मण १ १५ ६)

पिण्ड का निर्माण जो अग्नि करता है वह गार्हपत्य अग्नि कहलाता है। इसलिए कहा गया है कि ऋग्वेद से गार्हपत्य उत्पन्न हुआ—*ऋग्वेदाद्गार्हपत्योऽजायत*। (षड्विंश ब्राह्मण ४ ४) । वस्तुत समस्त लोक पिण्ड रूप ही है इसलिए वे ऋक् ही हैं। *ऋक्सम्मिता वा इमे लोका*। (कौषीतकि ब्राह्मण ११ १) अध्यात्म में ठोस अस्थि ऋक् का प्रतिनिधि है—*अस्थि वा ऋक्* (शतपथ ब्राह्मण ७ ५ २ २५) ।

मूर्त पिण्ड का जन्म ऋक् से होता है—*ऋग्भ्यो जाता सर्वशो मूर्तिमाहु*। (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ १२ ८ १) मूर्त पिण्ड ही पदार्थ का आकार है। वैदिक भाषा में इस तत्व को छन्द कहते हैं। छन्द का अर्थ है आच्छादित करने वाला—*छन्दांसि छन्दयतीति वा*। (दैवत ब्राह्मण ३ १९) ।

छन्दों को अग्नि का वस्त्र बताया गया है—*छन्दांसि अग्नेर्वासांसि*। (मैत्रायणी संहिता ३ १ ५) छन्दों को अग्नि का वस्त्र बताने का कारण यह है कि पिण्ड का निर्माण जिस ऋक्तत्त्व से होता है वह ऋक्तत्त्व अग्नि से उत्पन्न हुआ है—*अग्नेर्ऋग्वेद* (शतपथ ब्राह्मण ११ ५ ८ ३) इसलिए ऋग्वेद में कहा गया है कि ऋक् अग्नि को बनाती हैं—*ऋचस्त्वमग्निं वर्धयामसि*। (ऋग्वेद ८ ३६ ११) ऋक् का सम्बन्ध अग्नि से है और अग्नि का सम्बन्ध वाक् से है—*वाग्वाग्नि ऋचामग्नि*

दैवतम् (यजुर्वेद ३६ ११) इस बात की पुष्टि छान्दोग्य उपनिषद् भी करता है। *वागेव ऋक्* (छान्दोग्योपनिषत् १ १९) वाक् का अर्थ शब्द है। शब्द आकाश का गुण है और आकाश पञ्चभूतों में प्रथम है इसलिए वाक् उपलक्षण से पञ्चभूतों को बताती है। किसी भी पिण्ड का निर्माण पञ्चभूत से ही होता है अत यह कहना उचित ही होगा कि वाक् ही पिण्ड का निर्माण करती है। वाक् ही सब भूतों का परस्पर जोडने के कारण सर्वव्यापिनी बनी हुई है—*सन्दधति वाचा सर्वाणि भूतान्ययो वागेवेद सर्वमिति*। (एतरेयारण्यक ३ १ ६) ऋग्वेद स वाक् सूक्त में वाक् की सर्वव्यापकता का विस्तार से विवरण है। क्योंकि वाक् का सम्बन्ध ऋग्वेद से है इसलिए ऋग्वेद से जुडे हुए होता और शस्त्र मन्त्र का सम्बन्ध भी वाक् से ही जोडा गया है—*वागेव होता*। (गोपथ ब्राह्मण १ २ १०) *वाग्घि शस्त्रम्* (एतरेय ब्राह्मण ३ ४४)। जैमिनीय ब्राह्मण में स्पष्ट कह दिया गया कि वाक् ही ऋक् है—*वागेवर्क्* (जैमिनीय ब्राह्मण २ ३९)। पिण्ड ही पिण्ड में होने वाली क्रिया तथा पिण्ड के महिमामण्डल का आधार है। इसलिए ऋक् रूप वाक् को एतरेय ब्राह्मण में योनि कहा गया है—*वाग्योनि*। (ऐतरेय ब्राह्मण, २ ३२) तीनों लोकों में मूर्ति भूपिण्ड का सम्बन्ध ऋग्वेद है—*अय लोक ऋग्वेद* (षड्विंश ब्राह्मण १ ५) जैमिनीय ब्राह्मण भी कहता है भू ही ऋग्वेद है—*भूरित्येव ऋग्वेद*। (जैमिनीय ब्राह्मण १ ३५७) शतपथ ब्राह्मण में वाक् का ऋग्वेद के साथ सम्बन्ध बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—*वागेवर्ग्वेद*। (जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण १४.४ ३ १२)।

हमने ऊपर ऋक् से मूर्त पदार्थ की उत्पत्ति की बात की है। मूर्त का अर्थ है—वस्तु का आयाम विस्तार उत्सेध और घनता। ऊपर जो हमने वेद को सच्चिदानन्द रूप बताया है उसमें ऋग्वेद सत् रूप है।

पिण्डनिर्माण की प्रक्रिया

पिण्ड में तेज और स्नेह दोनों हैं। तेज विकास है स्नेह सङ्कोच है। विकास को प्राण और सङ्कोच को रयि कहते हैं। प्राणाग्नि रयि को ग्रहण करती है। जब सोम अग्नि को मूर्च्छित कर देता है तो पिण्ड का निर्माण होता है। स्नेह मूर्च्छा उत्पन्न करता है इसीलिए भोजन के बाद शरीर की अग्नि मूर्च्छित हो जाती है। पिण्ड वाक् है इसलिए उसे प्रतिष्ठा कहा जाता है। ये ही सतोधृति है। मनोमया वाक् प्रतिष्ठा आत्मधृति है। प्राणमया वाक् प्रतिष्ठा असतोधृति है। मूर्ति नाम रूप और कर्म की समष्टि है। मनोमयी वाक् रूप है प्राणमयी वाक् कर्म है। वाङमयी वाक् नाम है। ऋग्वेद नभ्य प्रजापति है। यही उक्थ है बिन्दुओं का सञ्चय है। इसके कारण वस्तु में आयाम विस्तार उत्सेध और घनता बनते हैं। इन चारों का नाम मूर्ति है। व्यास ही परिधि बनता है। ऋक् ही *साम बनता है। वस्तु का पिण्ड प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता साममण्डल दिखाई देता है।* ऋक् और साम दोनों छन्द होने के कारण वयोनाध कहलाते हैं—*छन्दांसि वै देवा वयोनाधा। छन्दांसि हीद सर्वं वयुन नद्धम्* यजुर्वेद है। वयोनाध तथा वय मिल कर वयुन कहलाते हैं। ऋक् और साम दोनों छन्द हैं। ऋक् चित्याग्नि का छन्द है साम प्राणाग्नि का छन्द है। केन्द्र से लेकर परिधि तक उत्तरोत्तर ऋग्वेद का विष्कम्भ छोटा होता रहता है। बिना पिण्ड के न महिमामण्डल है न गति है न साम है न यजु है। ऋग्वेद ज्ञानज्योति है।

यजुर्वेद

दूसरी ओर यजुर्वेद आत्मवेद है। वह असतोधृति है। भूत ज्याति है प्राण रूप है। वही वस्तु के स्वरूप का निर्माण करता है। ऋक् और साम भातिसिद्ध हैं। यजु ही सत्तासिद्ध है वह हृदय है। हृदय को बिन्दु समझना चाहिए।

बिन्दु का कोई आयाम नहीं होता। इसलिए उसे अनिरुक्त कहा जाता है। प्रजापति हृदय है—*प्रजापतिर्य हृदयम्* (शतपथ ब्राह्मण १४८४१) *अनिरुक्तो वै प्रजापति* (शतपथ ब्राह्मण १११११३) । हृदय कारण है वस्तु कार्य है। हृदय अन्तर्यामी है वह पदार्थ का अन्दर से नियन्त्रण करता है हृदय अणोरणीयान् है मण्डल महतोमहीयान् है। यह हृदयप्रजापति ही गर्भ में विचरण करने वाला कहलाता है—*प्रजापतिश्चरति गर्भे* इसीलिए पुरुष को गर्भ कहा गया है—*पुरुष उ गर्भ* (जैमिनीय ब्राह्मण ३/३६/३) । विष्कम्भ और परिणाह दोनों हृदय का विस्तार है। हृदय की समष्टि वस्तु पिण्ड है। यजु अनेक है। रम स्थिति है गति बल है यजु दोनों का समन्वय है। इसलिए इसे मन कह सकते हैं। यजु का विस्तार विष्कम्भ है विष्कम्भ का विस्तार परिधि है। प्रजापति विष्कम्भ और परिणाह को जन्म देकर स्वयं विलीन हो जाता है इसलिए इसे अनिरुक्त कहते हैं। उद्गीथ निरुक्तानिरुक्त है सर्वनिरुक्त प्रजापति है। नभ्य नाभि बिन्दु है उद्गीथ मूर्ति पृष्ठ है और सर्वबहिपृष्ठ है। तीनों वेदों में अग्नि है। पिण्ड में रहने वाला अग्नि यजुर्वेद है ऊर्ध्वगमन करने वाला अग्नि ऋग्वेद है तथा आगमन करने वाला अग्नि सामवेद है। यजुर्वेद के मन्त्र ग्रह कहलाते हैं। जहाँ ऋग्वेद का विष्कम्भ उत्तरोत्तर छोटा होता है और साम वेद का मण्डल बढता है वहाँ यजुर्वेद का केन्द्र न बढता है न घटता है। यजुर्वेद विज्ञान रूप है जो सत्ता को आनन्द से जोडता है। यही पुरुष है। यजु गति है। गति यजन है। यजन से ही अपूर्व की उत्पत्ति होती है। इसलिए यजु को असतोधृति कहा जाता है।

यजु से क्रिया

पदार्थ के पिण्ड में होने वाली क्रिया का सञ्चालन वायु प्राण करता है और इस वायु प्राण से ही उत्पन्न होने के कारण यजुर्वेद क्रिया का वेद है—*यजुर्वेदो वायो* (जैमिनीय ब्राह्मण १ ३५७) वस्तुत यजु शब्द दो शब्दों से बना है यत् और जु—*यच्च जूश्च तस्माद्यजु*। (शतपथ ब्राह्मण १० ३५२) यजु वायु है गति है जू आकाश है स्थिति है। गति क ब्रह्म है स्थिति ख ब्रह्म—*क ब्रह्म ख ब्रह्मेति। यद्वाव क तदेव खम्। प्राणञ्च हास्मै तदाकाशञ्चोचु* (छान्दोग्यापनिषद् ४१०) । गति और स्थिति दोनों परस्पर सापेक्ष है इसलिए दोनों साथ रहती हैं। यजु का गति के कारण ही पदार्थ जीर्ण होते हैं—*स एष एव यजु एष हीद सर्वं जरयति* (जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण १ ८११) ।

ऋक् यदि पिण्ड है और साम उसका महिमामण्डल है तो यजु उन दोनों का यजन अर्थात् मिलन करवाने वाला है—*यजुषा ह वै देवा अग्रे यज्ञ तेनिरे* (शतपथ ब्राह्मण ४६७१३) इसलिए ही कहा जाता है कि यजु में ऋक् और साम दोनों को अपने में समेट रखा है—*ऋक्सामे यजुरपीत* गति से सम्बद्ध होने के कारण यजु ही मन है—*अथ यन्मनो यजुष्टत् तथा मन एव यजु*। (जैमिनीय

ब्राह्मण २ ३९) इसलिए यजुर्वेद में मन और यजु का तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है—*मनो यजु प्रपद्ये*।(यजुर्वेद ३६ १) ऋक् पिण्ड का आकार है साम उसका महिमामण्डल है। ऋक् पिण्ड की सामा है साम महिमामण्डल की सीमा है किन्तु इन दोनों के बीच यजु ही प्रतिष्ठित है। पिण्ड और मण्डल दोनों सीमा हैं अत ऋक् और साम पद्यात्मक हैं। किन्तु यजु उन दोनों के बीच किसी छन्द में नहीं बँधता अत गद्यात्मक है। पिण्ड और मण्डल दोनों स्थिर हैं। उनके बीच यजु ही गतिमान् है। शतपथ ब्राह्मण कहता है कि ऋक् और साम अमृत हैं। इन दोनों के बीच रहने वाला मर्त्य होने पर भी यजु मरता नहीं—*तस्मान् मृत्युर्न म्रियते अमृते ह्यन्त*। (शतपथ ब्राह्मण १० ५ १ ४) पदार्थ की प्रत्यभिज्ञा स्थिर ऋक् और साम के कारण ही होती है। किन्तु उसमें परिवर्तनशीलता यजु के कारण आती है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ का स्थिर पक्ष भी है और परिवर्तनशील पक्ष भी है इसलिए प्रत्येक पदार्थ में ऋक् और साम रहते हैं और यजु भी रहता है। जहाँ परिवर्तनशीलता है वहाँ स्थिरता है। जहाँ स्थिरता है वहाँ परिवर्तनशीलता है—*अन्तर मृत्योरमृत_मृत्यावमृतमाहितम्*। (शतपथ ब्राह्मण १० ५ २ ४) यही अमृत और मृत्यु का एक दूसरे में सन्निवेश है—*निवेशयन्नमृत मर्त्यञ्च*। यजु ही पदार्थ को धारण करता है इसलिए यह उसका रस है आ वस्तुत निरुक्त होते हुए भी अनिरुक्त ही है—*तस्मात् यजूंषि निरुक्तानि सन्त्यनिरुक्तानि*(शतपथ ब्राह्मण ४.६ ७ १७) यदि अस्थि ऋक् है तो मज्जा यजु है—*मज्जा यजु*। (शतपथ ब्राह्मण २ १ ४ ५) ।

अधिदैवत में सूर्य के गति करने पर सबमें गति आ जाती है इसलिए सूर्य ही यजु है। दूसरी ओर अध्यात्म में प्राण के होने पर गति होती है इसलिए प्राण यजु है—*आदित्य एव चरण यदा ह्येव एप उदेत्यथेद सर्व चरति तदेतद् यजु स पुरश्चरणमधिदैवतमथाध्यात्म प्राण एव यजु प्राणो हि यन्नेवेद सर्व जनयति प्राण यन्तमिदमनु प्रजायते तस्मात्प्राण एव यजु* (शतपथ ब्राह्मण १० ३ ५ ३ ४) ।

सामवेद

सामवेद ज्योतिर्वेद है। इसे विज्ञान वेद भी कहते हैं। साममण्डल बनाता है यही बाह्य आकार है यही परिणाह है। साम को ऋचाओं का पति कहा जाता है—*साम वा ऋच पति*। ऋक् स्त्री है साम पुरुष है। साम में सा ऋक् है अम् साम है।

साम प्रजापति की वास्तविक विभूति है। मूर्ति सोमगर्भित अग्निपिण्ड है। यह स्पृश्य है और यहाँ अग्नि मूर्छित है। महिमा दृश्य है और यहाँ अग्नि मूर्छित नहीं है। मूर्ति पद है। महिमा पुन पदम है। महिमा ही साम है। साम ही सर्व प्रजापति है जो नभ्य प्रजापति यजु का विस्तार है। साम पर पदार्थ समाप्त हो जाता है इसलिए साम को निधन कहते हैं। ऋक् के समान साम भी वयोनाध है। ऋग्वेद के मन्त्र शस्त्र हैं यजुर्वेद के ग्रह है आर साम वेद के स्तोत्र। शस्त्र अग्नि से होता है ग्रह वायु से आर स्तोत्र आदित्य से। ८४ लाख योनिया प्रजापति ने शस्त्र कर्म द्वारा बनाई है। उनके मण्डल का निर्माण स्तोत्र कर्म के द्वारा हुआ है। ये ऋक् और साम दोनों वाक् हैं। इनमें प्राण का आधान अध्वर्यु ने किया और मन का आधान ब्रह्मा ने। प्राणगर्भित मन ही ग्रह है। ऋक् का धर्म सङ्कोच है साम का धर्म विकास है। साम सत्तावेद है साम को वृत्त भी कहा

जाता है क्योंकि वृत्त का अर्थ समापन है और साममण्डल पर ही पदार्थ समाप्त होता है। साम वेद तेज का वेद है। यह सत्य ज्योति है।

साम के भेद

परिधि साम है परिधि विष्कम्भ से त्रिगुणित से कुछ अधिक होती है इसलिये साम ऋचा से तिगुना कहा जाता है—*त्यृच साम*। परिधि व्यास की अपेक्षा तिगुनी से कुछ अधिक इसलिये होती है कि वस्तु केवल पिण्ड ही नही है उसका मण्डल भी है जो पिण्ड से बडा होता है। साम प्रजापति की विभूति है। यजुरूप केन्द्र ही विष्कम्भरूप ऋक् में और परिणाह रूप साम में परिणत होता है और स्वय विलीन हो जाता है। यजु हृदय के तीन रूप हैं—नभ्य उद्गीथ और सर्व। नभ्य अनिरुक्त है उद्गीथ निरुक्तानिरुक्त है और सर्वनिरुक्त है। वस्तु के भी तीन ही रूप हो जाते हैं—नाभि बिन्दु मूर्तिपृष्ठ जो स्पर्श्य की सीमा है और बहिपृष्ठ जो दृश्य की सीमा है। साम के तीन रूप हैं—(१) रथन्तर साम वस्तु का वह मण्डल है जो वाक् अथवा अग्नि से जुड़ा होने के कारण हमें दृष्टिगोचर होता है। यह द्यौ से जुडा है। यह सूर्य की सीमा तक है। (२) शाक्वर साम दिङमण्डल है। (३) वैरूप साम आपो मण्डल है। यह गौ से जुडा है तथा पर्जन्य पर्यन्त है। जिस प्रकार पृथ्वी के तीन साम हैं उसी प्रकार सूर्य के तीन साम हैं—बृहत्साम वैराजसाम और रैवत साम। सूर्य के ये तीनों साम क्रमश ज्योति गौ और आयु से जुडे हैं। पृथ्वी और सूर्य के ये साम एक दूसरे का अतिक्रमण कर जाते हैं जिन्हें सामों का अतिमान कहते हैं। हमारे चक्षु का एक साम है पदार्थ का दूसरा साम है। इन दोनों के परस्पर जुडने पर हमें पदार्थ दिखाई देता है।

वेद का कहना है कि प्रत्येक पदार्थ का प्राण महिमा मण्डल होता है। जिस भी पदार्थ का महिमा मण्डल हमारे चक्षु के महिमा मण्डल से मिल जायेगा वह पदार्थ हमें दिखाई देगा। इसके लिये उस पदार्थ के प्रकाश को चल कर हम तक आने की आवश्यकता नही है। वेद के अनुसार जैसे ही कोई पिण्ड बनता है उसके साथ ही उसका महिमामण्डल भी बन जाता है। अत पिण्ड का प्रकाश हम तक गति करके आता है—ऐसा कहना ठीक नही है।

प्रसिद्धि है कि साम के सात रूप हैं—*सप्तविध सामोपासीत्*। पारावत पृष्ठ ३३ अहर्गण तक है। अयुग्म स्तोम को दृष्टि में रखें तो पारावृत पृष्ठ के भी छ खण्ड हो जायेंगे—९ १५ १७ २१ २७ और ३३। इनमें सातवा मूर्ति पिण्ड जुड जायेगा। मूर्तिपिण्ड को हिङ्कार कहते हैं ९ प्रस्ताव है १५ आदि १७ उद्गीथ २१ प्रतिहार २७ उपद्रव और ३३ निधन। ये ही साम के ७ प्रकार हैं। इन्हें शब्द के सहारे समझा जा सकता है—शब्द की व्युत्पत्ति से पहले अग्नि का नादनात्मक और वायु का प्रक्रमण हिङ्कार है। स्थान और करण के सयोग से मुख में उत्पन्न होने वाला शब्द प्रस्ताव है। मुख से निकल कर वाक् समुद्र में वीचि उत्पन्न करने वाला शब्द आदि है। दूसरे व्यक्ति के कर्ण कुहर तक पहुचने वाला शब्द उद्गीथ है। श्रवण का मन्द होना प्रतिहार है। श्रवणाश्रवण उपद्रव है और शब्द का उपराम निधन है।

सूर्य में इसी सप्तविध साम को घटायें तो अरुणोदय हिङ्कार है सगव प्रस्ताव है प्रात आदि है मध्याह उद्गीथ है मध्याह्नोत्तरकाल प्रतिहार है अपराह्न उपद्रव है सायकाल निधन है।

पूर्वपूर्व मण्डल ऋक्, उत्तरोत्तर मण्डल साम

पिण्ड का मण्डल एक के बाद दूसरा बनता है। उत्तर उत्तर के मण्डल की अपेक्षा पूर्व का मण्डल पिण्ड ही है। अत उसे ऋक् कह सकते हैं। दो मण्डलों के बीच जो वस्तु तत्त्व है वह यजुर्वेद है। इस प्रकार सामवेद में भी तीनों वेदों का अन्तर्भाव है। यजुर्वेद गतिरूप है। यह पदार्थ का केन्द्र भी है। पदार्थ का केन्द्र जैसे जैसे उत्तरोत्तर गति करता है वह न छोटा होता है और न बडा होता है। इसलिये यह बढते हुए एक ऋजु रेखा को ही बनाता है। यही यजुर्वेद है। जैसे जैसे हम आगे बढते हैं वस्तु का मण्डल वृद्धि को प्राप्त होता है। यही सामवेद है। वस्तु का मण्डल तो बढता है किन्तु आगे बढने के साथ वस्तु का विष्कम्भ छोटा होता जाता है। इसीलिए वस्तु दूर से छोटी दिखायी देती है। यह छोटा हुआ विष्कम्भ ही ऋग्वेद है। इस प्रकार यजुर्वेद में भी तीनों वेद समाहित हैं। पदार्थ की स्थिति को हम यूँ समझें कि यदि एक पदार्थ को उसके चारों ओर मण्डल बनाकर सौ लोग देख रहे हैं और वे पदार्थ से दस गज की दूरी पर हैं तथा उस मण्डल में सौ से अधिक लोग नही समा सकते तो वह मण्डल दस गज की दूरी पर बनने वाला पदार्थ का एक मण्डल हु ग तथा दस गज की दूरी पर बनने वाला पदार्थ का एक मण्डल हुआ तथा दस गज की दूरी से वह पदार्थ यदि पाँच गज का दिखायी देता है तो वह पदार्थ का विष्कम्भ हुआ। मान लें कि उस पदार्थ को एक साथ सौ की जगह पाँच हजार व्यक्ति एक साथ देखना चाहते हैं तो उसका एक ही उपाय है कि उस मण्डल को बडा कर दिया जाये और मण्डल को बडा करने का एक ही उपाय है कि मण्डल १० की दूरी पर न बनकर सौ गज की दूरी पर बने। हम पदार्थ से दूर गये तो मण्डल बढ गया, किन्तु जो पदार्थ १० गज की दूरी से पाँच गज का दिखायी देता था वही १०० गज की दूरी से १ गज का दिखायी देता है अर्थात् पदार्थ का विष्कम्भक छोटा न हो गया किन्तु पदार्थ का केन्द्र न छोटा हुआ न बडा। वह ऋजु रेखा में रहा।

साम से तेजोमण्डल की उत्पत्ति

पदार्थ का तीसरा पक्ष उसका प्रभाव क्षेत्र है इस प्रभाव क्षेत्र को महिमामण्डल का वितान भी कहते हैं। क्योंकि पदार्थ का वितान या विकास उसके प्रभाव क्षेत्र तक रहता है उसके बाद नही। यह महिमामण्डल ही सामतत्व है। यह कहा जा चुका है कि हमें जो दिखाई देता है वह पिण्ड नहीं अपितु पिण्ड का महिमामण्डल होता है। इस साम द्वारा ही पदार्थ का ग्रहण होता है। इस साम द्वारा ही पदार्थ का ग्रहण होता है इसलिए साम को साम कहते हैं—*साम्ना समानयन् तत्साम्न सामत्वम् एषा ह वै साम्न प्रतिष्ठा यन्निधनम्*। पदार्थ पिण्ड से लेकर महिमामण्डल तक रहता है इसलिए पिण्ड या ऋक् उसका प्रस्ताव है प्रारम्भ बिन्दु है महिमामण्डल या साम उसका निधन है अन्तिम बिन्दु है—*एषा ह वै साम्न प्रतिष्ठा यन्निधनम्*—जैमिनीय ब्राह्मण २ ४२० । साम के दो भाग है—छन्दार्चिक तथा उत्तरार्चिक। पिण्ड के अन्दर रहने वाली अग्नि छन्दार्चिक है पिण्ड के बाहर महिमामण्डल में रहने वाली अग्नि उत्तरार्चिक है। ये दोनों अर्चियाँ साम है—*अर्चि सामानि*—जैमिनीय ब्राह्मण १० ५ १ ५ पिण्ड का निर्माण वाक् से होता है साम का निर्माण प्राण से होता है—*तस्मात् प्राण एव साम*—जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण ३ १ १ १८। क्योंकि साम

तेजरूप है इसलिये जहां गोपथ प्राण का तेज बतला रहा है—*प्राणा एव मह*—गोपथ ब्राह्मण १ ५ १५ वहा जैमिनीय ब्राह्मण प्राण को साम बतला रहा है—*प्राणा एव साम*। (जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण) ।

शतपथ ब्राह्मण कहता है साम प्राण है और प्राण में ही समस्त भूत अन्तर्निहित है—*प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि*। (शतपथ ब्राह्मण १४ ८ १४ ३) ।

ऋग्वेद का दवता अग्नि है यजुर्वेद का वायु तो सामवेद का देवता आदित्य है—*सामवेद आदित्यात्* जमिनीय ब्राह्मण १ ३५७।

वैदिक परम्परा में किसी नियम के पालन की अवधि पूर्ण होना व्रत कहलाता है इसलिये व्रत शब्द अन्त का पर्यायवाची हो गया—*अन्तो महाव्रतम्*—ताण्ड्य ब्राह्मण ५ ६ १२। क्योंकि किसी पदार्थ का अन्तिम छोर उसके महिमामण्डल तक ही होता है इसलिये महिमामण्डल अथवा साम को महाव्रत कहा जाता है *सर्वाणि सामानि यन्महाव्रतम्*—जमिनीय ब्राह्मण २ ३०४।

आदित्य से जुडे होने के कारण साम तेजरूप है—*अर्चि सामानि*—शतपथ ब्राह्मण १० ५ १ ५। इसका सम्बन्ध देवलोक से है—*देवलोको वै साम* (तैत्तिरीय सहिता ७ ५ १ ५) पिण्ड में उसके महिमामण्डल से बढकर कुछ भी नही इसलिये साम को वृहत् कहा जाता है—*साम वृहत्*—जमिनीय ब्राह्मण १ १२८।

ऋक् छन्द रूप है साम गायन रूप है—*गायन्ति हि साम*। (शतपथ ब्राह्मण ४ ४ ५ ६) ऋक् ही सगीतबद्ध होने पर साम कहलाती है—*ऋचि साम गीयत* वही, ८ १ ३ ३ तथा *ऋगेव रथन्तर साम वृहत्*—जैमिनीय ब्राह्मण १ १३३। उसक वीर्य का जो भर्जन हुआ वह भृगु कहलाया तथा उसके सब अङ्गों से जो रस क्षरित हुआ वह अङ्गीरस कहलाया।

सगीत के कारण साम साम है सगीत क बिना साम ऋक् है।

साम के सगीत की बहुत प्रशसा है—*एतद्वै साम्नआयतन प्रिय धाम यत्स्वर*। जमिनीय ब्राह्मण १ ११२ साम शब्द को दो भागों में तोडा जाता है सा और अम्। सा ऋक् है अम् साम—गोपथ ब्राह्मण २ ३ २०—*सैव नामर्गासीत् अमो नाम साम*—गोपथ ब्राह्मण २ ३ २०।

इससे पूर्व कि इस सामवेद के बाद अथर्व पर आयें ऋक् यजु साम की त्रयी पर पृथक् विचार करने के अनन्तर एक सिंहावलोकन कर लेना उपयोगी होगा। उपर्युक्त विवरण स यह स्पष्ट है कि त्रयी का रूप निम्न बनता है—

	ऋक्	यजु	साम
दवता	अग्नि	वायु	आदित्य
लाक	भू	भुव	स्व
छन्द	गायत्री	त्रिष्टुप्	जगती
आत्मा	वाक्	मन	प्राण

पिण्ड	अर्थ	क्रिया	ज्ञान
अग्नि	गार्हपत्य	दक्षिणाग्नि	आहवनीयाग्नि
त्रिदेव	ब्रह्मा	विष्णु	रुद्र

मन या नाभि ज्ञाता है। मूर्ति या वाक् ज्ञेय है। महिमा या प्राण ज्ञान है। व्याकृत इन तीनों में केवल मूर्ति है। मन और प्राण दोनों अव्याकृत हैं। इन तीनों की त्रयी को अनेक प्रकार से समझा जा सकता है।

चित्	मन	आत्मा	विश्वातीत	नाभि	अणोरणीयान्	ज्ञाता	प्रज्ञा
चेतना	प्राण	इन्द्रियाँ	विश्वात्मा	महिमामण्डल	महतोमहीयान्	ज्ञान	प्राण
अचित्	वाक्	भूत	विश्व	मूर्ति	मध्यमपरिमाण	ज्ञेय	भूत

अथर्ववेद सोमवेद

अब तक हमनें तीन वेदों की चर्चा विस्तार से की क्योंकि हमारा सीधा सम्बन्ध तीन लोक और तीन देवताओं से ही है—भू भुव और स्व तथा उनके देवता क्रमशः हैं—अग्नि वायु और आदित्य। किन्तु शास्त्र कहता है कि चतुर्थ लोक भी है आपोलोक। इसकी व्याप्ति २१ अहर्गण से ३३ अहर्गण तक है। यहाँ सोम है। २१ अहर्गण तक अग्नि का साम्राज्य है। इसके अनन्तर सोम है जिसका सम्बन्ध अथर्ववेद से है।

हमारे सौरमण्डल में सोम का प्रतिनिधित्व चन्द्रमा करता है। इसलिये अथर्व का सम्बन्ध चन्द्रमा से भी बताया गया है। *ऋचामग्निर्दैवत पृथिवीस्थानम्। यजुषा वायुर्दैवतमन्तरिक्षस्थानम्। साम्नामादित्यदैवत द्यौ स्थानम्। अथर्वणा चन्द्रमा दैवतमाप स्थानम्।* (गोपथ ब्राह्मण) अग्नि भोक्ता है सोम भोग्य है। इस दृष्टि से सोम वेद (अथर्ववेद) त्रयी ऋक् यजु और साम का आधार बनता है। और त्रयी का वस्तु के स्वरूप निर्माण में जो योगदान ऊपर बताया गया है वह योगदान अथर्व के बिना सम्भव नहीं है। अत अथर्व को सब कुछ उत्पन्न करने वाला कहा गया है—*ब्रह्मणा ह वा इद सर्वम्।*

कामना करने पर प्राण तत्त्व उद्बुद्ध होता है। उससे जो आप रूप स्वेद होता है वही अथर्ववेद है। वही सुवेद भी है। हम कह चुके हैं कि यत् गतिरूप है जू स्थितिरूप। गति से तेज होता है स्थिति से स्नेह। तेज अङ्गिरा है स्नेह भृगु। अङ्गिरा की तीन अवस्थाए हैं—अग्नि यम आदित्य। भृगु की भी तीन अवस्थाए हैं—आप वायु सोम। अङ्गिरा की त्रयी से देव सृष्टि होती है। भृगु की त्रयी में आप से असुर सृष्टि वायु से गन्धर्व सृष्टि तथा सोम से पितर सृष्टि होती है। तीन भृगु और तीन अङ्गिरा मिलकर षडब्रह्म कहलाये। ब्रह्म निश्वसित लक्षण वेद तथा ब्रह्मस्वेदवेद में परस्पर दाम्पत्यभाव है। स्वयम्भू वेदाग्नि आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में गयी। इससे आपोमय समुद्र में अङ्गिरा नामक सायोगिक अग्नि उत्पन्न हुआ। आग्नेय परमाणु आपोमय समुद्र में वेग

से भ्रमण करने लगे। यही परमाणु केन्द्रित होकर सूर्य बन गये। सूर्य नारा अर्थात् आप को अपना आयतन बताने के कारण नारायण कहलाया।

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव।
ता यदस्यायन पूर्वं तेन नारायण स्मृत॥
(मनुस्मृति १/१०)

अङ्गिरा भाग के अग्नि वायु और आदित्य प्राणों से ऋक् यजु और साम उत्पन्न हुए। ये सौर वेद या अग्निवेद हैं। स्वयम्भू वेद भी अग्नि वेद है। वह ब्रह्माग्नि वेद है। सौर वेद देवाग्नि वेद है। स्वयम्भूवेद स्वय उत्पन्न होता है देववेद प्रथमज है।

सोऽकामयत। आभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेय इति।
सोऽनया त्रय्या विद्यया सहाप प्राविशत्। तत आण्ड समवर्तत।
ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत "त्रय्येव विद्या"। तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य
सर्वस्य प्रथमज इति। अपि हि तस्मात् पुरुषात् ब्रह्मैव पूर्वमसृज्यत।
तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत। मुख ह्येतदग्नेर्यद्ब्रह्म।"—शतपथ ब्राह्मण ६/१/१/१० ११।

अथर्ववेद सुवेद

ऊपर हमने कहा है कि अथर्ववेद का एक दूसरा नाम सुवेद भी है। सुवेद स्वेद का ही दूसरा नाम है। गोपथ ब्राह्मण करता है कि प्रजापति ने सृष्टि के लिये जो श्रम और तप किया इससे उसके ललाट पर जो पसीना आया वही आप है क्योंकि उस आप के द्वारा ही प्रजापति ने अपनी कामनाओं को प्राप्त किया—*तदपामाप्त्वम् आप्नोति ह वा सर्वान्कामान् यान् कामयते*—गोपथ ब्राह्मण १ १ २) । इसे ही आपोबल कहते हैं। उस स्वेद से दो अन्य बल भी हुए धारा बल और जाया बल। क्योंकि ब्रह्म ने सोचा कि मैं इस स्वेद के द्वारा सब कुछ धारण करूगा इसलिये वह धाराबल कहलाया क्योंकि ब्रह्म ने सोचा कि मैं इसके द्वारा उत्पन्न करूँगा इसलिये वह जाया बल कहलाया।

अग्नि वायु-आदित्य का क्षेत्र विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ

अग्नि वायु और आदित्य का अपना अपना क्षेत्र है। किसी पदार्थ का महिमामण्डल जहाँ तक जाता है उस स्थान को हम ४८ भागों में बाँट लेते हैं और प्रत्येक भाग का नाम अहर्गण रख लेते हैं। इस प्रकार किसी को चार मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है। (१) ९ अहर्गण तक पहला भाग है। (२) दूसरा भाग १५ अहर्गण तक है तथा (३) तीसरा भाग २१ अहर्गण तक है। ये तीनों भाग अग्नि के हैं इसलिये इन तीनों में अग्नि के ही तीन रूप अग्नि वायु और आदित्य क्रमश व्याप्त रहते हैं। २१वें अहर्गण पर सूर्य प्रतिष्ठित है और यहीं तक पृथ्वी का वह महिमामण्डल है जो दृष्टिगोचर होता है क्योंकि किसी पदार्थ के दिखने में अग्नि ही कारण है। (४) २१ वें अहर्गण से ३३ वें अहर्गण तक आप प्रतिष्ठित है। इसे विष्णुपृष्ठ कहते हैं। इस आप को अर्णवसमुद्र कहा जाता है। इसी की अपेक्षा पृथ्वी को सागराम्बर अर्थात् समुद्रों से घिरी हुई कहा जाता है।

२१ वें स्तोम तक पृथ्वी यज्ञिया उख्या पृथिवी कहलाती है। ९ अहर्गण ऋङ्मय अग्नि है। १५ तक यजुर्मय वायु है। २१ तक साममय आदित्य है और ३३ तक सोममय अथर्व है - जो भृगु तथा अङ्गिरस का समन्वित रूप है।

इस प्रकार वेद पूरे विश्व में व्याप्त है। अग्नि का सम्बन्ध पदार्थ से है। पदार्थ का निर्माण अग्नि ही करता है। समष्टि में पदार्थ को विराट् कहते हैं। इस विराट् में कर्म शक्ति है। यही ऋग्वेद का क्षेत्र है। १५ अहर्गण तक वायु है। इस क्षेत्र में हिरण्यगर्भ है। हिरण्यगर्भ कर्म और ज्ञान का समन्वित रूप है। १५ से २१ अहर्गण तक सर्वज्ञ है। वह ज्ञान रूप है और २१ से ३३ तक महद् ब्रह्म है। वह चित् शक्ति रूप है। ३३ से ४८ अहर्गण तक नाकपृष्ठ है जिसे ब्रह्मपृष्ठ भी कहा गया है। यह महिमा मण्डल की अन्तिम सीमा है।

अग्नि का सम्बन्ध ऋग्वेद से है—इस बात का ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में इङ्गित कर दिया गया है जहाँ अग्नि को सामने रखा हुआ बता कर उसकी पुरोहित के रूप में स्तुति है—*अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्, होतारं रत्नधातमम्*—ऋग्वेद १/१/१। पुरोहित का अर्थ है जो पुर = अर्थात् सामने हित = रखा हुआ है यह पार्थिव अग्नि है। यजुर्वेद का सम्बन्ध क्रिया से है। क्रिया का नियन्त्रण व्रतों से होता है इसलिये क्रिया के वेद यजुर्वेद को व्रतों का पति कहा गया है—*अग्नेर्व्रतपते व्रतं चरिष्यामि यच्छकेयम्*। सामवेद का सम्बन्ध आदित्य से है अतः सामवेद के प्रथम मन्त्र में दूरस्थ आदित्य अग्नि का आह्वान "*आयाहि*" कह कर किया गया है—*अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये निहोता सत्सि बर्हिषि*। अथर्ववेद का देवता सोम है सोम त्रिसप्तात्मक है। अतः अथर्ववेद के प्रारम्भ में त्रिषप्त का उल्लेख है—*ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा*।

ऋक् सत्, साम चित्, यजु आनन्द

हमनें प्रारम्भ में वेद को ब्रह्म की भाँति सच्चिदानन्द स्वरूप बताया है। सभी वेद सच्चिदानन्द हैं पर सभी वेदों में सत् चित्, आनन्द की एक सी मुख्यता नहीं है। यजुर्वेद में आनन्दरूप मुख्य है ऋग्वेद में सद् रूप मुख्य है और साम वेद में चिद् रूप मुख्य है।

यह समझ लेना चाहिये कि वेद की दृष्टि में कोई पदार्थ जड नहीं है। जिन्हें हम जड कहते हैं उनमें इन्द्रिया नहीं है। इसलिये उनकी चेतना प्रकट नही हो पाती किन्तु चेतना है उनमें भी—*खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसङ्ग्रहः। सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्*। अतः जड हो या चेतन सभी पदार्थों में अर्थ क्रिया और ज्ञान अथवा वाक् प्राण और मन तीनों हैं। इसी दृष्टि से वेदों में पत्थरों को सम्बोधित करके ऐसा कहा गया है कि हे पत्थरों सुनों। यह प्रमत्त प्रलाप नहीं है। पाषाण में भी चेतना है इसलिये उसे भी सम्बोधित किया जा सकता है। वाक् प्राण और मन के इस रूप को जान लेने के बाद हम यह समझ सकते हैं कि तीन वेदों में से सत्, चित् तथा आनन्द किस किस में क्यों मुख्य है। हमने कहा कि मूर्ति ऋक् से बनती है, स्पष्ट है कि ऋक् पदार्थ का स्वरूप है। इसे ही हम सत् कहते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि ऋक् का सम्बन्ध सत् से है। पदार्थ का प्रत्यक्ष हमें साममण्डल के कारण हो सकता है अतः साम ज्ञान का कारण है इसलिए साम को चित् कहा जायेगा। पदार्थ का अपना स्वरूप यजु है। उपलब्ध

पदार्थ ही होता है। अत लाभ का भाव यजु है। यही आनन्द है। इस प्रकार आनन्द यजु से सत् ऋक् से और चित् साम से जुडा है।

यजु आत्मवेद, ऋक् प्रतिष्ठावेद, साम ज्योतिर्वेद

यजुर्वेद पदार्थ का अपना स्वरूप है इसलिये उसमें आनन्द है। उसे आत्मवेद भी कह सकते हैं। ऋक् पिण्ड है। वह सबकी प्रतिष्ठा है। उसे प्रतिष्ठावेद कह सकते हैं। साम चित् है। चित् ज्योति है इसलिये उसे ज्योतिर्वेद कह सकते हैं।

तीनो वेदो का तीनो मे समावेश

तीनों वेदों का तीनों वेदों में समावेश है। कोई वेद अपने शुद्ध रूप में नही है। तीनों तीनों में समाविष्ट है। किसी भी वेद का नामकरण मुख्यता के आधार पर होता है। जहा जो तत्त्व प्रधान है उसे उसी नाम से जान लिया जाता है किन्तु शेष तत्त्व भी उसमें रहते अवश्यं हैं। इसे इस रूप में समझें कि वायु में वायु प्रधान है किन्तु अग्नि और आदित्य भी गौण रूप से हैं। अग्नि में अग्नि प्रधान है वायु और आदित्य गौण है। आदित्य में आदित्य प्रधान है वायु और अग्नि गौण है। यजुर्वेद में यजु तत्त्व प्रधान है। किन्तु उसमें ऋग्वेद और साम वेद भी है। ऋग्वेद को उक्थ और साम वेद को साम कहेंगे स्वय यजुर्वेद ब्रह्म कहलायेगा। इसी प्रकार जहा ऋग्वेद मुख्य होगा वहा प्रतिष्ठा के सन्दर्भ में हम ऋग्वेद को आत्मधृति वेद यजुर्वेद को असतोधृति वेद और साम वेद को सतोधृति वेद कहेंगे।

ऋक् आनन्द, साम सत्, यजु चित्

इसी बात को दूसरी तरह समझें। तैत्तिरीय उपनिषद् का कहना है कि सब कुछ आनन्द से ही उत्पन्न होता हैं आनन्द पर ही टिका है तथा आनन्द में ही लीन हो जाता है—*आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जीवन्ति आनन्द प्रयन्त्यभिसविशन्ति*। दूसरी ओर जहा से पदार्थ उत्पन्न होते हैं उसे उक्थ कहा जाता है। हर पदार्थ का अपना उक्थ है किन्तु जहा से सब पदार्थ उत्पन्न हो उसे महदुक्थ अथवा महोक्थ कहते हैं। आनन्द रूप जिस महोक्थ से सारा ससार उत्पन्न होता है वह ऋक् तत्त्व है। अत ऋक् तत्त्व को महोक्थ कहा जाता है।

जब तक कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं होता तब तक क्रिया बनी रहती है। पदार्थ के उत्पन्न होने पर क्रिया का अवसान हो जाता है। यह अवसान ही साम तत्त्व है। इस अवसान साम तत्त्व को महाव्रत कहा जाता है जो सत्ता का वाचक है। यही साम वेद है।

आनन्द रूप ऋग्वेद तथा सत्ता वेद सामवेद के मध्य में यजुर्वेद है जो विज्ञानरूप है तथा जो सत्ता की उपलब्धि कराकर आनन्द देने के कारण सत्ता को आनन्द से जोडने वाला है। इसे ही पुरुष अथवा यजु नाम से जाना जाता है। प्रत्येक पदार्थ का आनन्द भाग ऋक् तत्त्व है जो उक्थ है। विज्ञान भाग यजु है वह अर्क है तथा सत्ता भाग साम है। इस प्रकार वेद सच्चिदानन्द रूप है। आनन्द विज्ञान और सत्ता भी तीन भागों में बँटे हैं (१) एक प्रविविक्त विश्वातीत परमात्मा

जो अविज्ञेय है। उसका आनन्द विज्ञान और सत्ता नित्य है। (२) दूसरा प्रविष्ट विश्वेश्वर विश्वात्मा। उसका आनन्द, चेतना और सत्ता आत्मानन्द आत्म ज्ञान तथा आत्म सत्ता है और (३) तीसरा सृष्ट विश्व जिसका आनन्द सत्ता और ज्ञान विषयानन्द विषयसत्ता और विषयज्ञान कहलाता है। ये तीनों ही प्रकार के सच्चिदानन्द तीनों वेदों से जुडे हैं।

ऋग्वेद मे तीनो वेद

आत्मधृति का अर्थ है अस्ति अर्थात् पदार्थ का होना। यही ऋग्वेद है। असतोधृति का अर्थ है पदार्थ का निर्माण होना अर्थात् अपूर्व की उत्पत्ति यही यजुस्तत्त्व है। सतोधृति का अर्थ है एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का टिकना। यही साम तत्त्व है। क्योंकि साममण्डल पिण्ड अर्थात् ऋक् पर टिका रहता है अत ऋक् आत्मप्रतिष्ठा है साम पर प्रतिष्ठा है जिस प्रकार आत्म स्वप्रतिष्ठा है तथा शरीर परप्रतिष्ठा है। यजु गति है। गति ही यजन है और यजन से ही अपूर्व की उत्पत्ति होती है इसलिये यजु को असतोधृति कहा है। इस प्रकार ऋग्वेद में ही तीनों वेदों का समावेश है। इनमें ऋक् आभ्यन्तर आकार है साम बाह्यआकार। ये दोनों भातिसिद्ध हैं यजु ही सत्तासिद्ध है। अस्यवामीयसूक्त में जिसे अस्यन्वन्त तथा अनस्य कहा गया है उसे ही हम अस्तिसिद्ध तथा भातिसिद्ध कह रहे हैं। जो प्रतीति में आये किन्तु जिसकी बुद्धिगत ही सत्ता हो वह भातिसिद्ध है। जिसकी बुद्धि से बाहर वस्तुगत सत्ता भी हो वह अस्तिसिद्ध है। कणाद ने सामान्य विशेष जैसे धर्मों को बुद्धयपेक्ष कहा है—*सामान्यं विशेष इति बुद्धयपेक्षम्*—जबकि द्रव्य गुण कर्म को सत्ता शब्द से कहा है।

सामवेद मे तीनो वेद

सामवेद तेज का वेद है। यह ज्योति रूप है। इसमें स्वय साम सत्यज्योति है। यजुर्वेद भूतज्योति है। ऋग्वेद ज्ञानज्योति है। भूतज्योति (१) सूर्य (२) चन्द्र (३) तारक (४) विद्युत् और (५) अग्नि भेद से पाँच प्रकार की है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(कठोपनिषद् २ ५ १५)

सविषयक ज्ञान और निर्विषयक ज्ञान ज्ञानज्योति है। इन तीनों ज्योतियों का परस्पर सम्बन्ध है। जब तक ज्ञान है तभी तक भूतज्योति और सत्यज्योति दृष्टिगोचर होती हैं। इसी प्रकार ज्ञान ज्योति भूत ज्योति पर निर्भर है। भूत ज्योति का अन्न जब तक इसे मिलता है यह अपना काम करती है। भूत ज्योतियों में भी सूर्य मुख्य है। इसलिये सूर्य को चराचर की आत्मा बताया गया है। सूय ज्योति के अभाव में हमें चन्द्र ज्योति का सहारा लेना होता है। वह भी न हो तो अग्नि का सहारा लेते हैं। अग्नि के अभाव में शब्द का सहारा लेते हैं और शब्द भी न हो तो आत्मा का सहारा लेते हैं।

यजुर्वेद मे तीनो वेद

यजुर्वेद आत्मवेद है। आत्मा का अर्थ है उक्थ ब्रह्म और साम। उक्थ उद्‌भव है ब्रह्म स्थिति है। साम समानभाव से व्याप्त रहता है। कार्य कारण से उत्पन्न होता है। कार्य को धारण करता है और उसी में व्याप्त रहता है इसे ही आत्मा कहते हैं।

वाक् प्राण मन तथा त्रयी

वाक् नाम का उक्थ है वाक् पर ही नाम प्रतिष्ठित है तथा वाक् विभिन्न नामों में समान रूप से रहता है। इसी प्रकार चक्षु के तारा के अग्रभाग में रहने वाले रूप मन में उठते हैं उसी पर प्रतिष्ठित हैं तथा वही मन रूपों में व्याप्त है। इसी तरह प्राण कर्मो का उक्थ है उनकी आधार भूमि है और सभी कर्मों में वह व्याप्त रहता है।

वाक् मन प्राण को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि शरीर आधार है जिसमें क्रिया होती है क्रिया प्राण है किन्तु कोई क्रिया मन के आधार के बिना नहीं होती। इस दृष्टि से उसके तीन रूप हो जाते हैं—कामना क्रिया और शरीर। कामना मन है क्रिया प्राण है तथा शरीर वाक् है। ये तीनों मिलकर ही आत्मा है। जहाँ मन प्रधान है वह प्रजापति का विश्वातीत रूप है जहा प्राण प्रधान है वह विश्वात्मा रूप है और जहा विश्व प्रधान है वह वाक् रूप है। नाभि "अणोरणीयान् है महिमा "महतोमहीयान्" है। सबका उक्थ नभ्य प्रजापति है वही ऋग्वेद है। महिमा प्रजापति साम वेद है वह प्राण है। वाग् लक्षण उद्गीथ यजुर्वेद है। उक्थ रूप में इन्द्र विश्व आत्मा है अर्क रूप में विश्व उपादान है और अशीति रूप में विश्वमूर्ति है। अशीति क्षर प्रधान शुक्र है अर्क अक्षर प्रधान ब्रह्म है उक्थ प्रधान अमृत है। इनमें उक्थ पुरुष है अर्क प्रकृति है अशीति विकृति है। अव्यय ज्ञानघन है अक्षर क्रियामय है क्षर अर्थमय है। अव्यय विश्वालम्बन है अक्षर निमित्त कारण है क्षर उपादान कारण है।

वाक् प्राण तथा मन की कलाओं वाला यह त्रिकल आत्मा ही आत्मवेद अथवा यजुर्वेद है—*त्रय वा इद नाम रूप कर्म्म। तेषा नाम्ना वागित्येतदेषामुक्थम्। अतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति एतदेषा साम। एतद्धि सर्वैर्नामभिः समम्। एतदेषा ब्रह्म। एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्त्ति। अथ रूपाणा चक्षुरित्येतदेषामुक्थम्। अतो हि सर्वाणि रूपाणि उत्तिष्ठन्ति। एतदेषा साम। एतद्धि सर्वै रूपैः समम्। एतदेषा ब्रह्म। एतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्त्ति। अथ कर्म्मणा आत्मा इत्येतदेषामुक्थम्। अतो हि सर्वाणि कर्माणि उत्तिष्ठन्ति। एतदेषा साम। एतद्धि सर्वैः कर्मभिः समम् एतदेषा ब्रह्म। एतद्धि सर्वाणि कर्म्माणि बिभर्त्ति। तदेतत्त्रय सदेकमयमात्मा। आत्मा उ एकः सन्नेतत्त्रयम्।*—बृहदारण्यकोपनिषद् ६/१/१ ३। इसमें उक्थ ऋक् है ब्रह्म पुरुष है साम महाव्रत है। उक्थ ऋक् है ब्रह्म यजु है और साम साम है। इस प्रकार यजुर्वेद में ही तीनों वेदों का भाग है।

रेखागणित तथा त्रयी

तीन वेदों में तीनों वेदों के समावेश की एक अन्य प्रक्रिया भी है। रेखागणित की दृष्टि से विचार करें तो बिन्दु ही फैलकर व्यास बन जाता है और बिन्दु ही परिधि बनता है। बिन्दु के बिना रेखा नहीं और रेखा के बिना न व्यास है और न परिधि। हृदय बिन्दुओं का सञ्चय है विष्कम्भ तथा विष्कम्भों का सञ्चय है मूर्ति। बिन्दु अनिरुक्त। यह अनिरुक्त बिन्दु ही पदार्थ के गर्भ में रहता है यही पदार्थ को जन्म देता है इसलिए इसे प्रजापति कहा जाता है। इस अनिरुक्त हृदय का निरुक्त पिण्ड में बदल जाना ही सृष्टि का अभिव्यक्त हो जाना है।

पञ्चदेव तथा त्रयी

वस्तु के इस त्रयीमय रूप के वेदों की परिभाषा में समझने के अनन्तर देवों की भाषा में समझ लेना भी उचित होगा। भूत क्षर है। देव तत्त्व अक्षर है। यह देवतत्व वस्तु के स्वरूप की दृष्टि से पाँच भागों में बँटा है।

हम पहले कह चुके हैं कि इनमें तीन का सम्बन्ध केन्द्र से है दो का पिण्ड से है। केन्द्र से सम्बन्ध तीन देवताओं का है—विष्णु इन्द्र और ब्रह्मा। पिण्ड का सम्बन्ध भी तीन देवताओं से है इन्द्र अग्नि और सोम। हृदय शब्द में तीन अक्षर हैं ह द और यम्। ह का सम्बन्ध नियमन से है। हम पहले द्विविध गति बतला चुके हैं। विष्णु केन्द्राभिमुखगति द्वारा पदार्थ का पोषण करता है। इसे ही आगति भी कहते हैं। इन्द्र दान द्वारा परिधि की ओर गति से पदार्थ का क्षय करता है। इसे गति कहते हैं। ब्रह्मा इस आदान प्रदान के बीच समन्वय स्थापित करके पदार्थ की स्थिति बनाये रखता है। ये तीनों अन्तर्यामी कहलाते हैं। क्योंकि ये हृदय में स्थित हैं। इन तीनों के द्वारा वस्तु का हृदय पृष्ठ बनता है। पदार्थ का अन्तपृष्ठ पिण्ड है। इसका निर्माण अग्नि और सोम से होता है। अग्नि विकास है, सोम सङ्कोच है अग्नि भोक्ता है सोम भोग्य है। अग्नि अन्नाद है सोम अन्न है। ये ही दो पिण्ड को बनाते हैं। यहा इतना और समझ लेना चाहिये कि हृदय पृष्ठ और अन्तपृष्ठ के बाद दो पृष्ठ और हैं—बहिपृष्ठ तथा पारावत पृष्ठ। २१वें अहर्गण तक बहिपृष्ठ है तथा ३३ वें पर्यन्त पारावत पृष्ठ हैं। पदार्थ बहिपृष्ठ पर्यन्त ही दृष्टिगोचर होता है। पारावत पृष्ठ के भी तीन खण्ड हैं ११ तक आपो लोक है २२ तक वायु लोक तथा ३३ तक सोम।

वस्तु के पञ्चपृष्ठ तथा त्रयी

वस्तु का प्राण मण्डल ४८ अहर्गण तक जाता है। ४८ अहर्गण तक ब्रह्म पृष्ठ है जिसे तीन भागों में बाँटा गया है। २४ तक गायत्र है ४४ तक त्रैष्टुभ है। ४८ तक जागती है। इस प्रकार पदार्थ के कुल मिलाकर पाँच पृष्ठ हैं। (१) हृदय पृष्ठ (२) अन्तपृष्ठ (३) बहिपृष्ठ (४) पारावत् पृष्ठ (५) ब्रह्म पृष्ठ। वेद की पारिभाषिक शब्दावली में इन्हें क्रमशः हिङ्कार, प्रस्ताव उद्गीथ प्रतिहार और निधन कहते हैं और जो हमने हृदय विष्कम्भ और परिणाह की चर्चा की है उनका सम्बन्ध अन्तः पृष्ठ से है जिसे पिण्ड कहा जाता है तथा जिसका हम स्पर्श कर सकते हैं। बहिपृष्ठ हमारी दृष्टि का विषय है। इसके ही तीन खण्ड होते हैं—अग्नि वायु और आदित्य।

आपोमयजगत्

भृगु के तीन मनोता हैं—आप वायु और सोम। अङ्गिरा के तीन मनोता हैं—अग्नि, वायु और आदित्य। भृगु तथा अङ्गिरा के अतिरिक्त परमेष्ठी मण्डल का एक तीसरा मनोता अत्रि है। अत्रि का कार्य अवरोध करना है। इसे अत्रि इसलिए कहा जाता है कि भृगु और अङ्गिरा के समान इसक तीन मनोता नहीं है। इन तीनों मनोताओं के दो रूप हैं—मर्त्य और अमृत। इस प्रकार आप के मनोता ही पूरे विश्व में व्याप्त हैं। ब्रह्मपृष्ठ में अत्रि है पारावत् पृष्ठ में भृगु है हृदय पृष्ठ में अङ्गिरा है, पारावत् में अमृत भृगु और ब्रह्म में अमृत अत्रि है। इस प्रकार समस्त जगत् आपोमय है—*सर्वम् आपोमय जगत्*। यही ब्रह्मवेद का सर्वव्यापकत्व का आधार बनता है।

परिशिष्ट

दशवादाधिकरण

जगत् उत्पन्न कैसे हुआ—इस जिज्ञासा का समाधान बहुत कुछ हम ब्रह्माधिकरण के अन्तर्गत कर चुके हैं। जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो कुछ हमने ब्रह्माधिकरण में कहा है वह सिद्धान्तपक्ष है किन्तु जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में अनेक ऐसे और भी मतों का सङ्केत प्राप्त होता है जो विभिन्न विचारकों में प्रचलित रहे होंगे। ऐसे सभी मतों को पण्डित मधुसूदन ओझा ने नासदीय सूक्त के आधार पर दस भागों में बाँट दिया है—१ सदसद्वाद २ रजोवाद ३ व्योमवाद ४ अपरवाद ५ आवरणवाद ६ अम्भावाद ७ अमृतमृत्युवाद ८ अहोरात्रवाद ९ देववाद १० सशयवाद।

इन दशवादों का आधार नासदीय सूक्त की निम्न पङ्क्तियाँ हैं—

(१) नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजोनो व्योमा परो यत्
किमावरीव: कुह कस्य शर्मन्नम्भ: किमासीद् गहन गभीरम् ।
(२) न मृत्युरासीदमृत न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेत: ।
(३) अर्वाग्देवा... को वेद यत आबभूव।

प्रस्तुत अधिकरण में हम इन्हा दशवादों का परिचय देंगे।

पहले तो हमें समझ लेना चाहिये कि इन सभी वादों में सृष्टि के मूल कारण का अनुसन्धान किया गया है। दृश्यमान सृष्टि के सभी पदार्थ दिक्देशकाल से अवच्छिन्न हैं। यदि हम किसी ऐसे पदार्थ को सृष्टि का मूल कारण मानें जो दिक्देशकाल से अवच्छिन्न हो तो वह पदार्थ भी सृष्टि का हा अङ्ग हा जायेगा और उस पदार्थ को सृष्टि का कारण मानना ऐसा ही होगा जैसे कोई कहे कि क का कारण "क" ही एक अश है। यह स्पष्ट है कि इससे हमारी जिज्ञासा पूरी नहीं हो सकती। कारण को कार्य के अव्यवहित पूर्व में रहना चाहिये जबकि अवयव अवयवी का सहवर्ती होता है वह पूर्ववर्ती नही हो सकता। जो कुछ दिक्देशकाल से अवच्छिन्न है वह तो कार्य जगत् वर्तमान में प्रत्यक्ष है ही अब यदि हम उसका मूल कारण दिक्-देश कालावच्छिन्न ही किसी पदार्थ का मान लेते हैं तो हमारा प्रश्न यह होगा कि उस अन्य पदार्थ का कारण क्या है? और

यदि उसका कारण भी कोई दिग्देशकालावच्छिन्न पदार्थान्तर ही हुआ तो उसके कारण की जिज्ञासा बनी रहेगी और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा। इस अनवस्था दोष से बचने का एक ही उपाय है कि हम ऐसे तत्त्व को सृष्टि का कारण माने जो दिग्देशकाल से अवच्छिन्न न हो। ऐसा दिग्देशकाल से अनवच्छिन्न जो तत्त्व है वही ब्रह्म है वही जगत् का मूल कारण है। एक बार इस तथ्य को समझ लेने के बाद सत्, असत्, रज इत्यादि दिक् देश काल अवच्छिन्न पदार्थ भी अवान्तर कारण के रूप में सृष्टि की प्रक्रिया को समझने में सहायक हो सकते हैं किन्तु वे सृष्टि के अवान्तर कारण ही हैं मूल कारण नहीं।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जगत् का मूल कारण ब्रह्म है सहायक कारण वे सब हैं जिनकी चर्चा सदसद्वादादि दशवादों में की गई है। इस दृष्टि से इन दश वादों की चर्चा को पूर्वपक्ष उसी स्थिति में कहा जा सकता है जब इन्हें ब्रह्मवाद से विच्छिन्न करके देखा जाये। किन्तु ब्रह्मवाद से जुड़कर ये सभी सृष्टि के रहस्य को खोलने में सहायक होते हैं। अतः इन दश वादों की चर्चा व्यर्थ वाक् जाल नहीं समझना चाहिए। इसी कारण वैदिक वाङ्मय में जो इन दश वादों की जो चर्चा हुई है उसकी पूरी सार्थकता है।

इन दश वादों का महत्त्व इसलिए भी है कि जो देशकालानवच्छिन्न होता है वह शब्द की पकड में नहीं आता है शब्द की पकड में तो दृश्यमान सृष्टि की प्रक्रिया ही आ सकती है।

यह सत्य है कि जो देशकालावच्छिन्न न होगा उसे हम मन से भी न जान सकेंगे और शब्दों में भी नहीं कह सकेंगे। क्योंकि नाम और रूप उसी का हो सकता है जो किसी देश विशेष और किसी काल विशेष से बँधा हो। यदि सृष्टि का मूल कारण देशकालावच्छिन्न नहीं है तो उसका कोई भी रूप हमारे मन की पकड में। जो मन की पकड में नहीं आता वह वाणी की पकड में भी नहीं आ सकता। प्रश्न हो सकता है कि जो मन और वाणी की पहुँच से परे है उसका वर्णन कैसे किया जा सकता है ? उत्तर यह है कि यद्यपि उसका वर्णन तो नहीं हो सकता किन्तु उसके कार्यों को देखकर उसका अनुमान अवश्य किया जा सकता है।

ज्ञान-विज्ञान

हम ऊपर कह चुके हैं कि कार्यों का विश्लेषण करना विज्ञान का काम है जबकि कारण की खोज ज्ञान का विषय है। ज्ञान का विषय क्योंकि मन और वाणी की पकड से बाहर है इसलिये समस्त शास्त्र वस्तुतः विज्ञान का ही विस्तार है। एक भूल यह हुई कि जिनकी रुचि ज्ञान में थी उन्होंने विज्ञान की उपेक्षा कर दी। इसके भयङ्कर दुष्परिणाम हुए। प्रथम तो ज्ञान का विषय मूल कारण है और मूल कारण मन और वाणी की पहुँच से परे है इसलिये उस सम्बन्ध में चर्चा हो ही नहीं सकती। फलतः एक ऐसा सम्प्रदाय भी भारत में रहा जो सारे शास्त्र को व्यर्थ का वाक्जाल समझता रहा। इस सम्प्रदाय के कारण शास्त्र की उपेक्षा हुई बुद्धि का विकास अवरुद्ध हो गया और बुद्धि के ह्रास हो जाने पर जो सर्वाङ्गीण ह्रास होता है वही सर्वाङ्गीण ह्रास इस देश का हुआ। वस्तुस्थिति यह है कि हम कारण को कार्य के माध्यम से ही जान सकते हैं। विस्तार से चर्चा भी कार्य की ही हो सकती है तथा उपयोग में भी कार्य ही आता है। इस दृष्टि से कार्य का बहुत महत्त्व

है। विज्ञान भी इसी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। भारत में जहाँ विज्ञान की उपेक्षा करने की भूल की वहाँ भौतिक विज्ञान ने एक दूसरी भूल की कि मूल कारण की खोज करने वाले ज्ञान की उपेक्षा करके वह जड़ कटे पेड़ की तरह अधर में लटक गया और हमें भी उसने अपनी जड़ों से काट दिया।

वैदिक साहित्य की विशेषता यह है कि वह ज्ञान और विज्ञान दोनों को समान महत्त्व देता है। जहाँ मूल कारण की समझ हमें स्थिरता प्रदान करती है वहाँ कार्यजगत् का विश्लेषण हमें गति प्रदान करता है। गति और स्थिति का यह सामञ्जस्य ही किसी जीवनदृष्टि को सर्वाङ्गीण बना सकता है।

वैदिक विज्ञान में कारण और कार्य दो पृथक्-पृथक् पदार्थ नहीं है। कारण ही कार्य रूप में परिणत होता है। कारण और कार्य के परस्पर सम्बन्ध को लेकर भारतीय दर्शन में ऊहापोह हुआ है। इस सम्बन्ध में दो मत मुख्य हैं—एक मत कारण में ही कार्य को मानता है। इसे सत्कार्यवाद कहते हैं। यह साङख्यदर्शन का मत है। दूसरा मत यह मानता है कि कार्य कारण में पहले से नहीं रहता। इसे आरम्भवाद अथवा असत् कार्यवाद कहते हैं। यह न्यायदर्शन का मत है। दशवादों में से प्रथमवाद सदसद्वाद—में इन दोनों ही मान्यताओं का समावेश है।

सदसद्वाद

नासदीय सूक्त में कहा गया है कि महाप्रलय के समय न सत् था न असत् था। वैदिक वाङमय में सत् और असत् दोनों से सृष्टि के उत्पन्न होने की बात की गई है। इस आधार पर स्पष्ट ही सद्वाद और असद्वाद नाम के दो मत बन जाते हैं। एक तीसरा मत सदसद्वाद भी है। सद्वाद के अनुसार इस विश्व का कारण सत् होना चाहिए क्योंकि यह विश्व सत् रूप है और असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। साङ्ख्यदर्शन का मूल सिद्धान्त है कि सत् से ही सत् की उत्पत्ति होती है। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन वेद इन शब्दों में करता है—*सतो अभ्या सज्जजान*। तै.स. ४/६/२/३ (अन्यदपि ऋक् स १/९६/७ ऋक् स. ८/१०१/११ ९/३१/६, ९/८६/५ १०/५३/११, त. उप. २/६) ।

दूसरी ओर असद्वादियों का कहना है कि विश्व का प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। इसलिए यह सृष्टि असत् रूप है और इसका कारण भी असत् ही होना चाहिए। इस मत में क्षणिकवाद का मूल मिलता है। ऋग्वेद कहता है—*असदिते विभु प्रभु*। ऋक्संहिता १/९/५ (अन्यत्पि—ऋक् स. ९/८९/६ १०/७२/३ तै.ब्रा. २/२/९) । स्वय शतपथ ब्राह्मण में असत् का अर्थ ऋषि लिया है और ऋषि को प्राण कहा है—*असद्वा इदमग्र आसीत् । तदाहु किं तदसदासीदिति । ऋषयो वाव तेऽग्रे सदासीत् । तदाहु के ते ऋषय इति । प्राणा वा ऋषय* ।(शतपथ ब्राह्मण ६ १ १) यदि असत् का अर्थ प्राण है तो सत् का अर्थ भूत माना जा सकता है। ये दोनों ही परमव्योम में अदिति की गोद में दक्ष के जन्म के समय रहते हैं—*असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे*। (ऋग्वेद १० ५ ७) ।

तीसरा मत सदसद्वाद है। इस सृष्टि में परिवर्तन भी दिखाई देता है और स्थिरता भी। इसलिए इस सृष्टि का कारण असत् भी है और सत् भी। यजुर्वेद कहता है—*सतश्च योनिमसतश्च विव* (यजु संहिता १३.३)।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस वाद के अन्तर्गत जो अनेक ऊहापोह हो रहे थे उनमें से एक यह [redacted] कि सत् भूत है जो असत् प्राण से उत्पन्न होता है। इस प्राण को ऋषि कहा गया और यह प्रतिपादित किया गया कि ऋषि प्राण से भूतसृष्टि होती है।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेख करना प्रासङ्गिक होगा कि सभी क्षेत्रों में कुछ मूलभूत अवधारणाएं रहती हैं। विचारधारा कितनी ही विकसित क्यों न हो जाए वह उस मूलभूत अवधारणा से जुड़ी रहती है। आज कम्प्यूटर के युग में यह बात बहुत स्पष्ट हो गई है। कम्प्यूटर के पास दो ही सङ्ख्या है—एक तथा शून्य। इन दो के सम्मिश्रण से वह पूरी वर्णमाला बना लेता है। वैदिक ऋषि की दृष्टि में जगत् के दो ही मूल तत्त्व हैं—अग्नि तथा सोम। इन्हीं के सम्मिश्रण से सब पदार्थ बने हैं। शब्द की सृष्टि में भी दो ही साधन हैं—ऊष्मा और स्पर्श। इनके सम्मिश्रण से पूरी वर्णमाला बन जाती है—*अकारो वै सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति*। वेद में इस द्वैत का विस्तार अनेक रूपों में हुआ है—*अमृत तथा मृत्यु शुष्कता तथा आर्द्रता विस्तार तथा सकोच गति तथा स्थिति*। ये ही द्वैत चिन्तन के क्षेत्र में सत् तथा असत् का द्वैत है। जिस प्रकार बाह्य जगत् में दो के मिश्रण से समस्तसृष्टि बनती है उसी प्रकार चिन्तन के जगत् में भी सद् और असद् की मूलभूत अवधारणाएं समस्त दार्शनिक चिन्तन को अपने में समेट लेती हैं। पण्डित मधुसूदन ओझा ने सत् और असत् इसी मौलिकता को लेकर पूरे भारतीय दार्शनिक चिन्तन को नये ढंग से वर्गीकृत किया है।

स्पष्ट है कि सत् एक लचीली अवधारणा है। सत् का शब्दार्थ तो अस्तित्व है। सत् शब्द से यह स्पष्ट नहीं होता कि सत् शब्द किसके अस्तित्व को बताता है। पण्डित ओझा ने अस्तित्व अथवा सत् के सात अर्थ लिये हैं—

१ विज्ञान
२ ब्रह्म
३ रस
४ कार्य
५ वाक्
६ उत्पत्ति विनाश की प्रवाह नित्यता
७ प्रकृति

इसी प्रकार असत् के भी सात अर्थ पण्डित ओझा ने किए हैं—

१ विज्ञान अथवा प्रत्यय
२ कर्म
३ बल

४ कार्याभाव
५ अभाव
६ प्राण
७ अव्यक्त बल

एक तीसरा विकल्प सदसद् का है। इसके भी सात ही अर्थ किये गये हैं—

१ आनन्द विज्ञान
२ ब्रह्मकर्म
३ रसबल
४ मिथ्याकार्य
५ मन
६ भावाभाव
७ चेतना

इस सारे विस्तार का अभिप्राय यह है कि पण्डित ओझा ने सत् असत् की दो मूल अवधारणाओं में वैशेषिक साङख्य वेदान्त के अतिरिक्त चार्वाक तथा बौद्ध का भी समावेश करके यह सिद्ध कर दिया कि समस्त भारतीय दर्शनों का समावेश वस्तुतः इन दो अवधारणाओं में सम्भव है। न्याय को वैशेषिक का योग को साङख्य का पूर्व मीमासा को उत्तर मीमासा का तथा जैन को बौद्ध का समान तन्त्र मान कर उनका पृथक् उल्लेख नहीं किया गया यद्यपि इन मतों का भी समावेश यहाँ हो गया है।

प्राग्वैदिक दशवाद का सदसद्वाद मे समावेश

जिस प्रकार पण्डित ओझा ने वेदोत्तरकालीन दर्शनों का समावेश सत असत् में किया है उसी प्रकार प्राग्वैदिक वादों का भी समावेश इन दो अवधारणाओं में सम्भव है। डा श्रीमती प्रभावती चौधरी ने दशवाद रहस्य पर एक शोध पत्र में यह स्थापित किया कि दशों वादों का समावेश सदसद्वाद में किया जा सकता है। उनका कहना है कि रजोवाद का सम्बन्ध गति से है। ..नि की अवधारणा में स्थिति समाहित ही है। ये गति स्थिति ही अग्नि सोम हैं जिनका चचा हम प्रारम्भ में ही कर चुके है। इसी प्रकार व्योमवाद के भी दो पक्ष हैं—पर तथा अपर पर अमृत है अपर मर्त्य। ये भी सद असद् रूप ही है। यही स्थिति अपरवाद की भा है जिसक दा भाग परावर होन के कारण डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल उसका नाम ही परावर वाद रखत हैं। पर और अपर क्रमश सद् तथा असद् ही है। आवरणवाद का उल्लेख हमने पहले प्रारम्भ में किया है। ऋग् साम छन्द हैं अर्थात् आवरण हैं यजु छन्दित अर्थात् पदाथ है। आवरण असत् तथा पदार्थ सत् है। अम्भोवाद के दो तत्त्व भृगु अङ्गिरा हैं जो सोम अग्नि रूप हा हैं। अमृतमृत्युवाद ता स्पष्ट हा सद् असत् का दूसरा नाम है। अहोरात्र का अह सत् तथा रात्रि असत् है तथा दैववाद का दुख सुख असत् सत् है। सार यह है कि प्राग्वैदिक चिन्तन के मूल में भा असत् सत् का द्वैत ही था।

इस प्रकार वेद अपने से पहले के तथा अपने परवर्ती दर्शनों के बीज भी अपने में छिपाये हुए है। इसीलिए मनु ने कहा था कि भूत और भविष्य सब वेद से ही प्रकट होता है। यह वाक्य मनु का श्रद्धातिरेक जैसा प्रतीत होता है किन्तु वस्तुस्थिति कुछ इससे भिन्न है। वेद सत् असत् की दो मूलभूत अवधारणाएं प्रस्तुत करके चिन्तन के मूल को कह देता है। जो भी चिन्तन सम्भव है वह इन दो मूलभूत अवधारणाओं से बाहर नहीं जा सकता। अतः भूत भविष्य का मूल वेद में मानना श्रद्धा का विषय नहीं बल्कि एक वैज्ञानिक सत्य है। यह उतना ही सत्य है जितना यह कहना कि कम्प्यूटर अतीत तथा भविष्य की सारी भाषाओं को पकड सकता है। सत् और असत् की अवधारणा के साथ नित्यता और अनित्यता जुड़ी है। हम ऐसा मानते हैं कि जो नित्य है वह सत् है जो क्षणिक है वह असत् है। इसलिये नित्य विज्ञान की सृष्टि का मूल मानने वाले ब्राह्मण सद्वादी हैं और क्षणिक विज्ञान को सृष्टि का मूल मानने वाले श्रमण असद्वादी हैं। एक तीसरा सिद्धान्त वह है जो सद् और असद् दोनों को सृष्टि का कारण मानता है। यह सदसद्वादी न श्रमण है न ब्राह्मण मध्यस्थ है। यह विज्ञान के साथ साथ आनन्द को भी सृष्टि का कारण मानता है। ये तीनों ही मत एक प्रकार से प्रत्ययवादी हैं वस्तुवादी नहीं। क्योंकि ये सृष्टि का मूल किसी पदार्थ को न मानकर विज्ञान को मानते हैं। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि आधुनिक विज्ञान पदार्थ विज्ञान है। उसमें इस मत का कोई स्थान नहीं कि सृष्टि की उत्पत्ति चैतन्य से मान ली जाये और सृष्टि की स्थिति भी हमारे प्रत्ययों पर आधृत मानी जाये। उसकी दृष्टि में पदार्थ की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है किन्तु पूर्व और पश्चिम के दार्शनिकों में एक ऐसा समुदाय है जो बाह्य पदार्थ की सत्ता को हमारे ज्ञान पर ही आधृत मानता है उसकी स्वतन्त्र सत्ता मानता ही नहीं है।

जो क्षणिक है वह असत् हैजो नित्य है वह सत् है। ऐसा मानने पर दो तत्त्व हमारे ध्यान में आते हैं—एक कर्म दूसरा ज्ञान। सभी कर्म अस्थायी हैं। ज्ञान स्थायी है। जो सृष्टि को कर्म का ही तानाबाना मानते हैं वे असद्वादी कर्माद्वैत मानने वाले कहलाते हैं। परवर्ती काल में बौद्धों का यही सिद्धान्त बना क्योंकि कर्म उत्पन्न होता है और नष्ट होता है अर्थात् विनाशी है इसलिये कर्म को ही सृष्टि का मूल कारण मानने वाले श्रमण वैनाशिक कहलाये। ज्ञान नष्ट नहीं होता। इस ज्ञान को ही सृष्टि का मूल कारण मानने वाले ब्रह्माद्वैतवादी कहलाये। ब्रह्म में विश्वास करने के कारण ही ये ब्राह्मण कहलाये। जो सृष्टि के मूलमें कर्म और ज्ञान दोनों को मानते हैं वे द्वैताद्वैतवादी मध्यस्थ मत के समर्थक हैं।

दूसरी दृष्टि से विचार करने पर हमें अपने जीवन में दो मूलभूत तथ्य दिखाई देते हैं। एक शक्ति जिसे बल कह सकते हैं दूसरी अनुभूति जिसे रस कहा जाता है। क्योंकि हमें रस और बल दोनों की प्रतीति होती है इसलिये रस बल दोनों को सृष्टि का मूलकारण मानने वाले सदसद्वादी मध्यस्थ मत के अनुयायी कहलाये। बल को ही मुख्यता देने वाले श्रमण असद् वादी और रस को ही मुख्यता देने वाले ब्राह्मण सद्वादी कहलाये। इस प्रसङ्ग में रस का सत् और बल का असत् मान लिया गया है। अभिप्राय यह है कि हमारी अनुभूति नित्य है शक्ति अनित्य। शक्ति आती है और चली जाती है किन्तु अनुभूति बनी रहती है। इसलिये सद्वाद पर विश्वास रखने वाले अनुभूति को महत्त्व देते हैं। असद्वाद पर विश्वास रखने वाले बल को महत्त्व देते हैं।

एक तीसरे प्रसङ्ग में हम असद् का अर्थ अभाव मान लेते हैं और सत् का अर्थ भाव। वैशेषिक मत का मानना है कि कार्य का कारण में अभाव होता है अत कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व असत् होता है। इसके विपरीत साङ्ख्य दर्शन का कहना है कि असत् से किसी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती। कोई भी कार्य कारण में पहले से ही रहता है केवल अभिव्यक्ति बाद में होती है और इस अभिव्यक्ति को ही हम कार्य का उत्पन्न होना मान लेते हैं। एक तीसरा मत वेदान्तियों का है। जिनका कहना है कि कारण से कार्य का उत्पन्न होना एक भ्रान्ति है। वस्तुत कार्य उत्पन्न होता ही नहीं। उत्पन्न न होने पर भी कार्य दृष्टिगोचर होता है यह एक पहेली है जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। अत इस मत को अनिर्वचनीय कार्यवाद अथवा मिथ्याकार्यवाद कहा जाता है। एक चतुर्थ विकल्प भी है। बृहदारण्यकोपनिषद् में किसी पदार्थ के निर्माण में तीन तत्त्व माने हैं—प्राण वाक् और मन। प्राण क्रिया को बतलाता है वाक् अर्थ को और मन ज्ञान को। हम पहले ही कह चुके हैं कि वेद विज्ञान में तात्त्विक रूप से जड कुछ भी नहीं है। यह स्पष्ट है कि पदार्थ है पदार्थ में क्रिया है और पदार्थ में ज्ञान है। इन्हीं तीन तत्त्वों को वाक् प्राण और मन कहा जाता है। इसमें वाक् अर्थात् पदार्थ सत् है प्राण असत् है और मन सदसद् है। प्रश्न होता है कि इन तीनों में मूल तत्त्व क्या है जिससे शेष दो उत्पन्न हुए। उत्तर यह है कि जो प्राण को मूल मानते हैं वे असद्वादी हैं जो वाक् को मूल मानते हैं वे सद्वादी हैं जो मन को मूल मानते हैं वे सदसद्वादी हैं।

ऊपर हमने कहा है कि एक मत यह है कि कार्य की उत्पत्ति से पूर्व कार्य का अभाव रहता है। कार्य के इस अभाव को प्रागभाव कहते हैं। असत्वादी नैयायिकों के मत में प्राग अभाव ही किसी कार्य का कारण होता है। इसके विपरीत साङ्ख्य मत में कोई पदार्थ असत् से उत्पन्न नहीं हो सकता। अत सभी कार्यों का कारण प्रकृति है। उस प्रकृति में कार्य अभिव्यक्त होते रहते हैं किन्तु प्रकृति निरन्तर बनी रहती है इसलिये यह मत सद्वादी कहलाता है। वेदान्त के मत में सृष्टि का मूल कारण विद्या तथा अविद्या है। ससार में जितने पदार्थ हैं उनमें दो तत्त्व हैं—रूप और रूपी। रूपी सदा बना रहता है वह सद्रूप है, रूप बदलता है वह असद्रूप है। नाम और रूप तथा कर्म से जगत् का अभिव्यक्त हो जाना ही जगत् की उत्पत्ति है। यह अव्याकृत का व्याकृत हो जाना ही असद् से सद् का उत्पन्न हो जाना है।

एक विचार यह है कि अव्यक्त से ही सृष्टि उत्पन्न हुई। जो यह मानते हैं कि वह अव्यक्त तत्त्व बल था वे बौद्ध हैं। जो सत्त्व, रजस् और तमस् से सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं वे साङ्ख्य हैं और जो यह मानते हैं कि इस दृश्यमान क्षर सृष्टि के पीछे एक अव्यय तत्त्व है वे वेदान्ती हैं।

इस प्रकार सत् और असत् शब्द की अनेक व्याख्याए सम्भव हैं। असत् शब्द का अर्थ क्षणिक विज्ञान कर्म बल अभाव तथा प्राण हो सकता है जबकि सत् का अर्थ नित्यता ब्रह्म रस वाक् अथवा प्रकृति हो सकता है। इसी सत् असत् के ताने बाने से यह सृष्टि चल रही है। वेद के सिद्धान्त पक्ष पर पहुँचने से पूर्व तथा वेद के बाद ही किसी ताने बाने के अन्तर्गत सृष्टि के कारण पर विचार होता रहा। जैसा हमने ऊपर कहा सद् असद्वाद् के अतिरिक्त जो अन्य नौ वाद हैं उनके मूल में भी कहीं न कहीं सद् असद् की बात अन्तर्निहित है।

स्थिति पदार्थ में घनता लाती है गति तनुता। स्थिति अमृत है गति मृत्यु। सृष्टि में ये दोनों तत्त्व गति स्थिति मृत्यु अमृत घनता तनुता रस बल प्रकृति विकृति मिले हुए ही पाये जाते हैं। सद् और असद् युगल के ही ये विविध नाम हैं। इनमें जो स्थिति है वही ब्रह्म है। उस ब्रह्म में जगत् है और जगत् में ब्रह्म है अत ब्रह्म और जगत् एक ही है किन्तु फिर भी हम अपने विचार में दोनों को अलग अलग करके समझ सकते हैं। जगत् में तो ब्रह्म व्यापक है ही किन्तु वह जगत् से परे भी है। इस प्रकार ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध अनिर्वचनीय है। अन्य कारणों से कार्य की उत्पत्ति होने पर उस कारण में विकार आता है किन्तु ब्रह्म क्योंकि मूल कारण है अत वह कार्य को उत्पन्न करके भी स्वय अविकृत ही रहता है।

रजोवाद

नासदीय सूक्त में सद्वाद और असद्वाद के अनन्तर रजोवाद का सङ्केत है। रजोवाद के अनुसार सृष्टि व्यापारों का सङ्घात है। व्यापार का अर्थ है क्रिया और क्रिया रजोगुण का काम है अत ज्ञानमय सत्वगुण तथा जड तमोगुण से सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सृष्टि के मूल में रजोगुण भी है। इस रजस् का वर्णन वेद में अनेक स्थानों पर है—*योऽन्तरिक्षे रजसो विमान* (यजुर्वेद ३२ ६)। रजोवाद की क्रियाशीलता की अवधारणा ने ही बाद में नटराज की अवधारणा को जन्म दिया। रजस् के दो रूप हैं—कृष्ण और शुक्ल। ये दोनों अहोरात्र है—*अहश्च कृष्णमहरर्जुन च वि वर्तेते रजसी वेद्याभि* (ऋग्वेद ६ ९ १) इस प्रकार रजोवाद बाद में कालवाद का जनक बन गया। रज क्रियाशीलता है तो अज स्थिति है। सात लोकों में भू भुव स्व मह जन तप रज हैं किन्तु सातवा लोक सत्यम् अज है—*वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजास्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्*। (ऋग्वेद १ १६४.६) इनमें अज अव्यय पुरुष है रज अक्षर है। सत्यलोक में इस तत्त्व या प्राण तत्त्व ने ही गति पैदा की उसी से द्युलोक और पृथ्वी का विभाजन हुआ।

क्रिया चार रूपों में उपलब्ध होती है इसलिये रज के भी चार रूप हैं—गुण अणु रेणु और स्कन्ध। गुण शक्ति है अणु शक्ति केन्द्र है रेणु शक्तिवान् है और स्कन्ध शक्तिघन है। शक्ति के बिना कोई गति सम्भव नहीं। अत रज का एक अर्थ गुण भी है। कुछ अणु स्वभावत गतिशील हैं कुछ स्वभावत स्थितिशील हैं। किन्तु स्थितिशील तथा गतिशील अणु एक दूसरे के सम्पर्क से गतिशील एव स्थितिशील तथा गतिशील अणु एक दूसरे के सम्पर्क से गतिशील एव स्थितिशील हो जाते हैं। यह प्रक्रिया अणुओं को जोडती तोडती रहती है। अणुओं का परस्पर जुड जाना घनता का कारण है विखण्डित हो जाना तरलता का कारण है। अणुओं के सङ्कोच को सोम और प्रसार को अग्नि कहते हैं। यही सङ्कोच और विस्तार समस्त लोकों को जन्म देता है इसलिये लोक का नाम भी रज है। लोकातीत परोरजा है। ससार में सब गतिशील हैं। गति का एक रूप है—प्रसारण आकुञ्चन। प्राण और अपान यह प्रसारण आकुञ्चन का एक रूप है सुषुप्ति-जागृत् दूसरा रूप है। सङ्कोच विकास तीसरा रूप है। प्रसारण सृष्टि है। आकुञ्चन प्रलय है। रजोगामी रज को आप वायु प्राण इत्यादि विभिन्न नामों से कहते हैं। रज राग द्वेष और उदासीनता के कारण नये नये रूप और अपूर्व कर्म को जन्म देता है। रज का प्राण अपान ही प्रसार सङ्कोच है

यही उदय प्रलय है। वैदिक भाषा में इसे ही उद्‌भाव और निभाव कहा जाता है। गति वर्तुलाकार रहती है। जो वृक्ष पृथ्वी से उत्पन्न होते हैं वे पृथ्वी में ही जा मिलते हैं। यह प्रसारण व आकुञ्चन ही पदार्थों में विरलत्व और घनत्व उत्पन्न करता है। इन्हीं दो भेदों के कारण रज को दो प्रकार का कहा गया है—शुक्ल और कृष्ण। ये दोनों गतियाँ कालयुक्त हैं।

अग्नि का स्वभाव है गति। सोम का स्वभाव है स्थिति। ये दोनों एक दूसरे पर अवलम्बित हैं। इनमें अग्नि बहिर्मुख है सोम अन्तर्मुख है। अग्नि प्रसार है सोम सङ्कोच है। अग्नि प्राण है सोम अपान है। अग्नि और सोम का योग ही आप है। आप से समस्त सृष्टि उत्पन्न होती है। आप अत्यन्त सूक्ष्मप्राण है। इससे वायु उत्पन्न होती है। वह अपेक्षाकृत स्थूल है। सोम एक है। अग्नि परिमण्डल है। सोम घनता का कारण है। अग्नि विरलता का कारण है। घनता की अन्तिम सीमा भूमि है विरलता की अन्तिम सीमा मन है। यदि कोई पदार्थ मन से भी अधिक विरल हो जाये तो वह भी अव्यक्त हो जाता है। जहाँ अग्नि और सोम की सृष्टि में भूमा अधिक है वह भूमि है और वह जल के सहित भूत कहलाती है जहाँ अणिमा अधिक है वह प्राण है और मन के साथ वह देव कहलाती वाक् वायु और तेज देव भी है और भूत भी है। इस प्रकार पञ्चभूत ही पञ्चदेव हैं।

अणुओं से उत्पन्न होने पर भी जो जगत् में विविधता दिखाई देती है उसका कारण तप स्वभाव और कर्म है किन्तु यह काल स्वभाव और कर्म भी गति का ही दूसरा नाम है। सूर्य चन्द्र पृथ्वी आदि की ही गति काल है। अग्नि की ऊर्ध्वगति, जल की निम्नगामी गति स्वभाव है और कर्म तो गति का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार समस्त जगत् का मूल कारण गति ही है।

गति के बिना द्यौ और पृथ्वी में विभाजन भी नहीं हुआ था। उस स्थिति को ही हम तम कहते हैं, क्योंकि तम में गति नहीं होती। केन्द्र गति के बिना अव्यक्त रहता है। उसमें गति आने पर लोकों की उत्पत्ति होती है। जिस सत् और असत् की चर्चा हमने पहले की है, वह भी गति का ही परिणाम है। अत मूल कारण गति है। गति से विभाजन होने पर जब मन प्राण और वाक् उत्पन्न होते हैं तो मन और प्राण असत् कहलाते हैं वाक् सत्। वाक् शब्द का नाम है शब्द आकाश का गुण है। इसलिये वाक् वेद विज्ञान में पञ्चभूतों का नाम है।

व्यक्तजगत् में सभी कुछ सीमित है किन्तु इसका मूल अव्यक्त असीमित है। अव्यक्त शान्त है व्यक्त गतिशील है।

गति सवव्यापक है। अत आप अर्थात् जल तत्त्व भी गति ही है क्योंकि आप सर्व व्यापक को कहते हैं। जो जल से सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं वे अम्भोवादी हैं किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जल का भी मूल कारण गति है। वायु तो गति रूप है ही किन्तु वायु से भी अधिक सूक्ष्म प्राण है और प्राण की पहचान गति ही है। ऋग्वेद में प्राण की सत्ता बिना वायु के मानी गई है।

प्राण के साथ अपान भी जुडा है। प्राण विस्तार है अपान सङ्कोच। इसी विस्तार और सङ्कोच को अग्नि और सोम भी कहा जाता है। यह सङ्कोच और विस्तार अनेक रूपों में प्रकट होता है—जागृति सुषुप्ति तरल घन सृष्टि तथा प्रलय। इनमें एक का नाम शुक्ल रजस् है दूसरे का

कृष्ण रजस्। इन दोनों के परस्पर सम्पर्क से एक क्षेत्र उत्पन्न हो जाता है। यही द्वन्द्व दिन और रात में परिणत हो जाता है।

गति अनेक प्रकार की सृष्टि करती है। कुछ इस सृष्टि के मूल में अग्नि तत्त्व को मानते हैं कुछ आप तत्त्व को। यह अग्नि और सोम सृष्टि के माता पिता हैं। अग्नि तरलता बनाता है सोम घनता। फलत पदार्थ तरल और घन दो भागों में बँट जाते हैं। अग्नि भोक्ता है, साम भोग्य। यज्ञ की प्रक्रिया द्वारा सोम अग्नि में ही परिणत हो जाता है। इसलिये अग्नि को ही एक मात्र पदार्थ मान लिया गया है।

यह अग्नि वैश्वानर कहलाता है जो पृथ्वी पर अग्नि रूप में अन्तरिक्ष में वायु रूप में और द्यौ में आदित्य रूप में रहता है। यही वैश्वानर प्रज्ञा रूप में मन तैजस रूप में प्राण और वैश्वानर रूप में भूत है। मन प्राण और भूत की यह त्रयी ही आत्मा है। वेद विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि व्यष्टि में जो दिखाई देता है समष्टि में भी उसके समानान्तर ही व्यवस्था है। व्यष्टि के स्तर पर जिसे हम मन प्राण और भूत कहते हैं समष्टि के स्तर पर वही द्यौ अन्तरिक्ष और पृथ्वी है। गति का कारण प्राण है यह प्राण मन और वाक् के मध्य में है। यही इन्द्र है जिसे मध्य प्राण भी कहा जाता है। व्यष्टि के स्तर पर जो प्राज्ञ तैजस और वैश्वानर है समष्टि के स्तर पर वही सर्वज्ञ विराट और हिरण्यगर्भ है। हमने ऊपर कहा है कि असीम अव्यक्त है और जो व्यक्त है वह सीमित है। इस सीमित और असीम को दिति अदिति मृत्यु अमृत अनेक नामों से जानते हैं। मन प्राण और वाक् की असीम अवस्था क्रमश वेद साहस्री लोक-साहस्री और वाक्-साहस्री कहलाती है।

लोक का अर्थ है पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्यौ। देव इन तीनों लोकों की शक्ति का नाम है। इन देवताओं के समूह हैं। उदाहरणत आठ वसु हैं ग्यारह रुद्र हैं बारह आदित्य हैं दो अश्विनी हैं। ये तैंतीस देवता हैं। चौंतीसवा देवता स्वय प्रजापति है जो इनका अव्यक्त केन्द्र है। गति में एक लयात्मकता है जिसे छन्द कहा जाता है। यही गति दिक् को उत्पन्न करती है। मन प्राण और वाक् तीन ज्योतियाँ हैं। इनमें से दो दो के बीच में एक-एक सोम है। मन और प्राण के बीच का सोम चन्द्रमा है। प्राण तथा वाक् के बीच का सोम दिक् है। चन्द्रमा भास्वर सोम है। दिक् अभास्वर सोम है।

गति ही ऋतु को जन्म देती है। अग्नि के दो रूप हैं—ऋत और सत्य। ऋत का कोई केन्द्र नहीं होता सत्य में केन्द्र है। ऋत ही ऋतु का कारण है। ऋतु ही पदार्थों को अभिव्यक्त करती है। प्राण शक्ति स्तोम के रूप में आपस में जुडी रहती है। यदि स्तोम न हो तो सब कुछ बिखर जाय। प्राण शक्ति का नाम ही ऋषि है जो सदा गतिशील है। इन्द्रियाँ प्राण का साधन हैं।

सृष्टि के दो पथ हैं—देव और भूत। आकाश वायु और अग्नि देव हैं। जल और पृथ्वी भूत हैं। पृथ्वी स्थूल है द्यौ सूक्ष्म है और अन्तरिक्ष मध्यस्थ है। जल का सूक्ष्म रूप सोम है स्थूल रूप पृथ्वी है।

सात लोकों के बीच में तीन पृथ्वी है तीन अन्तरिक्ष और तीन द्यौ। जो प्रथम त्रयी का द्यौ है वह द्वितीय त्रयी की पृथ्वी बन जाता है। जो प्रथम त्रयी का द्यौ है वह द्वितीय त्रयी की पृथ्वी

बन जाता है और इस प्रकार सात लोकों से तीन त्रयी बनती है। किसी भी पदार्थ के निर्माण में चार तत्त्व रहते हैं—वद यज्ञ छन्द और दिशा। वद ज्ञान हैं छन्द लयात्मकता दिशा आकाश है और यज्ञ इन तीन सत्यों का प्राण द्वारा सयाजन है।

मन केन्द्र में है प्राण और वाक् परिधि पर है। प्राण देवतत्त्व हैं वाक् भूततत्त्व है प्राण अमृत है भूत मृत्यु। देव अन्नाद हैं भूत अन्न।

अग्नि ओर सोम के मिश्रण से आत्मा का निर्माण होता है। अग्नि और सोम की एक एक इकाई के मिलने से अणु बनता है और अणुओं के मिश्रण से रेणु बनता है। सोम तत्त्व ही अग्नि को शक्ति देता है। अग्नि आत्मसात् करके सोम को दो भागों में बाँट देती है—अमृत और मर्त्य। अमृत प्राण है मर्त्य भूत। अग्नि आत्मा है सोम शरीर। ये दोनों शरीर के द्यौ और पृथ्वी हैं। इन दोनों से परे व्यक्त गति है जो प्रजापति है। शरीर में सोम शक्ति देता है। एक ही शरीर में अग्नि और साम दानों हैं किन्तु दम्पती में पति और पत्नी क्रमश' अग्नि तथा सोम के प्रतीक हैं। भूत मातृतत्त्व हैं प्राण पितृ तत्त्व है। प्रजापति नाभि है। वह केन्द्र में अव्यक्त रूप से रहता और अन्तर्यामी कहलाता है। अनन्त के सामने सान्त का परिमाण महत्त्वपूर्ण नही है इसलिये इस सान्त को कभी अगुष्ठ मात्र कह दिया जाता है कभी तिल परिमाण कह दिया जाता है। मन प्राण और भूत क्रमश ज्ञान क्रिया और अर्थ के सूचक हैं। हमारे शरीर में भी मन प्राण और वाक् का प्रतिनिधित्व मस्तक वक्षस्थल और उदर करता है। हमारे शरीर का समस्त क्रिया कलाप वैश्वानर की ही प्रक्रिया है। यह शरीर तीन रूपों में प्रकट होता है—वनस्पति पशु और मनुष्य। वैश्वानर ही षोडशी पुरुष है जिसमें पाँच कोष पाँच भूत और पाँच प्राण आते हैं तथा सालहवाँ तत्त्व आत्मा है। वैश्वानर को क्षेत्रज्ञ भी कहत हैं। रज के साथ दो गुण और जुडे हैं—सत्त्व और तमस्। सत्त्व देव है रजस् मनुष्य और तमस् अचेतन पदार्थ है। देव तत्त्व केन्द्र से परिधि की ओर गति को बताते हैं पितर परिधि से केन्द्र की ओर गति को बताते हैं। इन्हीं के ताने बाने से जीवन बनता है।

प्राण और अपान की गति में एक लयात्मकता है। प्राण का सम्बन्ध सूर्य से है अपान का पृथ्वी से। चौबीस घण्टे में इन दोनों की गति २१६०० है। यही अहोरात्र है। प्राण ही सूत्रात्मा है जो शरीर के अग्नि वायु आदित्य दिशा और पर्जन्य। इन पाँच देवताओं को परस्पर जोडता है। अपनी बहिर्मुख अवस्था में प्राण जागृत रहता है अन्तर्मुख अवस्था में सुषुप्त। ऋषियों की दृष्टि से अग्नि का सम्बन्ध अङ्गिरस से है सोम का सम्बन्ध भृगु से। अङ्गिरस की तीन स्थितियाँ हैं—अग्नि वायु और आदित्य। भृगु का भी तान स्थितियाँ हैं—आप',वायु और सोम। दोनों त्रिकों के मध्य में वायु है। वायु यम है जो मृत्यु और अमृत के बीच का सेतु है। जब वह जीवन देता है तो धर्मराज कहलाता है। जब मृत्यु देता है तो यमराज कहलाता है। यम का दूसरा नाम काल ही है। सृष्टि में सूर्य इस यम का प्रतिनिधित्व कर रहा है। सूर्य की सात किरणें अङ्गिरस के सात पुत्र हैं। सूर्य शीत और उष्ण का सम्बन्ध जोडता है। यम के दो रूप हैं—घोर और अघोर। घोर रूप मृत्यु है अघार रूप जीवन। इस प्रकार जीवन का मूल सूर्य है। जब अग्नि और सूर्य के बीच पूर्ण सन्तुलन हो जाता है तो आत्मा मुक्त हो जाता है। रजोवाद क अन्तर्गत असत् का अर्थ है—अव्यक्त और सत् का अर्थ है—व्यक्त। दिव्य सृष्टि का अर्थ प्राण सृष्टि है। प्राण और भूत क समन्वय से

सृष्टि चल रही है। मन के भी दो स्तर हैं—निर्णय लेने वाला मन विज्ञान मन है अनिर्णय की स्थितिवाला मन प्रज्ञान मन है। विज्ञान मन सूर्य के समान स्वयप्रकाश है। प्रज्ञान मन चन्द्रमा के समान पर प्रकाश है। मन का एक दूसरा नाम महान् भी है क्योंकि यह अव्यक्त की महिमा को प्रकट करता है।

सृष्टि के विश्लेषण में दो तत्व मौलिक हैं—ब्रह्म और कर्म—ब्रह्म का अर्थ है—ज्ञान कर्म का अर्थ है—क्रिया। तीसरा तत्त्व अम्भ है जो न ज्ञान है न क्रिया किन्तु इन दोनों पदार्थों को परस्पर मिलाता है। तीन तीन तत्त्वों के आधार पर चार मत बन जाते हैं। साध्य युग में सत् और असत् भाव और अभाव के सूचक हैं, लेकिन देव युग में सत् का अर्थ सत्ता और असत् का अर्थ कर्म होता है। इन दोनों के सामञ्जस्य से चार वाद बन जाते हैं—१ जो ब्रह्म कर्म और अम्भ तीनों को मानता है यह त्रिसत्यवाद है २ जो ब्रह्म और कर्म दो को मानता है वह द्विसत्यवाद है ३ जो केवल कर्म को मानता है वह असद्वाद है और ४ जो केवल ब्रह्म को मानता है वह सद्वाद है।

हमारी आँखों से न ज्ञान दिखता है न कर्म। त्रिसत्यवाद के अनुसार ब्रह्म और कर्म को परस्पर समन्वित करने वाला पदार्थ अम्भ है। वही ज्ञान और कर्म का समन्वय करता है। केनोपनिषद् ने नाम और रूप को अम्भ माना है और इन दोनों को विचित्रता को ध्यान में रखते हुये इसे यक्ष कहा है। यही नाम रूप का यक्ष अथवा अम्भ ब्रह्म और कर्म में समन्वय स्थापित करता है। ये दोनों सत्तासिद्ध हैं। किन्तु अम्भ भातिसिद्ध है अर्थात् वह प्रतीति में आता है किन्तु है नहीं। उदाहरणत दिन की सत्ता किसी प्रकाश के स्रोत अर्थात् सूर्य या विद्युत् आदि के कारण रहती है किन्तु रात्रि के लिये किसी स्रोत की आवश्यकता नहीं किन्तु रात्रि हम सबकी प्रतीति में आती है। इसी प्रकार सख्या परिणाम दिक् आदि पदार्थ भाँति सिद्ध हैं। ये सभी सापेक्ष हैं। इनकी स्वय कोई सत्ता नहीं है। इन अम्भ पदार्थों का नाम एव रूप ब्रह्म और कर्म से सम्बन्ध स्थापित करता है। ऋग् वेद में इस अम्भ को यक्ष कहा गया है।

कुछ विद्वानों के अनुसार अम्भ केवल एक माया बल है और कर्म भी एक माया बल ही है। इसीलिये अम्भ की कोई आवश्यकता नहीं। कर्म के तीन रूप हैं—प्रवृत्ति निवृत्ति और स्तम्भन। प्रवृत्ति का अर्थ है अग्र व्यापार जिसको गमन कहते हैं निवृत्ति का अर्थ है पृष्ठ व्यापार जिसे आगमन कहते हैं। इन दोनों का मिल जाना स्तम्भन अथवा स्थिति है। प्रवृत्ति से प्रवेश होता है निवृत्ति से निष्कासन और स्तम्भन से स्थिति। सृष्टि की उत्पत्ति के समय कर्म ब्रह्म में प्रविष्ट होता है। विश्व की स्थिति के समय कर्म ब्रह्म में स्थित हो जाता है और प्रलय में निकल जाता है। ये तीनों काम कर्म स्वय कर लेता है। कर्म ससर्ग है अत वह स्वय ही असङ्ग ब्रह्म से समन्वित हो जाता है। इसके लिये किसी तीसरे अम्भ पदार्थ के मानने की आवश्यकता नहीं। ऐसा द्विसत्यवादियों का कहना है। ब्रह्म दिक् देश काल सख्या आदि से अनवच्छिन्न है कर्म इन से अवच्छिन्न है। ब्रह्म रस प्रधान है कर्म बल प्रधान है। बल गर्भित रस का नाम ज्ञान है रस गर्भित बल का नाम कर्म है।

ससार के सभी पदार्थों में रस और बल दोनों है। जिनमें रस प्रधान है वे चेतन कहलाते हैं जिनमें बल प्रधान है ये जड कहलाते हैं। जड में जब रस का जागरण हो जाता है तो वह भी चेतन हो जाता है। मनुष्य की जागृत अवस्था ब्रह्म भाव है सुषुप्ति अवस्था कर्म भाव है।

चिन्तकों का एकवर्ग केवल कर्म की ही सत्ता मानता है। उसका कहना है कि कर्म ही स्तम्भन दशा में ब्रह्म हो जाता है। वही कर्म प्रवृत्ति की दशा में समन्वय का कारण बनता हुआ अभ्व कहलाता है और निवृत्ति की दशा में कर्म कहलाता है। कर्म का ही दूसरा नाम बल है। वही सुषुप्ति अवस्था में बल कहलाता है। कुर्वद्रूप अवस्था में प्राण कहलाता है तथा निर्गच्छत् अवस्था में क्रिया कहलाता है। कर्म की सुषुप्ति अवस्था ब्रह्म है। प्राण अवस्था अभ्व है और क्रिया अवस्था भी कर्म है। कर्म पर बल देने के कारण वे लोग जो ब्रह्म को नित्य पदार्थ नहीं मानते थे और अनित्य कर्म को ही स्वीकार करते थे श्रमण कहलाये। कर्म से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई। कर्म असत् रूप है इसलिये सृष्टि भी असत् ही है। सृष्टि में कर्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जिसे हम ज्ञान कहते हैं वह भी जानने की क्रिया भी है। क्षण क्षण में पदार्थ परिवर्तित होरहे हैं। यह कर्म का ही परिणाम है। अत प्रत्येक पदार्थ क्षणभङ्गुर है। जो यह मानते हैं कि क्षणभङ्गुर पदार्थों का कोई न कोई नित्य आधार भी है और वह आधार ही ब्रह्म है—ये ब्राह्मण कहलाये। ब्राह्मणों का कहना है कि कर्म एक बल है और बल में एक बल धाराबल भी है। वह धारा बल ही सब बलों को सनातन रूप में अस्तित्व के रूप में प्रदर्शित करता है। उसके लिये किसी नित्य आधार के मानने की आवश्यकता नहीं है। जो ऐसा मानते हैं कि कर्म भले ही बदलता हो किन्तु कर्ता नहीं बदलता उनके उत्तर में क्षणिकवादियों का कहना है कि कर्ता भी एक प्रकार का बल ही है।

क्रिया की चार अवस्थाए हैं पहली अवस्था कृति है जो प्राण का आन्तरिक व्यापार है। यह आन्तरिक व्यापार जब बहिर्व्यापार में बदलता है तो व्यापार कहलाने लगता है। यही व्यापार धारा बल के कारण भाव रूप में परिणत होकर पदार्थ बन जाती है और यही भाव पुन कर्म करता है। इस प्रकार अहम् भी क्रिया समष्टि का नाम ही है। जिस प्रकार दीपक की लौ प्रतिक्षण बदलने पर भी एक रूप में ही दिखाई देती है उसी प्रकार आत्मा प्रति क्षण बदलने पर भी एक ही रूप में दिखाई देती है। आत्मा कर्म से भिन्न कुछ नहीं है। इस क्रिया के कारण उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होते रहते हैं। समस्त ससार दुख रूप है क्योंकि इसमें शाश्वत कुछ भी नहीं है सभी अशान्त हैं। यही सिद्धान्त बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद दुखवाद तथा शून्यवाद का आधार बना। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक क्रिया केवल एक क्षण रहती है और वही उसका स्वय लक्षण है।

इसके विपरीत सद्वादियों के अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। वह अपरिणामी और अविनाशी है। क्षणभङ्गुर पदार्थ ससार को स्थिर आधार नहीं दे सकते। ज्ञान ही कर्म में परिणत हो रहा है। विश्व में ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी है। इन तीनों में मूल ज्ञाता है ज्ञाता के बिना न ज्ञान है न ज्ञेय। जिस प्रकार केन्द्र से रश्मि मण्डल निकलता है उसी प्रकार ज्ञाता से भी ज्ञान निकलता है। इस ज्ञान के आधार पर ही ज्ञेय टिका हुआ है। जगत् के दो रूप हैं अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्। ईश्वर का ज्ञेय बहिर्जगत् है हमारा ज्ञेय अन्तर्जगत् है। इसलिये सब कुछ ज्ञान से ही बना है। ज्ञेय ज्ञान का ही आकार विशेष है। प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला परिवर्तन ज्ञान का ही रूप

है। जिस प्रकार स्वप्नजगत् में ज्ञान ही ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय बन जाता है उसी प्रकार जगत् में सब कुछ ज्ञान रूप ही है। परिवर्तन भी स्थिर आधार के बिना नहीं हो सकता। जड कर्म स्वय उत्पन्न लीन नहीं हो सकता है प्रात काल हमारे उठने की क्रिया ज्ञान के बिना सम्भव नहीं अकर्म को कर्म का आधार चाहिये। अत कर्म प्रपञ्च असत्य है।

व्योमवाद

सृष्टि के सम्बन्ध में एक मत यह है कि भूत भौतिक पदार्थ आकाशगुणक शब्दतन्मात्रा का परिणाम है। अत सबका मूल आकाश है। निरन्तर एक शब्द के उच्चारण से शब्द पिण्ड में परिणत हो जाता है। जहाँ कोई शब्द सुनाई नहीं देता है वहाँ भी नाद रूप शब्द है। रूप आकाश से बनता है और नाम शब्द से। अत नाम रूपात्मक जगत् शब्दात्मक आकाश का ही परिणाम है।

वेद में परम व्योम और भूताकाश में अन्तर किया गया है। परम व्योम अमृत है। इसमें सहस्राक्षरा वाक् रहती है। इसे अक्षर कहा जाता है। नाद के रूप में बोली गयी हमारी वाक् भूताकाश म रहती है। परम व्योम में रहने वाली सूक्ष्मवाक् स्वय ब्रह्म है।

प्रसिद्ध है कि कारण सूक्ष्म होता है कार्य स्थूल होता है। सृष्टि पञ्चभूतों से बनी है। उनमें आकाश ही सूक्ष्मतम है। अत आकाश ही सृष्टि का कारण होना चाहिये—*परमे व्योमन् अधारयद्रोदसी सुदसा*। ऋक् स १/६२/७।

आकाश का एक पर्यायवाची शून्य है। शून्य का अर्थ है जिसमें श्वन् है। श्वन् इन्द्र का नाम है—*शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्*। (ऋग्वेद ३ ३० २२) इन्द्र ऊर्जा है—*या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्* (निरुक्त ७ १०० २) अभिप्राय यह है कि आकाश में ऊर्जा परिपूर्ण है। यह ऊर्जा ही नाना रूप धारण करती है—*रूप रूप मघवा बोभवीति* (ऋग्वेद ३ ५३ ८) तथा *इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते* (ऋग्वेद ६ ४७ १८)। अभिप्राय यह है कि आकाश में व्याप्त ऊर्जा ही विश्व को जन्म देती है।

सभी अवयवी सान्त आकाश के अवयव नहीं हैं। अत आकाश अनादि है। दाल्भ्य चकितायन का मत है कि द्यौ अन्तिम कारण है। शालावत्य शिलक का मत है कि पृथ्वी अन्तिम कारण है। किन्तु प्रवाहण जैवलि का मत है कि आकाश और पृथ्वी दोनों ही अवयवी हैं इसलिए आकाश ही अन्तिम कारण है। प्रवाहण जैवलि का कहना है कि आकाश सूक्ष्मतम है। अत वही कारण हो सकता है क्योंकि कारण सदा कार्य की अपेक्षा सूक्ष्म होता है। दूसरा कारण यह है कि आकाश अनादि है। अत उसका कोई कारण नहीं। इसलिए उसे ही मूल कारण मानना चाहिए। तीसरा कारण यह है कि सर्वत्र द्वैत है किन्तु आकाश में कोई द्वैत नहीं। अत यह अनुमान किया जा सकता है कि आकाश ही सबका मूल कारण है।

आकाश एक रूप है। इसमें अनेकता वायु की गति के कारण होती है। प्रथम द्वैत रस और अमृत का है। रस गतिशील है अमृत स्थिर है। रस के भी दो रूप हैं—ज्योति और आप। ज्योति और आप सान्त हैं मर्त्य हैं। वे आकाश से ही उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही लीन हो जाते

है। दूसरी ओर नाम और रूप अमृत में टिके हैं। ज्योति ऋक् यजु और साम है। नाम रूप और क्रिया की समष्टि आप है। इन्हें वैदिक भाषा में अभ्व कहा जाता है। अभ्व का अर्थ है पहले नहीं है मध्य में है और अन्त में भी नहीं जो निरात्मक होते हुए भी ऐसा लगे मानों आत्मा से अन्वित है। जिस प्रकार घडा मिट्टी स उत्पन्न होता है और फिर नष्ट हो जाता है उत्पन्न होने स पहले और बाद में नहीं रहता है। उसी प्रकार अभ्व का स्वरूप समझना चाहिये। जिस प्रकार मधु स्वय अमृत है उसमें तुल्य मात्रा में घृत मिला देने से विष उत्पन्न होता है। यह विष पहले नहीं था किन्तु अब यह है। अब वह मिथ्या नहीं है प्रत्युत ब्रह्म रूप है। शतपथ ब्राह्मण का कहना है कि नाम और रूप दो बडे अभ्व हैं। ये दोनों यक्ष हैं अर्थात् इन्हें समझा नहीं जा सकता। तैत्तिरीय ब्राह्मण में दो बडे अभ्व हैं। य दोनों यक्ष हैं अथात् इन्हें समझा नहीं जा सकता। तैत्तिरीय ब्राह्मण में नाम और रूप को प्रजापति बताया है—*रूप वै प्रजापति नाम वै प्रजापति*। **(तैत्तिरीय ब्राह्मण २ २ ७ १)** स्पष्ट है कि ये दोनों मिथ्या नहीं हैं। अपने शब्द गुण द्वारा आकाश नाम का मूल स्रोत है और सभी पदार्थों को अवकाश प्रदान करने के कारण आकाश सभी रूपों का भी मूल स्रोत है। आकाश में जो अन्तराल है वही एक रूप को दूसरे रूप से भिन्न करता है। इस प्रकार आकाश ही सृष्टि का मूल कारण है।

आकाश नाम और रूप से रहित है। भू, भुव स्व मह जन तप और सत्यम् ये सात लोक आकाश में है। इनमें प्रथम पाँच मर्त्य हैं। अन्त के दो अमृत हैं। आकाश में पञ्चभूत मर्त्य हैं प्राण और प्रज्ञा दो अमृत हैं। रूपवान् भू लोक है। द्रव भुव है—ऊर्ध्व सञ्चारी स्व है। तिर्यक्प्रसार करने वाला मह है। अदृश्य वायु है। अचर जन है। जहाँ भूत मात्रा नहीं है वह तपो लोक है। जहाँ प्रज्ञा है वह सत्य है। सत्य स परे कुछ नहीं है। इन सात लाकों का दूसर प्रकार से भी कहा गया है १ पञ्चभूत भू है २ चतुर्भूतात्मक भुव है ३ तेजोमय वायु है। ४ शब्दमय मह है ५ भूतानुशय जन है। ६ गन्धहीन तप है। ७ प्रज्ञायुक्त सत्य है। इन सात में पहले पाँच लोक मर्त्य है। इनमें क्रमश पाँच तत्त्व है। भू में पाँचों तत्त्व है और जन में कवल एक है। यह क्रम इस प्रकार है—

भू — पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश।
भुव — जल अग्नि वायु आकाश
स्व — अग्नि वायु, आकाश
मह — वायु आकाश
जन — आकाश

तपोलाक प्राणमय तथा सत्यलोक प्रज्ञामय है। ये दोनों आकाशातीत हैं। इस प्रकार आकाश से ही पदार्थ उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही लीन हा जाते हैं।

उपाधि के कारण अखण्ड होते हुए भी आकाश खण्डित प्रतीत होता है। आकाश के ये खण्ड आन्द या अण्ड करलाते हैं। क्योंकि ये अण्डाकार होते हैं आइन्स्टीन के अनुसार पदार्थों का आकर्षण क्षेत्र आकाश को अण्डाकार बना देता है। इस कारण आकाश तीन प्रकार का है—सबसे छोटा भाग दहर कहलाता है सबसे बडा भाग उत्तर कहलाता है और बीच का भाग अन्तर कहलाता

है। हमारा हृदय दहराकाश है। शरीर अन्तराकाश है और जहाँ तक हमारी दृष्टि जाती है वह उत्तराकाश है। इसी प्रकार पृथ्वी का केन्द्र दहराकाश है पृथ्वी अन्तराकाश है और पृथ्वी का तेजोमण्डल उत्तराकाश है। ये तीनों महापुराण आकाश में स्थित हैं। यही भूमा है यही सुख है—*भूमा वै सुखम्* ।

श्रुति का कहना है कि सब देवता परमव्योम में प्रतिष्ठित हैं। शब्द आकाश का गुण है आकाश से ही सृष्टि हुई। शब्द का ही विवर्त पदार्थ है। इस प्रकार आम्भृणीसूक्त भी व्योमवाद का ही प्रतिपादन करता है। जिस प्रकार आकाश सूक्ष्म और स्थूल है उसी प्रकार वाणी भी सूक्ष्म और स्थूल है। परमव्योम में रहने वाली सूक्ष्म वाक् अमर है। भूत आकाश में रहने वाली वैखरीवाणी मरणधर्मा है।

शब्द ही वेद के रूप में विश्व को उत्पन्न करता है। व्योम ही परम गति है। व्योम में ही समुद्र टिका है उस समुद्र में सूर्य है तथा सूर्य के अहर्मण्डल में पृथ्वी है अथवा पृथ्वी जल में है जल तेज में तेज वायु में वायु व्योम में। इस प्रकार व्योम ही सबका आधार है। नाम रूप और कर्म का नाम वस्तु है। नाम वाक् रूप है। वह आकाश में है। रूप भी व्यवच्छेद रूप है। वह भी व्योम के बिना नहीं हो सकता। कर्म का आधार ही व्योम है। इसलिये व्योम ही परम गति है।

द्यौ पृथ्वी पिण्डरूप है अत नित्य नहीं है। नित्य तो व्योम ही है। आकाश विभु है। उसका कोई कारण नहीं। उसका न जन्म होता है न मृत्यु न उसका अन्त है न आदि न उसका कोई आधार है। वह स्वय ही अपना आधार है। सभी पदार्थ सविशेष हैं। आकाश निर्विशेष है। अत आकाश ही उनका मूल है। आकाश से रस और ज्योति प्रवृत्त होते हैं। रस स्यन्दमान है अमृत निष्पन्द है। अमृत में ही मर्त्य टिके हैं। स्वय आकाश चेष्टारहित है। उसी में सब चेष्टाए स्थित हैं। सब ज्योति द्यौ रूप है। सब जल पृथ्वी रूप है।

व्योमवाद बहुत सीमा तक विश्व की पहेली को सुलझाने में हमारी सहायता करता है। किन्तु चेतना आकाश से परे है और इस दृष्टि से व्योमवाद के अन्तर्गत जड पदार्थों की उत्पत्ति का रहस्य तो एक सीमा तक सुलझ सकता है किन्तु चेतना की उत्पत्ति रहस्य ही बनी रहती है। इसलिए व्योमवाद भी अन्य वादों की तरह ब्रह्मवाद के बिना अधूरा ही है।

व्योमवाद के अन्तर्गत वैदिक चिन्तन के कुछ महत्त्वपूर्ण चिन्तन उभर आते हैं—

१ आकाश खाली जगह का नाम नहीं है। उसमें सर्वत्र ऊर्जा व्याप्त है।
२ आकाश सपाट न होकर अण्डाकार है।
३ शब्द आकाश का गुण है।

वेद विज्ञान की मान्यताओं पर आधुनिक विज्ञान को ऊहापोह करना चाहिये। व्योमवाद के अन्तर्गत यह विषय ही चिन्तनीय है कि पदार्थों का मूल परमाणु को न मानकर आकाश को माना गया है। यूनानी दार्शनिक जल वायु अथवा अग्नि को तो सृष्टि का मूल मानते थे किन्तु आकाश को सृष्टि का मूल मानने का सिद्धान्त भारतीयों की ही देन है। इसका कारण यह है कि भारतीय आकाश को यूनानियों के समान खाली स्थान नहीं मानते हैं। अपितु ऊर्जा से परिपूर्ण मानते थे।

अपरवाद

नासदीय सूक्त में इस वाद का उल्लेख शब्दश नहीं है। वेद का पाठ है—*व्योमा परो यत्* यहाँ 'पर' शब्द है अपर' नहीं। इस पर' का भी सम्बन्ध व्योम से है। यह स्वतन्त्र शब्द के रूप में नहीं है इसलिए डॉ वासुदेवशरणअग्रवाल ने इस वाद का नाम अपरवाद न देकर परापरवाद दिया है।

पर का अर्थ है पुरुष अपर का अर्थ है प्रकृति। इस मत के अनुसार सृष्टि का मूल सृष्टि में ही खोजा जा सकता है। विविध गुणों और कर्मों से युक्त पदार्थ पारस्परिक सहयोग से सृष्टि को जन्म देता है। पानी का सहयोग पाकर मिट्टी औषधि बन जाती है और वही औषधि शुष्क नीरस वायु का सयोग पाकर पुन मिट्टी बन जाती है। इस प्रकार पदार्थ ही सयोग और वियोग से सृष्टि की उत्पत्ति कर लते हैं। समस्त पदार्थ भूत ही हैं। अत भूत से बाहर सृष्टि का मूल खोजना व्यर्थ है।

विश्वोत्तीर्ण पर है विश्वात्मक अपर है। पर को परस्तात् कहा है। अपर को अवस्तात् कहा है। इसका मत का सङ्केत ऋग्वेद में मिलता है—*यथा न पूर्वमपरो जहाति* (ऋग्वेद १० १८,५)। अपरवाद का दूसरा नाम स्वभाववाद भी है। वस्तुत अपरवाद के पाँच रूप हैं—१ लोकायतवाद २ परिणामवाद ३ यदृच्छावाद ४ नियतिवाद तथा ५ प्रकृतिवाद। अत नीचे हम इन्हीं पाँच शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णन करेंगे—

लोकायत मत

लोकायत मत है कि यह सृष्टि वायु तेज जल तथा पृथ्वी से बनी दृष्टिगोचर होती है। अत ये भूत इसके कारण हैं। इन्हीं से चेतना उत्पन्न हो जाती है मरणान्तर में कुछ शेष नहीं रहता। बृहस्पति तथा उनके शिष्य चार्वाक इस मत के समर्थक थे। दशवादरहस्य ग्रन्थ में वाक् सूक्त को उद्धृत करन का प्रयाजन इसी लाकायत मत का समर्थन है क्योंकि वेद में वाक् भूत का पर्यायवाची है।

परिणामवाद

भौतिक पदार्थों में स्वभावत भिन्न भिन्न परिणाम हात हैं जिनक कारण यह विविध प्रकार की सृष्टि बन जाता है। पराशर का मत था कि इन विविध परिणामों का स्वभाव के अतिरिक्त अन्य काई कारण नहीं। वह पुरुषार्थवाद का विरोधी था।

यदृच्छावाद

यदृच्छावाद क अनुसार सब कुछ आकस्मिक है। उसका कारण ढूँढना व्यर्थ है। हम दो चीजों को बारम्बार साथ दखन से कार्यकारण की कल्पना कर लेते हैं। मिट्टी से पानी बन जाता है पानी से मिट्टी। ऐसी स्थिति में किसे कारण कहें किसे कार्य? सुख दुख अकारण काकतालीय न्याय से प्राप्त होते रहते हैं। बादलों का घिर आना आँधी का चलना आदि सभी कुछ ता अकस्मात् ही हाता रहता है। अत कारण की खोज का कोई अर्थ नहीं है।

नियतिवाद

नियतिवादी पूरण काश्यप आदि का कहना है कि यदृच्छावाद ठीक नहीं है। तिल आदि नियत पदार्थों से ही तेल आदि नियत पदार्थों की उत्पत्ति इस बात की सूचक है कि सब कुछ नियत है। सृष्टि का कारण कुछ भी हो वह नियति के अनुसार ही कार्य को जन्म दे सकता है अत नियति ही मुख्य है।

प्रकृतिवाद

आसुरि तथा पञ्चशिख प्रकृतिवादी साङ्ख्यमतानुयायी हैं। उनके अनुसार पुरुष तथा गुणों का अयुतसिद्ध सम्बन्ध है। कर्तृत्व गुणविशिष्ट पुरुष में होता है। वस्तुत कर्तृत्व प्रकृति में ही है पुरुष में नहीं। अहङ्कारवश पुरुष अपने में कर्तृत्व मान लेता है। गुणों में सम्मिश्रण करता है स्वभाव परिणमन करता है तथा कर्म सृष्टि करता है। ये काल स्वभाव तथा कर्म त्रिगुणात्मक प्रकृति के हैं पुरुष के नहीं। इन गुणों में सत्त्व पुरुष के निकटतम है। सत्त्वगुण स्थिति का हेतु है रजस् प्रवृत्ति का तथा तमस् निवृत्ति का। जब तक ये गुण साम्यावस्था में रहते हैं प्रकृति कहलाते हैं विषमता को प्राप्त होने पर ये ही गुण महत् कहलाने लगते हैं। महत् से अहङ्कार उत्पन्न होता है जिसके तीन भाग हैं—द्रव्य क्रिया तथा ज्ञान। द्रव्य पदार्थ है क्रिया बल तथा ज्ञान प्रज्ञा है। सत्त्व द्रष्टा है तमस् दृश्य। रजस् इन दोनों को जोडने वाला सूत्र है। अहङ्कार से त्रिविध सृष्टि होती है—रजोगुण से इन्द्रिय अथवा तेज अथवा प्राण तमोगुण से भूत तथा सत्त्व से देवसृष्टि। भूतसर्ग है—शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध। इन्द्रियसर्ग है—वाक् कर पाद उपस्थ वायु श्रोत्र प्राण जिह्वा दृक् तथा त्वचा। इनमें प्रथम पाँच कर्मेन्द्रिया हैं अन्तिम पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। दिक् श्रुति का वायु त्वचा का रवि दृष्टि का विष्णु पाद का प्रजापति उपस्थ का तथा मित्र वायु का देवता है। विकल्प से प्रचेता के स्थान पर वरुण अश्विनी के स्थान पर पृथ्वी अग्नि के स्थान पर बृहस्पति तथा दिक् के स्थान पर व्योम को रखा जाता है। अन्य मतानुसार भूत पाँच हैं तो ज्ञानेन्द्रिया भी पाँच ही हैं तथा उनके देवता भी अग्नि वायु सूर्य चन्द्र तथा दिशा ये पाँच ही हैं। द्रव्य से उत्पन्न शक्तियुक्त भूत है ज्ञान तथा क्रिया की शक्ति से युक्त इन्द्रियाँ हैं। शरीर की लोमत्वगादि में कुमाराग्नि काम कार्य कर रही हैं इन्द्रियाँ में तैजस देवता। कौमार सर्ग मर्त्य है तैजस अमृत। अधिप्रज्ञ से ५ देव अधिप्राण से ५ इन्द्रियाँ तथा अधिभूत से पञ्चतन्मात्रायें होती हैं। पञ्चतन्मात्राओं में क्रमश एक एक की वृद्धि से पच महाभूत बनते हैं। शब्द से आकाश शब्द तथा स्पर्श से वायु शब्द स्पर्श तथा रूप से अग्नि शब्द स्पर्श रूप तथा रस से जल एव शब्द स्पर्श रूप रस तथा गन्ध से पृथ्वी होती है।

सर्ग नौ हैं—महान्, अहङ्कार तन्मात्र ऐन्द्रियक वैकारिक महाभूत मुख्य तिर्यक् तथा सुकृत। इनमें मुख्य का अर्थ है स्थावर जो छ हैं—तृण गुल्म वीरुत्, (पृथ्वी पर फैलने वाली) लता (पेडों पर चढने वाली) औषधि (फलपाक के साथ ही समाप्त हो जाने वाली) तथा वनस्पति (पुष्प सहित) तिर्यक् एक शफवाले दो शफवाले पञ्चनख तथा पखों वाले—इस प्रकार चार हैं। सुकृत मनुष्य हैं।

सृष्टि का सञ्चक्रम यह है—प्रकृति से महान्, महान् से अहङ्कार अहङ्कार से मात्रा तथा मात्रा से अनुग्रह सर्ग उत्पन्न होता है। अनुग्रहसर्ग से धातुसर्ग होता है। धातुसर्ग का अर्थ है शरीर घटक त्वक् रुधिरादि। प्रतिसञ्चार अर्थात् प्रलय का क्रम इसके विपरीत है।

वाक् तथा अपरवाद

आम्भृणी सूक्त भी अपरवाद का ही प्रतिपादन करता है। इस सूक्त में कहा गया है कि वाक् ही जगत् को उत्पन्न करती है। वाक् अपरव्योम से जुड़ी है क्योंकि अपरव्योम ही निरुक्त है परव्योम तो अनिरुक्त है। अपरव्योम से जुड़ा होने के कारण वाक् सिद्धान्त भी अपरवाद में ही समाविष्ट हो गया।

अपरवाद के उपर्युक्त सभी प्रकार सृष्टि के मूल सृष्टि के भीतर ही खोज रहे हैं। किसी पर (अव्यय) पुरुष में नहीं अत यह सभी अपरवाद में ही समाविष्ट है।

आवरणवाद

पाँचवा मत आवरणवाद का है। आवरण का अर्थ है पदार्थ का बाह्य रूप। वस्तुत जितने पदार्थ हैं वे कोई न कोई आकार धारण किये हुए हैं। सजातीय कारण से ही सजातीय कार्य उत्पन्न होता है। अत इस आवरण रूप सृष्टि का आवरण ही कारण होना चाहिये। वेद में इस आवरण को वयुन कहा गया है। इसे छन्द भी कहते हैं। वयुन आवरण है। उस आवरण से ढका हुआ पदार्थ वयोनाध है। तथा उस पदार्थ में रहने वाला प्राण वय है। इसीलिये वय का अर्थ आयु होता है प्रत्येक पदार्थ के छन्द का आकार प्राण के कारण होता है। यह प्राण ही वयोनाध है। पदार्थ तमोगुण प्रधान है इसलिये इस मत के मानने वाले तमोगुण को ही सृष्टि का मूल कारण मानते हैं—*तम आसीतमसा गूढमग्रे*। ऋक् सं. १०/१२९/३। मनु ने इस सिद्धान्त का इन शब्दों में परिचय दिया है—

आसीदिद तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्य प्रसुप्तमिव सर्वत ॥ (मनुस्मृति १ ५ १)

ऋग्वेद में कहा गया है कि विश्व की प्रमा क्या है और प्रतिमा क्या है? प्रमा नाम प्रमाण का है प्रतिमा आदर्श अथवा मॉडल है। प्रतिमा के अनुसार प्रमाण को ध्यान में रखकर सृजन किया जाता है। इसी प्रक्रिया को वेद में विमान कहा गया है। प्रमा के अनुसार पदार्थ की लघुता गुरुता निश्चित की जाती है। यह प्रमा ही वेदान्त में माया कही गयी है।

पदार्थ के परिमाण को आवरण निश्चित करता है। आवरण ही पदार्थ के स्वरूप को बनाता है। आकाश एक महा आवरण है। उसमें छोटे छोटे आवरण पदार्थों के हैं। वेद में आवरण का नाम शर्म है। शर्म चर्म का ही दूसरा नाम है। भूतजगत् में चर्म शब्द का प्रयोग होता है प्राण सृष्टि या देव सृष्टि में शर्म शब्द का प्रयोग होता है। यज्ञ में कृष्ण मृग का जो चर्म पहना जाता है वह शर्म का प्रतीक है। प्राण वय है। वस्तु वयुन है। परिच्छेद वयानाध है। वय और वयोनाध मिलकर वस्तु को जन्म देते हैं। वस्तु का भार वय से निर्धारित होता है। उसकी सीमा वयोनाध

से निर्धारित होती है। यह दोनों मिलकर वस्तु का स्वरूप बनाते हैं। इनमें वयोनाध ही छन्द है। यही आवरण कहलाता है। छन्द पदार्थ की सीमा बाँधता है। छन्द भी एक प्राण ही है। प्राण ही वय है प्राण ही वयोनाध है। इस प्रकार प्राण ही प्राण को आच्छादित किये हैं। प्राण का एक नाम गोपा है क्योंकि यह सबका गोपन करता है। प्राण कभी विश्राम नही करता। यही विश्व में व्याप्त हैं।

भूत छन्द से आच्छादित है। छन्द अथवा आच्छादन दो प्रकार का है—धर्मकृत् तथा सीमाकृत्। धर्म अथवा सीमा के बदलने से वस्तु बदल जाती है। वस्तु परिच्छिन्न होकर ही प्रतीति में आती है। छन्द ही वस्तु को परिच्छिन्न करते हैं। अत छन्द ही सबका कारण है।

अम्भोवाद

एक मत यह है कि जगत् का मूल कारण आप है। आप के अनेक नाम हैं—सलिल समुद्र सोम ऋतम्, अर्णव। अर्णव से सूर्य होता है सूर्य से अग्नि होती है। इस प्रकार जल से ही अग्नि होती है—*अग्निर्हि न प्रथमजा ऋतस्य* (ऋग्वेद १० ६.७) ।

यदि हम अपने शरीर को देखें तो भी और पृथ्वी को देखें तो भी जल की मात्रा सर्वाधिक है। इसलिये सृष्टि का मूल तत्त्व जल है। इस सिद्धान्त का शास्त्रों में बहुत विस्तार है। प्रमाण के रूप में अनेक पङ्क्तिया उद्धृत की जा सकती हैं—*प्र सु व आपो महिमानमुत्तम*। ऋक् स १०/७५/१ अन्यत्रापि ऋक् स ६/५०/७ १/११०/१ शत.ब्रा. ११/१/६/१, १/१/१/१४, ६/१/१/८, १०/५/४/१५, १०/५/४/१४, ४/५/२/१४।

लोक का निर्माण अप तत्त्व से होता है। वायु के प्रवेश से जल ही मिट्टी का रूप धारण कर लेता है। अन्तरिक्ष में भी जल ही है और चन्द्रमा सोम का रूप है। सोम भी जल का विरल रूप ही है। स्वय सूर्य भी मरीचि जल से बना है। हमारा शरीर शुक्र और शोणित से बना है। जहाँ तक भूतात्मा का प्रश्न है। भूतात्मा अन्न रस मय है। अन्न पानी का रूपान्तर है। इस प्रकार भूतात्मा भी जल से ही बना है।

सूर्य जल में ही टिका है। जल का अर्थ है शक्ति का समान वितरण। यह भृगु और अङ्गिरा प्राणों का समन्वय है। भृगु और अङ्गिरा के बीच ही त्रयी प्रतिष्ठित है। साम्य अवस्था आप है। गति से सृष्टि होती है। ऋक् व्यास है। साम परिधि है। यजु व्याप्त वस्तुतत्त्व है। परिधि से केन्द्र के प्रति गति आगति है। इस भृगु प्राण कहते हैं। केन्द्र से परिधि के प्रति गति अङ्गिरा प्राण है। ये दोनों ही केन्द्र को व्यास और साम से जोड़ते हैं। इसलिये गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि ऋक् यजु और साम की त्रयी भृगु और अङ्गिरा में ही स्थित है।

भूमि को खोदें तो जल मिलता है। आकाश से भी जल ही बरसता है। इसलिये शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि पहले सर्वत्र जल ही था। जल से सत्य उत्पन्न हुआ। सत्य ही ब्रह्म है। ब्रह्म ही प्रजापति है। प्रजापति देवताओं को जन्म देता है। देवता सत्य की उपासना करते हैं। जल की तीन प्रकार की गति है—तिर्यग् गति ऊर्ध्वगति और अधोगति। ऊर्ध्वगति से तनुता उत्पन्न होती है। अधोगति से घनता उत्पन्न होती है। तिर्यग् गति से न तनुता उत्पन्न होती है न

घनता। तनुता के क्रम में अग्नि से वायु वायु स वाक् वाक् से प्राण और प्राण से मन की उत्पत्ति होती है। घनता से वृक्ष के शरीर की उत्पत्ति होती है। घन द्रव बन कर तनु हो जाता है। तनु द्रव बन कर घन हो जाता है। यह चक्र चलता रहता है। इस चक्र का आलम्बन जल ही है। जल का सम्बन्ध परमेष्ठी लोक से है। परमेष्ठी से पूर्व स्वयम्भू की सृष्टि प्राणसृष्टि है। वह मानसी है। प्रथम मैथुनी सृष्टि याज्ञिक आपोमय परमेष्ठी से होती है। अत सृष्टि जल से हुई। उल्लेखनीय है कि जड क सन्दर्भ में जो घन है चेतना के क्षेत्र में वही प्रेम है तथा जड की भाषा में हम जिसे तनुता कहते हैं चेतना की भाषा में वही विद्वेष है। प्राण सृष्टि मानसी है। इसमें ससर्ग का भाव नहीं है इसलिये इसमें ग्रन्थि बन्ध भी नहीं है। मन के बिना प्राण और वाक् नहीं हो सकते। मन की इच्छा से आकाश में रहने वाले वायु में क्षोभ उत्पन्न होता है। इस क्षोभ के घर्षण से ही आप की उत्पत्ति होती है। इसलिये कहा जाता है—*अग्नेराप* और इसलिये आप को सर्वप्रथम सृष्टि माना है—*अप एव ससर्जादौ*।

उपनिषद् के अनुसार प्रथम सृष्टि असत् थी। असत् का अर्थ है ऋषि और ऋषि का अर्थ है प्राण। सृष्टि का अर्थ ससर्ग भाव है। प्राण असङ्ग है अत प्राण मानसी सृष्टि है। स्वयम्भू मण्डल में प्राण है। यह प्राण ब्रह्मनिश्वसित वेद है। इसमें ऋक् यजु साम है। यजु के दो भाग हैं यत् आर जू। यत् प्राण ह जू वाक् ह। वाक् आकाश है प्राण वायु ह। यह प्राण आर वाक् मन सहित है। मन की इच्छा से आकाश में रहने वाली वायु में क्षोभ उत्पन्न होता है। उस क्षोभ के कारण वायु में घर्षण होने से प्राणाग्नि से जल उत्पन्न होता है। दुख या श्रम में शरीर में अग्नि अधिक हान पर असुर उत्पन्न हा जाता है। ऊष्मा के अधिक बढने पर वर्षा होने लगती है। अभिप्राय यह है कि अग्नि से आप की उत्पत्ति होती है। प्राण असङ्ग था। पानी के उत्पन्न होते ही उसमें ससर्ग उत्पन्न हुआ। इस जल के गर्भ में ही सूर्य का जन्म होता है। सूर्य इस आपोमय मण्डल से नीचे है। यह आपोमय मण्डल परमेष्ठी कहलाता है।

परमेष्ठी में स्नेह तत्व भृगु है और तैजस तत्व अङ्गिरा है। भृगु साम है अङ्गिरा अग्नि है। तेजोमूर्ति अङ्गिरा का ही विरल रूप सूर्य है और अद्भ्य पृथ्वी के अनुसार पृथ्वी भी आपोमयी है। भृगु और अङ्गिरा दोनों आपोमय हैं ही। अङ्गिरा के तीन तत्वों में अग्नि से वाक् वायु से प्राण और आदित्य से चक्षु का विकास होता है। भृगु के विरल रूप सोम के दो भेद हैं भास्वर सोम तथा दिक् सोम। भास्वर साम मन और प्राण के मध्य है जो चन्द्रमा के रूप में है जो स्वय दिव्य मन से उत्पन्न हुआ है। दिक् सोम प्राण और वाक् के बीच है जो चार दिग् बिन्दुओं के मध्य घिरा हुआ आकाश है जिसे मण्डल भी कहा जाता है। दिक् साम से श्रोत्र तथा भास्वर सोम स इन्द्रिय मन निष्पन्न होता है। अग्नि में सोम की आहुति होना यज्ञ है। भृगु और अङ्गिरा का प्रादुर्भाव परमेष्ठी स है। इसलिये परमेष्ठी ही यज्ञ के प्रवर्तक हैं। यह यज्ञ आप रूप है।—यज्ञो वा आप। स्थूल जल परमेष्ठी क अम्भ नामक वायु और पवमान क रासायनिक मिश्रण से उत्पन्न होता है। पानी को ऋत कहा जाता है—*ऋतमेव परमेष्ठी*।

पानी सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। पानी का अर्थ ऋत् तत्त्व है। इसके दो रूप हैं—भृगु और अङ्गिरा। भृगु की तीन अवस्थाए हैं—आप वायु और सोम। इस अम्भ का उत्पत्ति स्थान परमेष्ठी

।परमेष्ठी का यससे अधिक मात्रा गङ्गा में है इसलिये गङ्गा को विष्णु के चरणों से उत्पन्न माना गया है। अम्भ ऋत समुद्र है। रसमय होने के कारण इसे सरस्वान् कहा जाता है। सरस्वान् परमेष्ठी मण्डल है। परमेष्ठी मण्डल की वाक् सरस्वती कहलाती है। इस ऋत में ही सत्य भी बन्द होता है क्योंकि सत्य सदा ऋत से ढका रहता है। पिण्ड के चारों ओर रिक्त स्थान रहता। इस रिक्त स्थान में भृगु के तीनों रूप आप वायु और सोम रहते हैं। ये तीनों ही भृगु रूप। रिक्त स्थान में ऋत रूप वायु भरा है। इसलिये सब कुछ ऋत पर ही आश्रित है।

ऋतमेव परमेष्ठी ऋतं नात्येति किञ्चन।
ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरियं श्रिता॥

—गोपथ ब्राह्मण

पृथ्वी पिण्ड के चारों ओर भू वायु है। इसे एमूषवराह कहा जाता है। प्रत्येक पिण्ड के चारों ओर वायु का जो स्तर रहता है वह भृगु वायु है। उसे शिव वायु भी कहते हैं।

प्रजापति के चार मुख हैं—प्राण आप वाक् और अन्नाद। इन चारों मुखों में दूसरा मुख आपोमुख है उसी से लोक सृष्टि होती है। अतः आप सातों लोकों में व्याप्त है। शरीर का निर्माण भी शुक्र से होता है। शुक्र जल रूप ही है। वृहदारण्यक उपनिषद् में यह बताया गया है कि पाँचवीं आहुति में पानी पुरुष कहलाने लगता है—पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति। ये पाँच आहुतियाँ हैं—द्यु पर्जन्य पृथिवी पुरुष और योषा। इन अग्नियों में पानी को श्रद्धा कहा गया है। शरीर में भी पानी का भाग अधिक है। पृथ्वी पर भी तीन भाग पानी और एक भाग पृथ्वी है। आप का अर्थ ही सर्वव्यापक है।

सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेवास्य सा असृज्यत। सा इदं सर्वमाप्नोत्
यदिदं किञ्च। यदाप्नोत् तस्मादापः। यदवृणोत् तस्मात् वा (वारि)(शतपथ ६/१/१/७९)

महाभारत में भी सर्वमापोमयं जगत् कहा गया है।

जल का देवता वरुण है। प्रकाश का अधिष्ठाता इन्द्र है। ताप का देवता अग्नि है। सूर्य का सम्बन्ध अग्नि और इन्द्र दोनों से है। इसलिये उसमें ताप और प्रकाश दोनों हैं। वरुण का इनसे विरोध है इसलिये जहाँ वरुण होता है वहाँ ताप और प्रकाश नहीं होता।

स्त्री और पुरुष के सन्दर्भ में पाना याना है अग्नि वृषा है। योषा स्त्री है वृषा पुरुष है। स्त्री और पुरुष में रहने वाले प्राण का नाम ही योषा और वृषा है। यदि यह प्राण न हो तो सन्तान उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसके विपरीत योषा वृषा प्राण परस्पर मिल जायें तो स्त्री पुरुष के मिले बिना भी सन्तान को जन्म दे सकती है। यदि योषा वृषा प्राणों का मिलान की प्रक्रिया जान ली जाय तो नई सृष्टि बनाई जा सकती है। विश्वामित्र ने इसी आधार पर त्रिशङ्कु के लिए नई सृष्टि का निर्माण करने की बात उठाई थी। शास्त्रों में आप लोक को नभ देव लोक है। यह आप सोम है और अमृत रूप है—*अमृतं ह्यापः* (ताण्ड्य ब्राह्मण ९,६,६,३) जिस प्रकार भृगु के तीन अङ्ग हैं अङ्गिरा के भी तीन अङ्ग हैं—अग्नि वायु और आदित्य। इन तीनों में भी आप ही व्यापक है। अम्भोवाद के अनुसार समस्त सृष्टि जल [illegible] हुई—*आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्।* यह आप [illegible]

सलिल रूप में परिणत होता है। यह सलिल रूप ऋत रूप है। यह ऋत भृगु और अङ्गिरा का समष्टि है। भृगु घन तरल विरल तीन रूप है आप वायु और सोम। अङ्गिरा के भी तीन रूप हैं अग्नि यम और आदित्य। आप वायु और सोम ऋत रहते है। अग्नि यम और आदित्य सत्य का रूप धारण कर लेते हैं। किन्तु अङ्गिरा का कुछ रूप ऋत रहता है कुछ रूप ही सत्य बन पाता है। आपोमय समुद्र में अंगिरा अग्नि परमाणु रूप में सर्वत्र व्याप्त है। प्रजापति की कामना से जो प्राण का व्यापार होता है वह तप कहलाता है तथा वाक् व्यापार श्रम कहलाता है। इस तप और श्रम से आग्नेय परमाणुओं में संघात होने लगता है। यह यज्ञ वराह का रूप है। इसी ऋत से सत्य उत्पन्न होता है। स्वयम्भू का वराह आदि वराह है। परमेष्ठी का यज्ञ वराह सूर्य का श्वेत वराह पृथ्वी का एमूष वराह और चन्द्रमा का ब्रह्म वराह। इस प्रकार पाँच वराह पाँच मण्डलों को जन्म देते हैं।

आप की गहराई में सूर्य प्रतिष्ठित है यही कूर्मावतार है—

अपां गम्भन्त्सीद मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः।
अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम्॥
—यजु संहिता १३/३०

आप अङ्गिरा का आग्नेय भाग सत्य रूप में परिणत होता है—*तद्यत् तत् सत्यमाप एव तत्। आपो वै सत्यम्।* आपोमय मण्डल से सर्वप्रथम सूर्य उत्पन्न हुआ। यही सूर्य ही ब्रह्म रूप में वेदत्रयी बना। यह सूर्य अग्निमय है सत्य रूप है स्वयम्भू प्राणमय है जिसका अधिष्ठाता ब्रह्मा है। परमेष्ठी आपोमय है उसका अधिष्ठाता विष्णु है। सूर्य वाङमय है उसका अधिष्ठाता इन्द्र है। अन्नादमय पृथ्वी का अधिष्ठाता अग्नि है तथा अन्नमय चन्द्रमा का अधिष्ठाता सोम है।

शरीर के जिस भाग में जल नहीं है वह अपवित्र है। जैसे केश और नख। वस्तुत जल ही पवित्र करता है। पानी बहुत शक्तिशाली है इसलिए वज्रा वा आपः कहा जाता है। पानी जिस स्थान पर गिर वहाँ खड्डा बना देता है और जहाँ ठहर जाता है वहा वृक्षों को जला देता है। यही उसका वज्रत्व है।

गोपथ ब्राह्मण में श्रम और तप के द्वारा आप की उत्पत्ति का उल्लेख इस रूप में है कि तप से जो आर्द्रता उत्पन्न होती है वह आनन्द रूप है वही सुवेद है। उस सुवेद को ही स्वेद कहा जाता है—*ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् स्वयन्त्वेकमेव। तदभ्यश्राम्यत् समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहः। यदार्द्रम् अजायत तेनानन्दत्। सुवेदो ऽभवत्। क वा एत "सुवेद" सन्त स्वेद इत्याचक्षते। स भूयः समतपत्। तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्तेभ्यः पृथग् स्वेदधाराः प्रास्यन्दन्त।* (गोपथ ब्राह्मण १ १ २) ।

इस प्रकार ब्रह्म के तप से उत्पन्न आप यदि स्वेद है तो वरुण के तप से उत्पन्न आप श्रद्धा नामक अम्भ तत्त्व है। सौर रौद्र तप से उत्पन्न आप मरीचि है। अम्भ का सम्बन्ध गङ्गा से है जो सोम के सम्बन्ध से शीत प्रकृति वाली है। मरीचि का सम्बन्ध यमुना से है जो सौर सम्बन्ध से अग्नि प्रकृति है। अध्यात्म में बाद्धिक श्रम के तप से जो अश्रु उत्पन्न होते हैं वे परिश्रमाश्रु अथवा

मदकण कहलाते हैं। इन अश्रुओं से शान्तानन्द की प्राप्ति होती है। वैष्णव तप कर्म प्रधान श्रद्धा वात्सल्य स्नेह आदि मानसिक तप हैं जो श्रम कहलाता है। इससे प्रेमाश्रु उत्पन्न होता है। रौद्र तप शारीरिक श्रम है जिससे सर्वाङ्ग से स्वेद निकलता है। यही स्वेद यदि अधिक तप से निकले तो रौद्राश्रु कहलाता है। जब तक भौतिक तप के मूल में श्रद्धा स्नेह रूप मानसिक तप न हो और श्रद्धा स्नेह रूप मानसिक तप के मूल में ज्ञान रूप बौद्धिक तप न हो तब तक वह सेवा दृढमूल नहीं होती।

पानी अग्नि की प्रतिष्ठा है। पानी के ही संयोग से औषधियाँ अग्नि द्वारा परिपक्व होती हैं। आप्याग्नि की दो अवस्थाएं हैं—इन्द्र प्रमुख देवताओं के साथ जो आप्याग्नि रहती है वह शुद्ध है वरुण के साथ रहने वाली आप्याग्नि दोषाक्रान्त है। जो अन्न हम खाते हैं उसका रस भाग प्राणेन्द्रियों से युक्त हो जाता है। मल भाग आपोभाग में रह जाता है। सौर प्राण इन्द्र है। आप्य तन्त्र वरुण प्रधान है। निन्यानवे आप्य प्राण असुर हैं सत्ताईस वायव्य प्राण गन्धर्व हैं आठ साम्य प्राण पितर हैं। पानी तरल है। उसके बिना मैथुनी सृष्टि सम्भव नहीं। इसलिए आप को जाया कहा जाता है। आप से ही प्रजा प्रतिष्ठित है। अत उसे धारा भी कहा जाता है—*धारा अभवस्तद्धाराणां धारात्व यच्चासु पुरुषो जायते।* (गोपथ ब्राह्मण १ २)।

अमृतवाद

सत् असत् वाद में सत् का अर्थ भाव और असत् का अर्थ अभाव किया गया है। किन्तु अमृत-मृत्युवाद के अन्तर्गत दोनों को ही भावात्मक माना गया है। प्राणी की अवस्था क्षण क्षण परिवर्तनशील है किन्तु परिवर्तन में अपरिवर्तनीयता अमृत है। ये दोनों ही नित्य नहीं है अमृत में जो नित्यता है वह धारावाहिकता का नाम है और मृत्यु की नित्यता क्षणिकता है। इन दोनों में अन्तरान्तरी भाव है। ये दोनों साथ साथ ही रहते हैं—

अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्— मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति॥ (शतपथ ब्राह्मण १० ५.२४)

इसलिये अमृत और मृत्यु दोनों को ही सृष्टि का कारण मानना चाहिये—*निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च।* यजु स. ३४/३१।

मृत्यु और अमृत का विभाजन सूर्य से होता है। जो सूर्य के पार है वह अमृत है जो सूर्य के नीचे है वह मृत्यु है—

स एष मृत्युस्तद्यत्किञ्चार्वाचीनमादित्यात्सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्—अथ य एनमतः ऊर्ध्वं चिनुते स पुनर्मृत्युमपजयति॥ (शतपथ ब्राह्मण १० ५ १ ४)

अमृत को रस तथा बल को मृत्यु कहा जाता है।

नित्यता अमृत है नश्वरता मृत्यु है। अमृत स्थिति है मृत्यु गति है। एक देव है दूसरा भूत है। एक दिग्कालाद्यनवच्छिन्न है दूसरा दिग्कालाद्यवच्छिन्न है। दोनों को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। अमृत को सोम तथा मृत्यु को अग्नि भी कहा गया है। सोम अग्नि में तथा

अग्नि सोम में बदल जाता है। अमृत सुख है मृत्यु दुःख है। दोनों के बीच अविनाभाव सम्बन्ध है। इस प्रकार के तत्व दो होते हुए भी वस्तुतः एक ही हैं।

अहोरात्रवाद

अहोरात्रवाद दिन और रात नामक दो तत्वों के प्रतीक हैं। इन तत्वों को तेज और स्नेह कह सकते हैं। तेज शुष्क है स्नेह आर्द्र है। तेज ही अह है स्नेह रात्रि है। तेज को अन्नाद अथवा अग्नि भी कह सकते हैं स्नेह को अन्न अथवा सोम भी कह सकते हैं। इन दोनों के सम्मिश्रण से सृष्टि उत्पन्न हुई। दोनों का सम्मिश्रण यज्ञ कहलाता है। यही सृष्टि का मूल है। तेज को ऋषियों की भाषा में अङ्गिरा और स्नेह को भृगु कहते हैं। दिन में सूर्य रहता है वह अग्नि रूप है। रात्रि में चन्द्रमा रहता है वह सोम रूप है। इन दो से ही समस्त संसार बना है—*अग्नीषोमात्मकं जगत्* (बृहज्जाबालोपनिषद् २ ४) अग्नि योनि है। सोम रेत है। इन दोनों की समष्टि ही यज्ञ है। तेज की घन अवस्था अग्नि है तरल अवस्था यम है और विरल अवस्था आदित्य है। स्नेह की घन अवस्था आप है विरल अवस्था वायु है और तरल अवस्था सोम है। वेद कहता है—*विषुरूपे अहनी सम्प्रेते* (ऋग्वेद १ १२३ ७/१ १८५.१) । शतपथ ब्राह्मण में इसी का स्पष्टीकरण इन शब्दों में किया गया है—*इयं वा इदं न तृतीयमस्ति शुष्कञ्चैवार्द्रं च । यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यम्।* (शतपथ ब्राह्मण १ ६ ३ २३) ।

अहोरात्र से अभिप्राय काल से है। काल को ही सृष्टि का कारण मानने वाले अहोरात्र को सृष्टि का कारण मानते हैं। अथर्ववेद में काल को परमदेव बताया गया है—*काल स ईयते परमो देव* (अथर्ववेद १९ ५३ ४५) । अहोरात्र केवल हमारे ही नहीं है ब्रह्मा के भी हैं। सहस्र युगों का ब्रह्मा का दिन है और सहस्र युगों की ही ब्रह्मा की रात्रि है। ब्रह्मा का दिन ही सृष्टि है ब्रह्मा की रात्रि ही प्रलय है। अथर्ववेद के दो काल सूक्तों में अहोरात्रवाद का विस्तार से वर्णन है। जगत् काल के रथ का चक्र है। कालचक्र ही वर्तमान तथा भविष्य का निर्माण करता है। वह स्वयम्भू है काल से ही सूर्य उदित होता है। काल से ही ऋक् और यजु उत्पन्न हुए हैं। काल विराट यज्ञ है। अहोरात्र काल के निदर्शक हैं।

रात्रि प्रकृति है। अह विकृति है। वस्तुतः अहोरात्र अनेक प्रकार के द्वन्द्वों को बतलाता है। उदाहरणतः दिन ज्ञान है रात्रि अज्ञान है। शुक्ल और कृष्ण भी अहोरात्र हैं। प्रकाश और अन्धकार तो अहोरात्र हैं ही। भाव को दिन तथा अभाव को रात्रि कहा जाता है। सृष्टि दिन है प्रलय रात्रि है। द्यौ दिन है पृथ्वी रात्रि है। तेज दिन है स्नेह रात्रि है। पृथ्वी के वाक् प्राण और मन तथा सूर्य के वाक् प्राण और मन इन ■ का ■ दिनों में निर्माण हुआ सातवाँ दिन श्री का है। इसमें आत्मा कृतकृत्य हो जाती है। यही सप्ताह का स्वरूप है। यज्ञ के सन्दर्भ में भी काल महत्त्वपूर्ण है क्योंकि दर्श पौर्णमासादि यज्ञ काल के आधार पर ही होते हैं। अहोरात्रवाद को शिव और शक्ति के रूप में भी समझा जा सकता है।

विज्ञान के क्षेत्र में अग्नि का नाम अह सोम का नाम रात्रि है। अह ज्योतिर्लक्षणसौर मघवन्द्र से युक्त अग्नि तत्व है। कृष्ण सोम रात्रि है। भू पिण्ड का अदिति भाग अह है दिति भाग रात्रि

है। चन्द्रमा अहोरात्र पन्द्रह दिनों के हैं। अह तत्व शुक्ल पक्ष है रात्रि कृष्ण पक्ष है। इसी प्रकार उत्तरायण अह है दक्षिणायन रात्रि है। सृष्टिकाल अह है प्रलयकाल रात्रि है। हमारे दिन रात मानुष हैं चन्द्रमा के कृष्ण पक्ष शुक्ल पक्ष पैत्र अहोरात्र है। उत्तरायण दक्षिणायन दैव अहोरात्र है सृष्टि और प्रलय ब्राह्म अहोरात्र है। जो पितरों का अह है वही देवताओं की रात्रि है। जो देवताओं का अह है वही पितरों की रात्रि है क्योंकि देवता ज्योतिरूप हैं और पितर सोम रूप हैं।

दिन के बारह बजे से रात्रि के १२ बजे पर्यन्त आप्य वरुण प्राण का साम्राज्य है। यह वरुण पश्चिम कपाल है। यह पितरों का अह है तथा देवताओं की रात्रि है। इसलिये पूर्वाह्न देवकाल है। अपराह्न पितृकाल है।

मानुष अहोरात्र की विभाजिका दक्षिणोत्तर वृत्तात्मिका उर्वशी है जो पूर्व पश्चिम कपाल को बांटती है। दक्षिणोत्तर दिक् को बाँटने वाली याम्योत्तर रेखा है जो पितरों के अहोरात्र बनाती है। शुक्लाष्टमी से कृष्णाष्टमी तक ऐन्द्रमित्र प्राण का साम्राज्य है। यह देवताओं का अह और पितरों की रात्रि है। कृष्णाष्टमी से शुक्लाष्टमी पर्यन्त आप्य वरुण प्राण का साम्राज्य है। यह पश्चिम कपाल है। यह देवताओं की रात्रि और पितरों का अह है।

याम्योत्तर रेखा उत्तर गोल के मध्य से दक्षिण गोलके मध्य पर्यन्त पूर्व पश्चिम कपालको बाँट रही है—आधा उत्तर गोल आधा दक्षिण गोल। यह इन्द्र मित्र प्राण से युक्त है। यही देवताओं का अह है तथा पितरों की रात्रि है। इसके दूसरी ओर विपरीत स्थिति है।

अङ्गिरा धारा तेजोधारा है। इसका प्रारम्भ सातवें मन्वन्तर के समाप्त होने पर होता है। सातवें मन्वन्तर के समाप्त होने पर अह का विकास समाप्त हो जाता है और ब्रह्मा की रात्रि प्रारम्भ हो जाती है। इसके विपरीत ब्रह्माका दिन है।

इस सम्बन्ध में अनेक श्रुति प्रमाण हैं—

ऐन्द्रमह (तैब्रा १/१/४/३)

मैत्र वा अह (तैब्रा १/७/१०/१)

रात्रिर्वरुण (ऐब्रा ४/१०)

वारुणी रात्रि (तैब्रा १/७/१०/१)

अहरेवाग्नये (शतपथ ब्राह्मण १ का ६/३/२४)

यच्छुक्ल तदाग्नेयम् (शतपथ ब्राह्मण १ का ६/३/४१)

सौम्या रात्रि (शतपथ ब्राह्मण १/६/३/२४)

यत् कृष्ण तत्सौम्यम् (शतपथ ब्राह्मण १/६/३/४१)

यज्ञ का सम्बन्ध काल से है। अहोरात्र से अग्निहोत्र जुडा है। पक्ष से दर्शपौर्णमास ऋतु से चातुर्मास्य और अयन से पशुबन्ध।

अह का सम्बन्ध वाज से है रात्रि का आप से। वाज का अर्थ है भूत शरीरका धारण करने वाला प्राण।

अहारात्र पर आयु का परिमाण आधारित है। मनुष्य की आयु १०० वर्ष है। मनुष्य का एक वर्ष देवताओं का एक अहारात्र है। उसी परिमाण से देवताओं की आयु भी सौ वर्ष है। बारह सौ दिव्यवर्षों का एक खण्ड दिव्य युग है और दो हजार दिव्य युगों का एक महा दिव्य युग। ये एक महादिव्य युग ही ब्रह्मा का एक अहोरात्र है। सौ ब्राह्मण वर्षों का एक ब्राह्मण युग है और हजार ब्राह्मण युगों का एक विश्वेश्वर युग है। इस विश्वेश्वर युग का सम्बन्ध महामायी महेश्वर से है। ब्राह्मण का सम्बन्ध योगमायी विश्वेश्वर से है। दिव्य युग का सम्बन्ध सवत्सर मूर्ति उपेश्वर से है और मानुष युग का सम्बन्ध सवत्सर प्रतिमान भूत मानव से है।

सशयवाद

सृष्टि के सम्बन्ध में इतने सारे मत आने का यह परिणाम हुआ कि इन सभी मतों के सम्बन्ध में सशय हो गया। इस सशय के दो रूप है। प्रथम निश्चयात्मक सशयवाद दूसरा अनिश्चयात्मक सशयवाद। निश्चयात्मक सशयवाद में यह भाव रहता है कि कोई कारण है तो अवश्य किन्तु हम उसे जान नही सकते। अनिश्चयात्मक सशयवाद में यह भी निश्चय नही रहता कि विश्व का मूल कारण है या नही।

जिस प्रकार विश्व का मूल सन्दिग्ध है विश्व का तूल भी सन्दिग्ध है। विश्व का क्या स्वरूप है यह भी निश्चित रूप से नही जाना जा सकता। इसलिये वैदिक ऋषि सशय की भाषा में बोल उठता है—*न त विदाथ य इमा जजान*(ऋक् सहिता १० ८२७) । स्वय नासदीय सूक्त के छठे और सातवें मन्त्र में इसी सशयवाद की चर्चा है—*योऽस्याध्यक्ष परमे व्योमन्सो अङ्गवेद यदि वा न* वेद(ऋक् सहिता १० १२९) ।

सशयवाद का अर्थ है निश्चय न कर पाना कि सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई। बौद्धों ने इस प्रश्न को अव्याकृत मानते हुए विचार भी नही किया कि सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई। जैनों ने सृष्टि को अनादि अनन्त मान लिया। वेद में अनेक ऐसे प्रसङ्ग हैं जहाँ सृष्टि के मूल के सम्बन्ध में सशय अभिव्यक्त किया गया है। आत्मा परमात्मा परलोक कर्मफल इत्यादि अनेक दर्शन के ऐसे विषय हैं जिनमें आज भी सशय बना हुआ है।

इन सब वादों का अतिक्रमण करके ही वैदिक ऋषि सिद्धान्तवाद तक पहुँचा था जिस सिद्धान्तवाद में सृष्टि के उद्भव और विकास का व्यवस्थित रूप दिया है। स्वयम्भू ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्या दी। यह सत्य है कि सृष्टि के गर्भ में अनेक प्रकार के कार्य कारण भाव हैं। किन्तु सृष्टि का मूल कारण क्या है। यह खोज करने में हमें सृष्टि का मूल कारण सृष्टि की सीमा के भीतर नही बल्कि सृष्टि की सीमा के बाहर खोजना होगा। मूल कारण अनेक नहीं बल्कि एक ही है। नासदीय सूक्त में सृष्टि के उन समस्त कारणों का निषेध किया गया है जिन्हें पूर्व पक्ष रूप में हमने ऊपर प्रस्तुत किया है। ये सभी पूर्व पक्ष ब्रह्मवाद से जुडकर सार्थक सिद्ध हो जाते हैं। वास्तविक सख्या एक ही है। एक से अधिक की सख्या भातिसिद्ध है सत्ता सिद्ध

नहीं है। इसलिय सृष्टि क कारण क रूप में एक कारण का प्रतिपादन होना चाहिय एक स अधिक कारणों का नही।

जिन सिद्धान्ता का उल्लेख हमने ऊपर वैदिक साहित्य के आधार पर किया है व ही सिद्धान्त गीता में भी ज्यों का त्यों स्थिति में उपलब्ध हैं। ब्रह्म और कर्म विषयक सिद्धान्त का लकर ही गीता न हमार जीवन का भी मार्ग दर्शन किया है।

सृष्टि का मूल कारण अव्यय पुरुष है जिसकी पाँच कलाए हैं—आनन्द विज्ञान मन प्राण और वाक्। इनमें आनन्द विज्ञान और मन विद्या रूप हैं। मन प्राण और वाक् वीर्य रूप हैं। विद्या मोक्ष का कारण है वीर्य सृष्टि का। इस प्रकार ब्रह्म की दो मूर्तियाँ हैं। ब्रह्म शब्द निरुपाधिक है निरपेक्ष है। आत्मा शब्द सापाधिक है सापेक्ष है। इसलिये आत्मा को शरीर चाहिए। इसलिये ही हम आत्मा शब्द को सुनकर यह सदा पूछते हैं कि किसकी आत्मा। किन्तु ब्रह्म क सम्बन्ध में यह प्रश्न नही करते कि किसका ब्रह्म। जो निरपेक्ष ब्रह्म को सापेक्ष आत्मा में बदल देती है वह माया है। इस माया क दो रूप हैं—योगमाया और महामाया। महामाया का सम्बन्ध समष्टि स है योगमाया का सम्बन्ध व्यष्टि से है। इसलिय महामाया एक है योग माया अनेक है। जो महामाया से अवच्छिन्न है वह ईश्वर है। जो योग माया स अवच्छिन्न है वह जीव है। विश्व का नाम विश्व इसीलिय है कि उसमें आत्मा प्रविष्ट है। यह समस्त विश्व ईश्वर का शरीर है। इसलिय ईश्वर का अन्तर्जगत् है यद्यपि हमारे लिये यह बहिर्जगत् है। जीव ईश्वर में है किन्तु ईश्वर जीव में नही है। ईश्वर व्यापक है जीव व्याप्य।

दूसरे अध्याय के अन्तर्गत ब्रह्माधिकरण में हमने इस ब्रह्मवाद का ही वर्णन वैदिक आधार पर किया है। उस ब्रह्मवाद से जोडकर देखे जाने पर उपर्युक्त दशवाद सृष्टिविद्या के प्रति एक वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं। इसी दृष्टि से इन दशवादों का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया। विस्तार से जानने की इच्छा रखने वालों को वैदिक साहित्य के अतिरिक्त पण्डित मधुसूदन ओझा तथा पण्डित मोतीलाल शास्त्री का एतद् विषयक साहित्य देखना चाहिए।

उपसहार

वेद-विज्ञान के भावी अध्ययन की दिशाये

पण्डित मधुसूदन आझा तथा उनके शिष्य पण्डित मातीलालजी शास्त्री नामक दो विद्वानों ने सम्पूर्ण वैदिक वाडमय का आलोडन करके जो विशाल साहित्य लिखा उसी स प्रेरणा लकर हमन छह अध्यायों क अन्तर्गत जीव ब्रह्म जगत्, कर्म तथा तत्त्ववेद दवता के महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला है। इन सभी विषयों की चर्चा प्राचीन काल में भी हुई है आधुनिक काल में भा पूर्व तथा पश्चिम के विद्वानों ने इन विषयों पर अपनी लेखनी चलायी है। अपने अध्ययन क आधार पर हम जिन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं उनका यहाँ सक्षिप्त उल्लेख करना उचित होगा—

(१) आधुनिक ज्ञान विज्ञान के विकास का श्रेय मुख्यत उन पश्चिमी विद्वानों को जाता है जो भारत के प्राचीन ऋषियों के समान ही निरन्तर तपस्या के बल पर नित्य नूतन तथ्यों की गवेषणा में निरत रहे। आज उस पश्चिमी ज्ञान विज्ञान क विस्तार ने पूरे विश्व को अभिभूत कर लिया है। उस ज्ञान विज्ञान को पूरा सम्मान देते हुए भी हमारी मान्यता है कि प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने जो ज्ञान विज्ञान की प्रगति की थी उसकी उपेक्षा नही की जानी चाहिये। हमारी इस मान्यता का कारण यह नही है कि हम स्वय भारतीय होने के नाते भारतीय दृष्टि क प्रमी हैं प्रत्युत हम यह अनुभव करते हैं कि भारतीय दृष्टिकोण पूरी मानव जाति के लिये अत्यन्त हितकारी सिद्ध हो सकता है।

(२) दर्शन क क्षेत्र में भारतीय चिन्तन को अनेक विद्वानों ने रेखाङ्कित किया है आर विज्ञान क क्षेत्र में भी भारतीयों की उपलब्धियों को अनेक विद्वान् प्रकाश में लाये हैं। इसके बावजूद दशन तथा विज्ञान इन दोनों ही क्षेत्रों में भारतीय दृष्टि को नये सिरे से देखने की आवश्यकता है। क्योंकि यद्यपि मनु की यह घोषणा कि सब कुछ वेद से ही उद्भूत हुआ है—सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति—सर्वविदित है तथापि दुर्भाग्यवश भारतीय दर्शन तथा विज्ञान को वेदों से जाड कर दखने का गम्भीर प्रयत्न नही हुआ।

(३) आज शिक्षा व्याकरण ज्योतिष कल्प छन्द तथा निरुक्त नामक वेदाङ्गों तथा आयुर्वेद सङ्गीत धनुर्वेद एव शिल्पवेद जैस उपवेदों का जा भी थोडा बहुत अध्ययन प्रचलित है उसे वेदों

स स्यात् ही ठीक से जोडा जाता हो। उदाहरणत व्याकरण के अध्येता व्याकरण के अध्ययन के प्रयोजन बतलाते समय वेदाङ्गों में व्याकरण को वेदों का मुख बताकर—*मुख व्याकरण स्मृतम्*—अपने कर्तव्य का इतिश्री मान लेत हैं किन्तु कितने वैयाकरण आज यह कह सकते हैं कि उन्होंने अपने व्याकरण ज्ञान का उपयोग वेदों के रहस्य को उद्घाटित करने में किया है? दूसरी ओर अपने आप को वैदिक कहने वाले पण्डित इस बात का अत्यन्त गर्व करते हैं कि वे जो सस्वर वेदपाठ की परम्परा को सुरक्षित रख पा रहे हैं उसका कारण उनका वेद क प्रति एकनिष्ठा का भाव है और इसलिये व व्याकरण निरुक्त आदि अन्यान्य शास्त्रों में अपना ध्यान देना उचित नहीं समझते। अङ्ग और अङ्गी के बीच इस सम्बन्ध विच्छेद की स्थिति को हम व्याकरण और वेद दोनों के ही लिये अहितकर मानते हैं।

(४) कहने की आवश्यकता नहीं है जो स्थिति व्याकरण की है ज्योतिष जैसी अर्थकरी विद्या की भी वही स्थिति है। ज्योतिष को वेदों का चक्षु बताया गया है। क्या ज्योतिष के बल पर अच्छी खासी सम्पत्ति जुटा लेने वाले ज्योतिषी कभी उस वेदपुरुष की ओर आँख उठाकर भी देखते हैं जिस वेदपुरुष का ज्योतिष को चक्षु माना जाता है? हमारा मानना है कि वेद से विच्छिन्न होने क कारण ही इन वेदाङ्गों का विकास अवरुद्ध हो गया है। कोई भी अङ्ग अङ्गी से पृथक् होकर भला कैसे विकास कर सकता है?

(५) समस्त वेदाङ्गों में निरुक्त अब भी वेद से जुडा हुआ है। इसका सुपरिणाम भी हमारे सामने है। वेद स जुडकर निर्वचन की कला एक अत्यन्त विकसित भाषाविज्ञान का अन्तर्राष्ट्रीय रूप ले चुकी है जबकि ज्योतिष जैसे विज्ञान का विश्वविद्यालयीय क्षेत्र में कोई विज्ञान मानने के लिये भी तैयार नहीं है। वेद विज्ञान की जड स कटकर ज्योतिष अन्धविश्वास की तथा कर्मकाण्ड रूढिवाद की श्रेणी में आ चुका है।

(६) दूसरी ओर आयुर्वेद जैसे उपवेद की स्थिति यह है कि आयुर्वेद पढने वालों के लिये उस आधुनिक विज्ञान का ज्ञान तो आवश्यक माना जाता है जिस आधुनिक विज्ञान के आधार पर आयुर्वेद के सिद्धान्त बने ही नहीं है। किन्तु जिस वेदविज्ञान के आधार पर आयुर्वेद के सिद्धान्तों का भवन खडा हुआ है उस वेदविज्ञान का सामान्य परिचय भी आयुर्वेद के छात्रों को देना अनावश्यक समझा जाता है। आधुनिक विज्ञान आयुर्वेद से असम्बद्ध है इतना ही नहीं है प्रत्युत आयुर्वेद की समग्र दृष्टि का आधुनिक विज्ञान की खण्डित दृष्टि से अन्तर्विरोध भी है। हमने प्रस्तुत ग्रन्थ में शरीर निर्माण की जिस प्रक्रिया का चरक के आधार पर वर्णन किया है। आधुनिक वैज्ञानिक इस प्रक्रिया को अवैज्ञानिक घोषित कर रहे हैं। सोचना चाहिये कि जिस विज्ञान क अनुसार चरक की प्रक्रिया ठीक हा नहीं है उस विज्ञान को पढ कर चरक पढने वाला विद्यार्थी चरक के प्रति कैसे निष्ठावान् होगा? परिणाम हमारे सम्मुख है। आज के नये वैद्य की पूरी निष्ठा एलोपैथी में हो गयी है और इसके लिये अधिकृत न होने पर भी वह खुल्लमखुल्ला अथवा छिपाकर एलोपैथी की औषधियों का प्रयोग धडल्ले से कर रहा है। शुद्ध आयुर्वेदिक पद्धति स चिकित्सा करने वाला वैद्य मिलना दुर्लभ होता जा रहा है। आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना जाता है। अथर्ववेद को वे

परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रत' जैसे अनेक मन्त्रों में आयुर्वेदिक सिद्धान्तों का सारगर्भित उल्लेख है किन्तु न वैद्यों का ध्यान इस ओर जाता है न ही वैदिक विद्वानों का।

(७) आज यह प्रश्न बारम्बार पूछा जा रहा है कि वेद का उपयोग क्या है। अपने वेदविद्या प्रवेशिका नामक ग्रन्थ में विवेचित इस प्रश्न के उत्तर को हम यहाँ पुनः संक्षेप में दोहराना चाहेंगे। योग एक बात है और उपयोग दूसरी बात है। खेतों के लिये खेत में धूप और हवा भी चाहिये तथा खाद भी चाहिये। धूप और हवा का खेतों में योग है खाद का उपयोग है जरूरी दोनों हैं। किसी भी कार्य की सिद्धि में वेद का योग होता है उपवेद का उपयोग होता है दोनों में से यदि कोई एक न रहे तो कार्यसिद्धि उसी प्रकार बाधित हो जाती है जिस प्रकार धूप हवा तथा खाद में से किसी भी एक के न रहने पर फसल नहीं पनप पाती। आधुनिक भाषा में कहें तो वेद विशुद्ध विज्ञान (pure science) है उपवेद प्रायोगिक विज्ञान (applied science) है। दोनों की एक दूसरे के बिना जो दुर्गति हो रही है वह सबके सामने है। वेद उपवेद से हट कर अनुपयोगी हो गये हैं उपवेद वेद से कटकर अपना विकास अवरुद्ध कर चुके हैं। हमारा विश्वास है कि यदि आयुर्वेद जैसे उपवेद पुनः वेदविज्ञान को अपना आधार बनाकर चलें तो इनका द्रुतगति से विकासमार्ग पुनः खुल जायेगा और ऐसी नयी नयी चिकित्सायें सामने आयेंगी जो मानवता के लिये अत्यन्त कल्याणप्रद सिद्ध होंगी। डा फ्रिटजाफ कापरा ने 'दी टर्निंग प्वाइण्ट' के चिकित्सा सम्बन्धी अध्याय में भारतीय चिकित्सापद्धति की भूरि भूरि प्रशंसा की है किन्तु आयुर्वेद वेदविज्ञान के बिना अपना पूरा वैभव प्रकट नहीं कर पा रहा है।

(८) वेद विज्ञान की उपेक्षा के बावजूद जो पुरानी विद्यायें अपने बल पर इस दशक में ही उभर कर आयी हैं इनमें एक है—वैदिक गणित। वैदिक गणित की धाक आज पूरे विश्व में व्याप्त हो चुकी है। एक आपत्ति यह की जा रही है कि वैदिक गणित का आधार वेद में नहीं है। यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। यह बात सर्वमान्य है कि शून्य तथा दशमलव प्रणाली का आविष्कार भारत में हुआ। इनमें से शून्य शब्द को लें तो यह शब्द वेद के 'श्वान्' शब्द से निकला है। 'श्वान्' इन्द्र का वह स्वरूप है जो शून्य स्थान (Vacume) में व्याप्त रहता है। वेद विज्ञान के अनुसार प्रकृति में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ कुछ न हो। जहाँ कुछ नहीं है वहाँ भी 'श्वान्' नामक इन्द्र है। इसी आधार पर उस स्थान को 'शून्य' कहा जाता है। शून्य का अर्थ अभाव नहीं है उसकी भी अपनी एक सत्ता है। इसी वैदिक अवधारणा पर गणित में शून्य का आविष्कार हो सका जो स्वयं कुछ न हो कर भी गणित का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्क बन गया। इसीलिये रोम की अङ्क लिखने की अत्यन्त जटिल रोमन प्रणाली के स्थान पर वह सरल प्रणाली आ सकी जिसमें दश के अङ्क को एक के बाद शून्य लगा कर लिखा गया। इस नयी प्रणाली को लोगों ने भारत से सीखा और इसी आधार पर अङ्कों को हिन्दसा (हिन्दुस्तान से आया हुआ) कहना चालू किया। अरब से यह प्रणाली यूरोप पहुँची तो यूरोप वालों ने इसे अरबी (Arabic) अङ्क नाम दिया। वर्तमान में वैदिक गणित पर अनुसन्धान करने वाले विद्वान् भी यदि वेद विज्ञान का अध्ययन करें तो उनका अनुसन्धान

नये आयामों को उद्घाटित करने वाला होगा।

(९) एक दूसरी विद्या जो इस दशक में उभरी वह है—वास्तुविद्या। वैदिक दिक् देश काल मीमांसा पर आधृत यह विद्या भी तेजी से लोकप्रिय हो रही है। कुछ अभियन्ता इस ओर अपना ध्यान दे रहे हैं। यह विद्या पूर्णत वेद विज्ञान पर टिकी है। प्रत्येक दिशा का अपना दवता है—पूर्व का अग्नि उत्तर का सोम पश्चिम का वरुण दक्षिण का यम इत्यादि। य सभी दव प्राण हैं। गृह निमाण क समय यदि इस दिग्दवता ज्ञान का ध्यान में रखा जाये ना गृहस्वामी क अभ्युदय का कारण बनना है।

वास्तुविद्या का एक रोचक उदाहरण अभी सामन आया। एक वास्तुविद् ने एक गृहस्वामी स कहा कि आपका घर वास्तुविद्या के अनुसार नही बना है इसे तुडवा कर दुबारा बनवायें। गृहस्वामी ने कहा कि यह घर तो एक वास्तुविद् की देखरेख में ही बना है आप इसे गलत कैसे बता रह हैं? वह वास्तुविद् कोई कारण न बताकर केवल यही कहता रहा कि यह गलत है। प्रश्न हाता है कि यदि वास्तुविदों में विरोध हो जायें तो शुद्धाशुद्ध का निणय कौन कर? उत्तर यह है कि वास्तुशास्त्र भी एक उपवद ही है। सन्दह की स्थिति में उसे वेद को ही शरण में जाना होगा। वस्तुत अनेक भारतीय विद्याओं का यह दाप है कि वे गुरुशिष्य परम्परा स केवल श्रद्धा के बल पर चल रही हैं कारणकार्य सम्बन्ध मूलक विज्ञान के आधार पर नही। श्रद्धा आवश्यक है किन्तु तर्क का भी अपना स्थान है। भारतीय विद्याओं को तार्किक आधार वेदविज्ञान प्रदान करता है। वेदविज्ञान के तार्किक आधार क बिना सभी भारतीय विद्यायें अन्ततोगत्वा विज्ञान न रह कर अन्धविश्वास में परिणत हो जाती हैं।

(१०) हमने ऊपर विज्ञान की चर्चा की है। इसी प्रकार दर्शन की स्थिति भी देखनी चाहिय। भारत में छ दर्शन स्वय को वैदिक मानते हैं। यह भी सर्वविदित है कि इन छ दर्शनों का परस्पर पुराना विवाद है। प्रश्न हाता है कि यदि ये सभी दर्शन वैदिक हैं तो इनका परस्पर विवाद क्यों? इन दर्शनों में कौन सा दर्शन ठीक तथा कौन सा गलत है?

वेदविज्ञान की सृष्टिविद्या को देखें तो सृष्टि में त्रिविध पुरुषों का योगदान है—अव्यय अक्षर तथा क्षर। गीता ने इन तीनों का स्पष्ट उल्लेख किया है। जैसा कि नाम स ही स्पष्ट है दर्शन दृष्टि का पर्यायवाची है। देखने की हमारी तीन दृष्टियाँ हो सकती हैं—अव्ययपुरुष की दृष्टि अक्षर की दृष्टि क्षर की दृष्टि। अत तीन ही दर्शन हाग। अव्यय की दृष्टि वेदान्त है अक्षर की दृष्टि साङ्ख्य तथा क्षर की दृष्टि वैशेषिक। वदान्त तथा मीमासा समानतन्त्र हैं—एक उत्तर मीमासा है एक पूर्व मीमासा। साङ्ख्य तथा योग समानतन्त्र हैं—*साङ्ख्ययोगौ पृथग्बाला प्रवदन्ति न पण्डिता*। न्यायवैशेषिक की समानतन्त्रीयता तो प्रसिद्ध है ही। इस प्रकार इन छहों दर्शनों में न परस्पर कोई विरोध है न इनका अपने आप को वैदिक मानने का दावा गलत है। वेदविज्ञान क आलोक में न केवल इन छह वैदिक दर्शनों का प्रत्युत उन दर्शनों का भी पुनर्मूल्याङ्कन अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है जो स्वय को अवैदिक घोषित करते हैं। इस प्रकार वेदविज्ञान समस्त चिन्तन धाराओं के बीच एकसूत्रता स्थापित करके राष्ट्र की भावनात्मक एकता में अत्यन्त सहायक बन सकता है।

(११) यह युग भूमण्डलीकरण का है। आर्थिक अथवा व्यापारिक भूमण्डलीकरण की एक आवश्यकता वैचारिक भूमण्डलीकरण भी है। वेदविज्ञान जिन पृथ्वी अन्तरिक्ष तथा द्युलोक अथवा अग्नि वायु तथा आदित्य की मूलभूत अवधारणाओं पर टिका है व सार्वदेशिक और सार्वकालिक होने के कारण इस भूमण्डलीकरण के युग में सर्वाधिक उपयुक्त हैं। यदि हमने उनका सहारा लिया तभी हमारा विजयी विश्व तिरङ्गा प्यारा गाना अन्वर्थक होगा। तथा यह बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के माध्यम से होने वाले अपसंस्कृति के प्रवेश को रोक सकेगा।

(१२) वैदिकदृष्टि की सर्वाङ्गीणता सबका अपने में समट लेने के कारण सर्वग्राही भी है और सर्वमाह्य भी। शरीर को अर्थ, मन को काम बुद्धि को धर्म तथा आत्मा को मोक्ष मिले तो फिर किसी को और क्या चाहिये? इस चतुर्वर्गफलप्राप्ति का आश्वासन वेद के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ है? आश्वासन की बात तो दूर इन चारों की स्वीकृति भी कहाँ है? जहाँ अर्थ काम की स्वीकृति है तो वहाँ धर्म मोक्ष का ढकोसला बताया जाता है और जहाँ धर्म मोक्ष की स्वीकृति है वहाँ अर्थ काम को बन्धन का कारण घोषित किया जा रहा है। पूर्ण मनुष्य की स्वीकृति ही वेद के अतिरिक्त कहीं नहीं है तो फिर पूर्णता की प्राप्ति का प्रश्न कहाँ है? जहाँ पूर्णता नहीं वहाँ सुख भी नहीं है—*भूमा वै सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति*।

(१३) भूतविज्ञान ने जो उन्नति की उससे हम चमत्कृत होते रहे। आज पर्यावरण की समस्या को लेकर हमारा मोह भङ्ग हो गया है। यज्ञविज्ञान के आधार पर एक ऐसी अर्थनीति अपनानी होगा जो विकास और प्राकृतिक सन्तुलन के बीच की खाई को पाट सके। यह दिशा वेद के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिल पायेगी। हम यज्ञशेष प्रवर्ग्य का भोग करें—*तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा* बहौदन का लालच न करें—*मा गृध कस्यस्विद्धनम्*।

(१४) चार वेदों की चतुर्मुखता को लेकर ही अर्थशास्त्र समाजशास्त्र न्यायशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र का निर्माण करना होगा। ऋग्वेद का अग्निदेव समाज में श्रमिक का परिवार में बालक का तथा व्यष्टि में शरीर का रक्षक है यजुर्वेद का वायुदेव समाज में व्यापारी का परिवार में स्त्री वर्ग का तथा व्यष्टि में मन का सञ्चालक है सामवेद का आदित्य देव समाज में प्रशासक का परिवार में युवकों का तथा व्यष्टि में बुद्धि का मार्गदर्शक है तथा अथर्ववेद का सोमदेव समाज में बुद्धिजीवियों का परिवार में वृद्धों का तथा व्यष्टि में आत्मा का तर्पयिता है। इस चतुर्मुखा दृष्टि को लेकर ऋग्वेद से कर्म यजुर्वेद से गतिशीलता सामवेद से विवेक और अथर्ववेद से आनन्द का भाव लेकर एक समन्वित राजनीति अर्थनीति तथा समाजनीति अपनानी होगी। वेदविज्ञान तत्तत् शास्त्रविदों को इस दिशा में महत्त्वपूर्ण सङ्केत दे सकता है। विशेषज्ञों को अपनी प्रतिभा के बल पर उपबृंहण करना होगा। श्रुति शाश्वत सत्य को कहती है उस सत्य की युगानुकूल व्याख्या स्मृतिकार करते हैं। वेदविज्ञान को आधार बनाकर नवस्मृति निर्मित करने का समय आ गया है।

(१५) ज्ञान का स्वर है—अपने को जानो। विज्ञान का स्वर है—विश्व को जाना। वेद का स्वर है—जो अपने को जानता है वही विश्व का जान सकता है और जो विश्व को जानता है वही अपने का जान सकता है क्योंकि जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है और जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड मे है। फलितार्थ यह हुआ कि ज्ञान और विज्ञान दोनों को जानना चाहिये—*विद्याञ्चाविद्याञ्च*। कठिनाई यह है कि आपाततः ज्ञान और विज्ञान परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। इस विरोध का परिहार ही वेद का केन्द्रबिन्दु है। इस विरोध के परिहार बिना अद्वैत की सिद्धि नहीं होती और एकत्व की सिद्धि ही तो मोह और शोक के पार जाने का एकमात्र उपाय है—*तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत*।

(१६) ऐसी ही कुछ उदात्त भावनाओं के वशीभूत होकर शास्त्रों का तथा पण्डित मधुसूदन ओझा और पण्डित मोतीलालजी शास्त्री का उच्छिष्ट हमने इस कृति में सजाया है किन्तु ब्रह्मकल्प इन ऋषियों का उच्छिष्टभोजी बनने में हमें कोई सङ्कोच इसलिये नहीं हुआ कि यह सब कुछ ब्रह्म के उच्छिष्ट से ही तो बना है—*उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वम्*।

(१७) सच यह है कि वेदविज्ञान का विषय वैदिक उषा के समान चिरन्तन होते हुए भी नवीन है। इस शताब्दी में प्रारम्भ में पण्डित मधुसूदन ओझा ने तथा उनके शिष्य पण्डित मोतीलाल जी शास्त्री ने जो अभूतपूर्व कार्य किया वह वेदविज्ञान का प्रारम्भिक रूप ही कहा जायेगा। पिछले दशक में श्री कर्पूरचन्द्र जी कुलिश न इन दोनों विद्वानों के विस्मृत कार्य को पुन उजागर किया। उस पर भी यह आपत्ति निरन्तर आती रही है कि यह विषय अन्यन्त दुरूह है। इस विषय की उपयोगिता पर भी प्रश्नचिह्न लगते रहे हैं। जहाँ तक विषय की दुरूहता का प्रश्न है यह स्पष्ट है कि यह विषय प्राचीन तथा अर्वाचीन अन्याय शास्त्रों के समान ही एक शास्त्र है। चाहे पाणिनीयव्याकरण जसा प्राचीनशास्त्र हो चाहे भौतिकी जसा आधुनिक शास्त्र वह बोधगम्य होन के लिये एक अनुशासित अध्ययन की अपेक्षा रखता है। उस अनुशासित अध्ययन के बिना ही वेदविज्ञान का समझने की अपेक्षा करना क्या युक्तिसङ्गत होगा? उस अनुशासित अध्ययन का प्रवेशद्वार बन सके—इसी आशा से यह ग्रन्थ लिखा गया है। रही बात उपयोगिता की। उसके लिय अनेकानेक विषयों के विद्वानों को अपने अपने क्षेत्र में एक टीम बनाकर कार्य करना होगा। पश्चिमी विज्ञान भी अपने समस्त चमत्कार एक दिन में नही ले आया था। सकडों वर्षों की हजारों लोगों की मेहनत उसके पीछे है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जितना श्रम जितने लागों ने पश्चिमी विज्ञान के लिये किया है उसका शतांश भी श्रम वेदविज्ञान के लिये किया गया तो यह पश्चिमी विज्ञान से शत गुणित अधिक फलदायी सिद्ध होगा। *तथास्तु*

पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात् पूणमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

वेद विज्ञान के भावी अध्ययन की दिशायें

(१) ज्ञान का स्वर है—अपने को जानो। विज्ञान का स्वर है—विश्व को जानो। वेद का स्वर है—जो अपने को जानता है वह विश्व को जान सकता है और जो विश्व को जानता है वही अपने को जान सकता है क्योंकि जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है और जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है। फलितार्थ यह हुआ कि ज्ञान और विज्ञान दोनों को जानना है—विद्यां चाविद्यां च। कठिनाई यह है कि आपाततः ज्ञान और विज्ञान परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। इस विरोध का परिहार ही वेद का केन्द्रबिन्दु है। इस विरोध के परिहार बिना अद्वैत की सिद्धि नहीं होती और एकत्व की सिद्धि ही तो मोह और शोक के पार जाने का एकमात्र उपाय है—तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।

ऐसी ही कुछ उदात्त भावनाओं के वशीभूत होकर शास्त्रों का तथा पण्डित मधुसूदन ओझा और पण्डित मोतीलाल शास्त्री का उच्छिष्ट हमने इस कृति में संजोया है किन्तु ब्रह्मकल्प इन ऋषियों का उच्छिष्ट भोजी बनने में हमें कोई संकोच इसलिए नहीं हुआ कि यह सब कुछ ब्रह्म के उच्छिष्ट से ही तो बना है—उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वम्।

(२) सच यह है कि वेदविज्ञान का विषय वैदिक उषा के समान चिरन्तन होते हुए भी नवीन है। इस शताब्दी के प्रारम्भ में पण्डित मधुसूदन ओझा ने तथा उनके शिष्य पण्डित मोतीलाल जी शास्त्री ने जो अभूतपूर्व कार्य किया वह वेदविज्ञान का प्रारम्भिक रूप ही कहा जायगा। पिछले दशक में श्री कर्पूरचन्द जी कुलिश ने इन दोनों विद्वानों के विस्मृत कार्य को पुनः उजागर किया। उस पर भी यह आपत्ति निरन्तर आती रही है कि यह विषय अत्यन्त दुरूह है। इस विषय की उपयोगिता पर भी प्रश्नचिह्न लगते रहे हैं। जहां तक विषय की दुरूहता का प्रश्न है यह स्पष्ट है कि यह विषय प्राचीन तथा अर्वाचीन अन्याय शास्त्रों के समान ही एक शास्त्र है। वह परिनिष्ठित करने जैसा प्राचीनशास्त्र हो चाहे भौतिकी जैसा आधुनिक शास्त्र सभी के समझने के लिये एक अनुशासित अध्ययन की अपेक्षा रखता है। उस अनुशासित अध्ययन के बिना ही वेदविज्ञान को समझने की अपेक्षा करना क्या युक्तिसङ्गत होगा? उस अनुशासित अध्ययन का प्रवेशद्वार बन सके—इसी आशा से यह ग्रन्थ लिखा गया है। रही बात उपयोगिता की। उसके लिये अनेकानेक विषयों के विद्वानों को अपने अपने क्षेत्र में एक टीम बनाकर कार्य करना होगा। पश्चिमी विज्ञान भी अपने वर्तमान रूप में एक दिन में नहीं आ सका था। सैकड़ों वर्षों का हजारों लोगों की मेहनत उसके पीछे है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि जितना श्रम जितने लोगों ने पश्चिमी विज्ञान के लिये किया है उसका शतांश भी श्रम वेदविज्ञान के लिये किया गया तो यह परिश्रम पश्चिमी विज्ञान से कहीं अधिक फलदायी सिद्ध होगा। तथास्तु